संस्थापक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८
जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीविद्यानन्दजी महाराज।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

वर्ष १५ } जनवरी, फरवरी १९५० काशी { अङ्क १-२

ज्ञानी का स्वरूपानुसंधान

क्षर अक्षर के पार विमल सत्ता है मेरी।
अखिल विश्व है तनू ब्रह्म संज्ञा है मेरी॥
प्रणवाक्षर में सभी लोग भजते हैं मुझको।
त्रिगुणा प्रकृति सहित ईश कहते हैं मुझको॥
नित्य सत्य अविकार सनातन चेतन हूँ मैं।
करूँ विश्व निर्माण प्रकृतिसंचालक हूँ मैं॥
जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ निर्द्वन्द्व दशा है मेरी।
तनु से कर्म करूँ आत्मलिप्सा नहीं मेरी॥

प्रकाशकका निवेदन

प्रभुप्रेमी पाठक महानुभावों की सेवा में 'गीताधर्म' का यह वार्षिक विशेषाङ्क ग्रन्थ समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इस विशेषांक द्वारा 'गीताधर्म' पंद्रहवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। गत दो वर्ष से पाठकों के समक्ष हम महान् से महान्, गम्भीर और परमपावन पारमार्थिक साहित्य भेट कर रहे हैं, जो वेदों के मस्तकस्थानीय उपनिषद् नामसे प्रसिद्ध हैं। गीताधर्म का आरम्भिक संकल्पसूत्र यह था कि गीता, रामायण, वेद जैसे मान्य ग्रन्थोंका सरल, सरस, लौकिक भाषमें विस्तार कर प्रकाशन किया जाय। तदनुसार विशाल 'गीतागौरवभाष्य' और 'रामचर्चाभाष्य' व्याख्यानके साथ गीता एवं अध्यात्मरामायण के प्रकाशन द्वारा दो विषयों की यथासाध्य पूर्ति की गई। इतने ही प्रकाशनमें उन दोनों अगाध ग्रन्थों का व्याख्यान पूरा हो जाता हो ऐसी बात नहीं है। फिर भी स्वाध्यायप्रिय जनता के बुद्धिबल, रुचि, अनुकूल अवसर आदिको देखते हुए, उक्त दोनों भाष्योंका प्रकाशन अपूर्व लोकप्रिय हुआ है। क्योंकि उनको जनता ने इतना महत्त्वपूर्ण माना कि हजारों की संख्यामें कई कई बार वे प्रकाशित हुए और हाथों हाथ बिक गये। फिर भी उनके लिए पाठकों की माँग वैसी ही बनी हुई है, एवं उसे कागज—सामग्री की दुर्लभ परिस्थितिके कारण पूरी करना असंभव हो रहा है।

गीता और रामायणके अपूर्व प्रकाशनके बाद दो वर्षसे उपनिषदों का प्रकाशन आरम्भ किया गया है। ईशावास्योपनिषद्से लेकर ऐतरेयोपनिषद् तक आठ उपनिषदोंके रूपमें पहला खण्ड प्रथम प्रकाशित किया गया था। गत वर्ष उन आठ उपनिषदोंकी अग्रवर्ती छान्दोग्योपनिषद् उसी शैली और आकार प्रकारमें प्रकाशित की गई। इस वर्ष क्रमप्राप्त यह बृहदारण्यक उपनिषद् प्रकाशित की जा रही है। इसका कलेवर गत उपनिषदों की अपेक्षा भी अधिक है। अतः विशेषांकका परिमाण इतनेसे ही परिपूर्ण हो जाता था, तो भी उपयोगी समझकर श्वेताश्वतर एवं कौषीतकि उपनिषद् भी साथ ही प्रकाशित की जा रही है।

गीताधर्मसंस्थापक पूज्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज
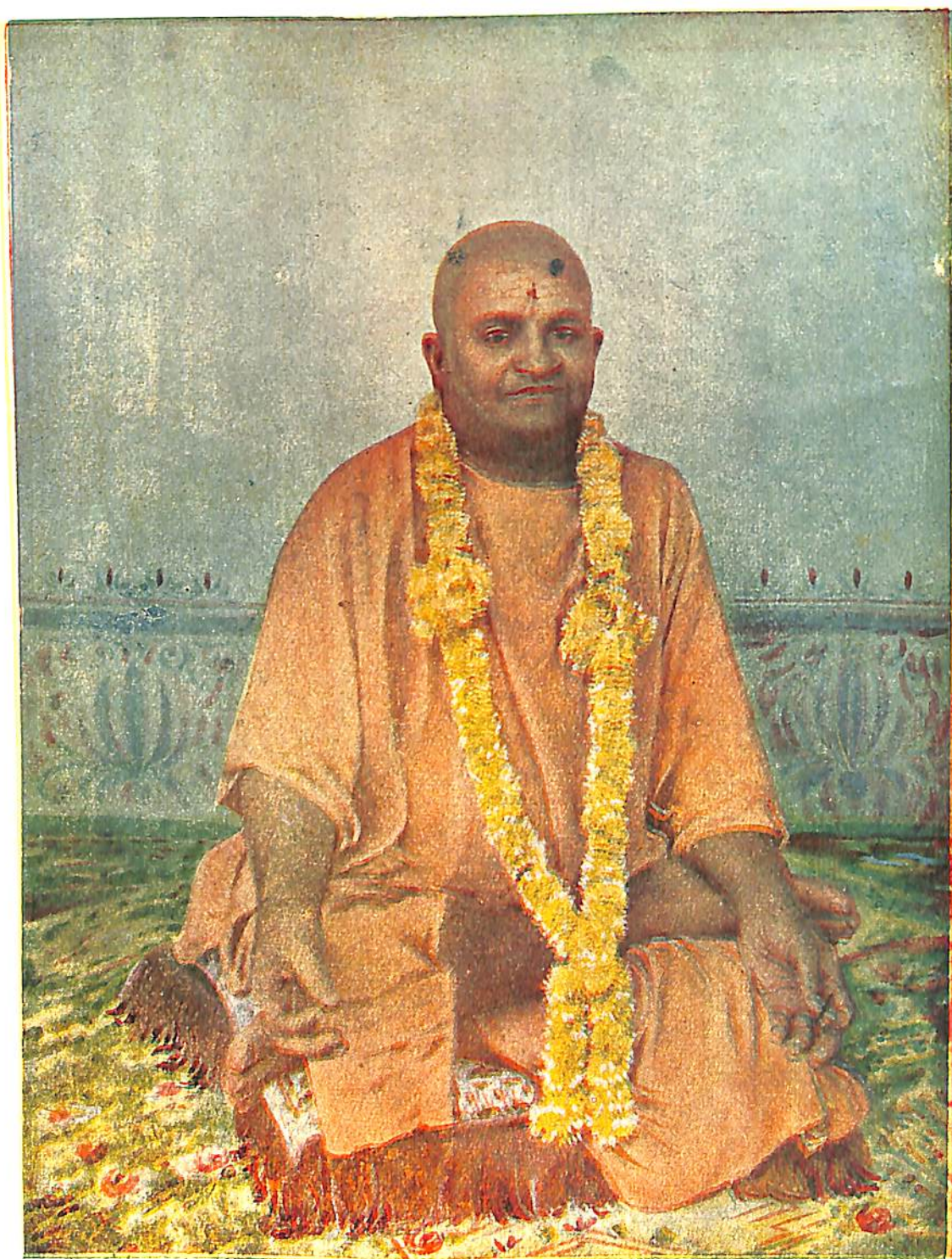
श्रीमन प. प. ब्र. लो. गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज

अपने प्रसिद्ध गीताप्रवचनोंमें स्थल स्थल पर उपनिषदोंके प्रसंग कहा करते हैं। गीता और उपनिषदों का जन्यजनकरूप संबन्ध "सर्वोपनिषदो गावो···दुग्धं गीतामृतं महत्" इस उक्ति से प्रसिद्ध ही है। यह देखकर हमने पूज्य स्वामीजी महाराज से निवेदन किया कि गुरुदेव ! आप अपने उपनिषत्संबन्धी प्रवचनों को आनुपूर्वी क्रम से लिपिबद्ध कराने का सुअवसर दीजिये, जिससे उपनिषत्प्रेमी मुमुक्षु जनता उपकारभागी हो। स्वामीजी महाराज इस प्रार्थनाको स्वीकार कर अपनी जंगमवृत्तिमें से भी समय निकालकर लेखकोंसे इस उपनिषद्भाष्यका पूर्वरूप लिखाने लगे। स्वामीजी महराज के पास गुरुपरंपरासे प्राप्त उपनिषदोंकी अपूर्व व्याख्यानशैली है। क्योंकि आपकी आचार्यपरंपरामें बड़े बड़े वेदान्तशास्त्रवेत्ता संन्यासी महानुभाव हो गये हैं, जैसे स्वामी श्री गोविन्दानन्दजी महाराज, उनके पूर्ववर्ती स्वामी श्री चिद्घनानन्दजी महाराज आदि। उनके निबन्धोंमें स्वामी चिद्घनानन्दजीकी "दशोपनिषद् भाषान्तर" पुस्तक आपको अतिप्रिय है। इस विशेषांकके लेखनमें उक्त पुस्तक, एवं मणिप्रभा, गीता प्रेसके भाष्यानुवादका भी उपयोग किया गया है। उक्त सामग्री तथा स्वानुभवसे प्रसूत इस भाष्यको स्वामीजी महाराजने वेदशास्त्रनिष्णात, वेदमूर्ति, संन्यासीसम्राट् स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज काशीनिवासीकी सेवामें भेजते हुए संशोधित, संस्कृत करा लेनेकी आज्ञा दी। तदनुसार उक्त स्वामीजीकी सहायतासे यह ग्रन्थ "विद्याविनोदभाष्य" के साथ प्रस्तुत हुआ है।

स्वामीजी महाराजके प्रवचन जनताको बड़े ही रुचिकर तथा प्रबोधन करनेवाले होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। इनके द्वारा लोगोंको गंभीर अध्यात्मविषयोंका अध्ययन अनायास हो जाता है। किन्तु प्रवचन करनेकी भाषासे वेदान्तिक भाषा कठिन दुरूह हो ही जाती है। फिर भी स्वामीजी महाराजने लिखाते समय इस अंककी भाषाको सरल सुबोध रखनेका ही प्रयास किया है। तो भी विषयकी गहनतावश क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग करना ही पड़ा है। क्योंकि ऊँचे अध्यात्मविषयको बोलचालकी भाषामें प्रकट करना अशक्य है। साधारण बोलीमें इन बातोंको प्रकट करनेकी योग्यता भी नहीं है।

विशेषाङ्ककी अन्तरङ्ग रचना जिस प्रकार स्वामीजीके बुद्धिवैभवसे पूर्ण हुई है, उसी प्रकार इस की बाह्य रचना भी उन्हीं के आश्रय और आशीर्वाद के भरोसे पर की गई है। क्योंकि छपाईकी सामग्रीकी भाववृद्धि तथा दूसरे व्ययभार वर्षोंसे बेहद बढते जा रहे हैं। इस दशामें ऐसा सर्वाङ्गसुन्दर और पिछले वर्षोंके बराबर ही आकार प्रकार का विशेषांक पाठकोंको भेंट करना हमारी

स्वल्प शक्तिके बाहर है। **इसके लिए गीताधर्मप्रेमी सहृदय सहायकों, आजीवनसदस्यों, सेवाभावी शाखासंचालकों एवं प्रचारक महानुभावोंने जो सहायता और तत्परता दिखाई है, आशा है उनका वैसा ही प्रेम आगे भी बना रहेगा।** ये महानुभाव एवं प्रेमी पाठक दो दो नये ग्राहक बनानेका क्रम उत्साहसे जारी रखें, ऐसी हमारी प्रार्थना है। आशा है इधर ध्यान देकर सब महानुभाव हमारी कठिनाईको कम करनेमें सहायक बनेंगे। इस दृढ आशासे प्रभुकृपाके सहारे पर जैसा कुछ बन पडा, यह विशेषांक पाठकोंकी सेवामें समर्पित है, मानवस्वभाव सुलभ दोषवश और स्वामीजी महाराजके गीताप्रचारार्थ विदेशगमनकी त्वरामें प्रकाशनवश इसमें जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें विज्ञ पाठक क्षमा करते हुए संशोधित करनेके लिए हमें सूचित करनेकी कृपा करेंगे।

इस अवसर पर हम **अपने सभी संरक्षक, सहायक, निष्काम सेवक, प्रचारक माान्य लेखक महानुभावोंके सहयोगका आभार मानते हैं एवं शिष्टाचार परंपरासे उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।** वैसे तो यह पारमार्थिक आयोजन उनका अपना ही है, अतः वे सब गीताधर्मके ही अङ्गभूत हैं। इसी प्रकार अपने सहयोगी पूज्य स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज; भूमिकालेखक विद्वद्वर पं० श्री रामगोविन्द शास्त्री 'गंगा' 'कल्याण' आदि के विशेष संपादक, संपादक मण्डलके बन्धु श्री चिरञ्जीवलाल शास्त्री, विद्यावयोवृद्ध श्री मणिभाई जसभाई देसाई (गुजराती भाषान्तरकार) के हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। साथ ही अपने निकट सहयोगी सभी प्रेसकर्मचारी बन्धुओंके भी हम अत्यन्त आभारी हैं, इनके ही अथक परिश्रम, लगन और हार्दिक प्रेमके बलसे यह विशेषांक इस रूपमें शीघ्र प्रकाशित हो सका है। ये सब सज्जन अपने ही हैं, इनका धन्यवाद अपनी ही प्रशंसाके तुल्य है। अन्तमें हम सबके प्रति यही शुभकामना प्रकट करते हैं कि सब को गीतामति श्री कृष्णप्रभु आयु, आरोग्य, योग क्षेम प्रदान कर अपने भक्त बना लें।

विनम्र—

'गीताधर्म' व्यवस्थापक।

भूमिका

(ले०—संपादकाचार्य पं० श्रीरामगोविन्द शास्त्री त्रिवेदी)

"Brahma or Absolute is grasped and definitely expressed for the first time in the history of humah thought in the Brihadaranyak upanishad".

'मानवीय चिन्तनके इतिहासमें पहले पहल 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में ही ब्रह्म अथवा पूर्ण तत्त्वको ग्रहण कर उसकी यथार्थ व्यजनाकी गई है।'—मैकडानल।

उपनिषद् शब्दके ऊपर ध्यान देनेसे भी प्रसिद्ध वेदाभ्यासी मैकडानलकी उपरिलिखित राय सत्य सिद्ध होती है। 'उप' शब्द का अर्थ समीप है और 'निषद्' का अर्थ बैठनेवाला है। इस तरह जो परमतत्त्व अर्थात् ब्रह्मके समीप पहुँचाकर बैठनेवाला ज्ञान है, उसे 'उपनिषद्' कहते हैं। 'समीप पहुँचाने' का अभिप्राय है ब्रह्ममें विलीन करना और बैठनेवालेका तात्पर्य है सदा स्थिर रहनेवाला। मथितार्थ यह है कि आत्माको ब्रह्मरूपसे प्रतिष्ठित करनेवाले स्थिर ज्ञानको उपनिषद् कहा जाता है। इसीसे इसका एक नाम ब्रह्मविद्या भी है। वस्तुतः उपनिषद्का एक मात्र प्रतिपाद्य ब्रह्म है। ब्रह्म क्या है, ब्रह्ममें विश्वका अध्यास क्योंकर है, ब्रह्म और जीवात्माका भेद कैसे है, ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होती है, ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानका रहस्य क्या है, आत्मा, प्रज्ञात्मा और प्रज्ञान क्या है आदि आदि बातोंका विस्तृत और सूक्ष्म विचार उपनिषदोंमें भरा पड़ा है। किसी भी उपनिषद्को देखा जाय, उसमें आदिसे अन्त तक ब्रह्मविचार ओतप्रोत है। जहाँ देखिये, वहीं ब्रह्मज्ञानके उपदेश हैं—चारो ओर ब्रह्म ही ब्रह्मका रहस्य है। इसीसे उपनिषदोंको ब्रह्मविद्याकी संज्ञा दी गयी है। निस्सन्देह उपनिषदोंमें ज्ञानकी पराकाष्ठा है। उनमें शाश्वत सत्य है। उनमें अनिर्वचनीय पूर्ण तत्त्व है। उनकी दिव्य और भव्य शिक्षासे मानव भव-सागरसे पार पाकर ब्रह्मलीन हो रहता है। उनके प्रत्येक मन्त्रमें ब्रह्मद्रव फूट पड़ा है।

'वेदान्तसार' में सदानन्द योगीन्द्रने ठीक ही कहा है—"वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च" अर्थात् मुख्य और गौण भेदसे वेदान्त शब्दके दो अर्थ हैं—'वेदका अन्त वेदान्त है' इस व्युत्पत्तिसे वेदान्त शब्दका मुख्य

अर्थ उपनिषद्' है (क्योंकि वेदका अन्त भाग उपनिषद् है) और उपनिषद्के अर्थ-बोधके अनुकूल अथवा उसमें सहायक शारीरक सूत्र आदि एवम् उपनिषदर्थसंग्राहक भागवत, गीता आदि गौण अर्थ है। फलतः प्रमुख वेदान्त उपनिषद् ही है। साथ ही वेदका ही अंश होनेसे उपनिषद् वेद भी है। शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिताका अंश वा अन्तिम अध्याय ईशावास्योपनिषद् है और कृष्ण यजुर्वेदीय श्वेताश्वतर संहिताका शेषांश श्वेताश्वतरोपनिषद् है। इसी तरह अनेक उपनिषदें ब्राह्मण ग्रन्थोंके शेषांश हैं। कुछ उपनिषदें आरण्यकोंके अन्तिम भाग हैं, अतएव उपनिषद् वेद और वेदान्त दोनों हैं। इन दोनोंका ही अन्तिम प्रतिपाद्य ब्रह्म है। यही कारण है कि उपनिषदोंका इतना महत्त्व है। देश और विदेशके विद्वान् इसी-लिये उपनिषदोंपर इतने मुग्ध हैं? वस्तुतः उपनिषदोंके समान शान्ति, आनन्द और कैवल्य प्रदान करनेवाला विश्वमें कोई भी ग्रन्थ नहीं है।

हमारे यहाँ अनेक सम्प्रदाय हैं—अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी, विशुद्धाद्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी आदि। पूर्व समयमें जिस सम्प्रदायकी उपनिषदोंपर भाष्य-टीकाएँ नहीं होती थीं, उसको देशमें कोई पूछता ही नहीं था। जो सम्प्रदाय समाजमें अपनी प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता स्थापित करना चाहता था, उसको उप-निषदोंके द्वारा अपने मत, पन्थ वा सम्प्रदायको समर्थित और अनुमोदित करना पड़ता था। इसीलिये प्रत्येक वादके आचार्यने अथवा उनके शिष्य-प्रशिष्योंने उप-निषदोंपर भाष्य-टीकाएँ लिखी हैं। उपनिषदोंकी भाषा इतनी सरस-सुन्दर है और इनके उपदेश इतने विमल-निर्मल हैं कि पृथिवीके असंख्य मनुष्योंने इनसे दिव्य शान्ति प्राप्त की है और बड़े बड़े मनुष्योंने ब्रह्मानन्दमें गोते लगाये हैं।

यूरोपके विद्वानोंके मतसे भी उपनिषद् ज्ञान, शान्ति, मानव-संस्कृति आदिकी आधारशिला हैं। वे भी हमारी ही तरह उपनिषदोंपर आसक्त और विमुग्ध हैं। यूरोपियनोंकी ही बात नहीं, संसार भरके विद्वान् उपनिषदोंकी महत्ताके कायल हैं। उपनिषदोंसे ही संसारने पहले पहल हिन्दूजातिकी महत्ता समझी।

बादशाह शाहजहाँके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोहने १६४० ई० में काश्मीरमें पहले पहल उपनिषदोंकी महिमा जानी। तुरत उन्होंने काशीसे विद्वानोंको बुलाकर फारसीमें पचास उपनिषदोंका अनुवाद १६५७ तक किया-कराया। अकबरके समय भी १५५६ से १५८५ तक कुछ उपनिषदोंका फारसीमें अनुवाद कराया गया था; परन्तु दाराशिकोह-के अनुवादने ही उपनिषदोंकी ओर दुनियाकी दृष्टि आकृष्ट की। दाराके अनुवादकी एक पाण्डुलिपि नबाव सुजाउद्दौलाकी सभाके फ्रेंच रेजिडेंट एम० गेंदिलने 'जिन्द-

अवस्ता' के आविष्कारक एंकेटिल डुपेर्रनको १७७५ ई० में भेजी। डुपेर्रनने इसका लैटिन अनुवाद करके १८०२ में 'औपनेखत' (Oupnekat) नामसे छपाया। जर्मनीके प्रसिद्ध दार्शनिक आर्थर शोपेनहरने बड़े परिश्रमसे इस अनुवादका सूक्ष्म अध्ययन किया और वे उपनिषदोंके परम भक्त बन गये।

शोपेनहरने लिखा है—'उपनिषदोंसे वैदिक साहित्यका परिचय मिलना इस शताब्दी (१८१८) का परम लाभ है। १४ वीं शताब्दीमें ग्रीक साहित्यका जो प्रभाव यूरोपीय साहित्यपर पड़ा, उससे कम प्रभावोत्पादक संस्कृतसाहित्य नहीं हो सकता। यदि लोग इस साहित्यका परिशीलन करें तो मेरी बातका समर्थन करेंगे। जो कोई भी 'औपनेखत' को पढ़कर उपनिषद्‌की भावधारासे परिचित होंगे, उनकी आत्माके गम्भीरतम प्रदेशमें एक हलचल मच जायगी। एक एक पंक्ति सुदृढ़, सुनिर्दिष्ट और सुसमञ्जस अर्थ बताती है, प्रत्येक वाक्यसे गंभीर और मौलिक विचार प्रकट होता है। सारी उपनिषद् उच्च, पावन और ऐकान्तिक भावोंसे ओतप्रोत है। उपनिषद्‌के समान, सारी धरित्रीमें उदात्त भावोत्पादक ग्रन्थ नहीं है। इसने मुझे जीवनमें शान्ति प्रदान की और मरणमें भी शान्ति देगी। ×××× भारतमें ईसाई धर्मकी जड़ कभी नहीं जमेगी, प्रत्युत भारतीय ज्ञानकी धारा यूरोपमें प्रवाहित होगी और हमारे ज्ञान और विचारमें आमूल परिवत्तन ला देगी।'

शोपेनहरकी यह भविष्यवाणी सफल हुई, स्वामी विवेकानन्दकी शिष्या 'सारा बुल'ने स्वीकार किया है कि 'जर्मनीके दार्शनिक मत, इङ्गलैंडके प्राच्य पण्डित और अमेरिकाके एमर्सन साक्षी दे रहे हैं कि पाश्चात्त्य विचार वस्तुतः वेदान्तके द्वारा अनुप्राणित हैं।'

यह बात प्रसिद्ध ही है कि बर्लिनमें १८४४ में शेलिंगकी 'उपनिषद् व्याख्यानावली' सुनकर मैक्समूलर साहब संस्कृतके अध्ययनकी ओर आकृष्ट हुए और उपनिषद्‌का यथार्थ तत्त्व समझनेके लिए ही उन्होंने पहले वेदके मन्त्रभाग और ब्राह्मण भागका स्वाध्याय किया एवम् टीका टिप्पणियोंके साथ ऋग्वेदका प्रकाशन किया।

डा० एनी वेसेन्टको प्रायः सभी शिक्षित भारतवासी जानते हैं। उन्होंने उपनिषद् को 'मानवचिन्तन का सर्वोच्च फल' बताया है। ('Prsonally I rofard the upanishads as the hifhest prbduct of the human mind')।

अपने एक ग्रन्थ 'उन्नीसवीं शताब्दी'में शोपेनहरने फिर लिखा है कि 'यह निश्चित है कि शीघ्र या देरसे उपनिषद्धर्म ही संसारका धर्म बनेगा।' इसी विद्वान्ने

एक स्थलपर स्पष्ट ही लिखा है कि 'औपनिषद सिद्धान्त अपौरुषेय हैं ? ये जिनके मस्तिष्ककी उपज हैं, उन्हें निरे मनुष्य कहना कठिन है।' इस उक्तिके द्वारा, वेदोंको किसीने बनाया नहीं, वे अपौरुषेय हैं, इस बातको कितनी खूबीसे शोपेनहरने कहा है ! उपनिषदों (वेदों) का सूक्ष्म अध्ययन करनेवाला ऐसा ही अभिमत देता है।

पाल डासन नामके एक जर्मन विद्वान्ने उपनिषदोंका गहन अध्ययन करके 'Philosophy of the upanishads' नामकी एक पुस्तक लिखी है, आपका मत है कि 'उपनिषदोंमें जो दार्शनिक सूक्ष है, वह भारतमें तो अद्वितीय है ही, सम्भवतः सारे संसारमें अतुलनीय है।' एक दूसरे जर्मन विद्वान् फ्रेडरिक श्लेगनने तो इतनी दूर तक कहा है कि 'उपनिषदोंके सामने यूरोपीय तत्त्व-ज्ञान प्रचण्ड मार्त्तण्डके सामने टिमटिमाता दिया है, जो अब बुझा, तब बुझा।' इसी प्रकार फ्रेंच विद्वान् कर्जीस, ऐंडरूज हकस्ले आदि विद्वान् विश्वके सम्पूर्ण ज्ञानका मूल उपनिषदोंको बताते हैं।

स्वामी विवेकानन्दने इन्हीं उपनिषदोंकी निर्मल ज्योत्स्नाको दिखाकर समूचे यूरोप और अमेरिकाको परितृप्त किया था। स्वामीजीने अपने "भारतीय जीवनमें वेदान्तकी उपयोगिता" नामक व्याख्यानमें कहा है—'स्वदेशवासी बन्धुओ, मैं जितना ही उपनिषदोंको पढ़ता हूँ, उतना ही तुम लोगोंके लिए आँसू बहाता हूँ। यह आवश्यक है कि उपनिषदुक्त तेजस्विताको ही हम अपने जीवनमें विशेष रूपसे परिणत करें। शक्ति, बस, हमें केवल शक्ति चाहिये। वह शक्ति कौन देगा ? उपनिषदें शक्तिकी महान् खान हैं। जिस शक्तिका संचार करनेमें उपनिषदें समर्थ हैं, वह ऐसी है कि उससे सम्पूर्ण विश्वको पुनर्जीवन, शक्ति और शौर्य वीर्यकी प्राप्ति हो जाय। जगत्की समस्त जातियों, सारे मतों और सभी सम्प्रदायोंके दीन, दुर्बल, दुःखी और पददलित प्राणियोंको पुकार पुकारकर उपनिषदें कह रही हैं कि 'सभी अपने पैरोंपर खड़े होकर मुक्त हो जाओ।' मुक्ति या स्वाधीनता—दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता और आध्यात्मिक स्वाधीनता उपनिषदोंका मूल मन्त्र है। निखिल विश्वमें यही एक शास्त्र है, जो उद्धार (Salustion), की बात नहीं कहता, मुक्तिकी बात कहता है; 'बन्धनसे मुक्त हो जाओ, दुर्बलतासे मुक्त हो जाओ।'

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है—'आँखवाले देखेंगे कि भारतका ब्रह्मज्ञान निखिल जगत्का धर्म बनने लगा है। प्रातःकालीन सूर्यकी अरुण किरणोंसे पूर्व दिशा आलोकित होने लगी है, परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगनमें प्रकाशित होगा, तब उसकी प्रचण्ड दीप्तिसे समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।'

वस्तुतः उपनिषदोंसे जीवनको एक अपूर्व प्रेरणा मिलती है। उनका जागरूक आदेश है—

"उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।"

उठो, जागो और बड़ोंके पास जाकर सीखो—ऐसा ज्ञान प्राप्त करो कि निर्भय और अमर हो जाओ। अस्तु,

वैदिक साहित्यके प्रधान चार भाग हैं—मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इन चारोंमें से प्रत्येकके ११३० ग्रन्थ थे। परन्तु इन दिनों संहिताएँ (मन्त्र भाग) केवल ११ मिलती हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ १८, आरण्यक पुस्तकें ७ और उपनिषद् ग्रन्थ २२०। विश्वके विविध देशोंमें ये ग्रन्थ छप चुके हैं। संसारकी लाइब्रेरियोंमें इन चार प्रधान विभागोंके अनेक खण्डित-अखण्डित ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियाँ पायी जाती हैं। ब्रिटिशम्युजियम लन्दन, बर्लिनलाइब्रेरी बर्लिन, नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता, सरस्वतीभवन लाइब्रेरी बनारस आदि संसारकी अनेक लाइब्रेरियों में संस्कृतकी हस्तलिखित लाखों पुस्तकें पड़ी हैं, जिनकी खोज और सम्पादन करके प्रकाशित करनेकी अतीव आवश्यकता है।

हाँ, तो दो सौ बीस उपनिषदोंमेंसे नीचे लिखी १२ उपनिषदोंपर श्रीमच्छङ्कराचार्यका भाष्य है—

ऋग्वेदीय कौषीतकि और ऐतरेय, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय, कण्ठ और श्वेताश्वतर, शुक्ल यजुर्वेदीय बृहदारण्यक और ईश, सामवेदीय छान्दोग्य और केन तथा अथर्ववेदीय प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य। गत दो वर्षोंके विशेषांकोंके रूपमें काशीस्थ श्री गीताधर्मकार्यालय द्वारा नौ उपनिषदें मूल, शांकरभाष्यानुसारी विद्याविनोद-भाष्य, विशेष आदिके साथ, पाठकोंको दी जा चुकी हैं। इस वर्ष कौषीतकि, श्वेताश्वतर समन्वित बृहदारण्यक उपनिषद्को मूल, शांकरभाष्यानुसारी, विद्याविनोद-भाष्यके साथ, सहृदय वाचकोंके सामने उपस्थित किया जा रहा है।

शुक्ल यजुर्वेदकी दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—माध्यन्दिन और काण्व। दोनोंके ब्राह्मण भी उपलब्ध हैं। एकका नाम माध्यन्दिन शतपथ है और दूसरेका नाम काण्व शतपथ है। प्रथममें चौदह काण्ड हैं और दूसरेमें सत्रह। पहलेमें १०० अध्याय हैं और दूसरेमें, विख्यात वेदविद्यार्थी कैलेण्डके मतानुसार १०४। पहलेमें ४३८ ब्राह्मण

हैं और दूसरेमें ४४६। पहलेमें ७६२४ कण्डिकाएँ हैं और दूसरेमें ५८६५। पहलेके शेषांशके ६ अध्याय "बृहदारण्यकोपनिषद्" कहे जाते हैं। दूसरेके भी अन्तिम ६ अध्याय "बृहदारण्यक" कहाते हैं। पहलेको 'माध्यन्दिन बृहदारण्यक' और दूसरेको 'काण्व बृहदारण्यक' कहते हैं। पहलेको सन् १८८९ में ओटो बोहट्‌लिंगने छपाया था और दूसरा अनेक स्थानोंसे प्रकाशित हुआ है।

दोनोंमें ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तीनों ही मिले हुए हैं। दोनोंमें ही बीच बीचमें यज्ञरहस्यका थोड़ा वर्णन करके आत्मज्ञानका विस्तृत उपदेश दिया गया है। इस तरह उपनिषद्‌का अधिक कथन होनेसे इनका नाम बृहदारण्यकोपनिषद् पड़ गया। इसमें मिले हुए ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्‌को पृथक् पृथक् करके प्रकाशित करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है।

दोनोंमें थोड़ासा ही भेद है—पाठान्तर विशेष हैं। याज्ञवल्क्य और जनककी कथा दोनोंमें है। गार्गी और मैत्रेयीकी अनूठी कथाएँ भी दोनोंमें हैं। प्राप्त २२० उपनिषदोंमें बृहदारण्यकोपनिषद् सबसे बड़ी है। इसीसे इसके नामके पहले बृहत् (बड़ा) शब्द है। प्रस्तुत विशेषांकमें माध्यन्दिन बृहदारण्यक है।

इसके प्रथम अध्यायमें सृष्टि और उसके कर्ताका विचार है; द्वितीयमें गार्ग्य बालाकिने काशीराज अजातशत्रुसे ब्रह्म-विद्याका उपदेश लिया है। इसीमें मधु-विद्याका उपदेश दिया गया है और प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीसंवाद भी इसीमें है। तृतीयमें वर्णन आया है कि राजा जनकने एक बड़ी विद्वत्परिषद् बुलायी थी, जिसमें शास्त्रार्थ करके जनक-पुरोहित याज्ञवल्क्यने सारे विद्वानोंको परास्त करके राजपुरस्कार प्राप्त किया था। चतुर्थ अध्यायमें जनक और याज्ञ-वल्क्यके बीच ब्रह्म की आलोचना और याज्ञवल्क्यके द्वारा जनकको उपदेश है। इसमें भी याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीसंवाद है। मैत्रेयीको ब्रह्म-सम्बन्धी उपदेश दिये गये हैं। पाँचवें अध्यायमें ब्रह्म, प्रजापति, वेद, गायत्री आदि की बातें हैं। छठे अध्यायमें प्रवाहण जैवलिने उद्दालक आरुणिको ब्रह्मका उपदेश दिया है। अन्तमें उद्दालक ने याज्ञवल्क्यके पास आकर कहा—'सूखे काठको भी यदि यह अमृतमय उपदेश दिया जाय, तो उसमें भी टहनियाँ और पत्ते निकल आवें।"

वस्तुतः इस उपनिषद्‌में ऐसे ही प्रभावशाली उपदेश हैं।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इसके तीसरे अध्यायके प्रथम ब्राह्मणसे

जाना जाता है कि राजा जनकने एक बड़ा यज्ञ किया था, जिसमें कुरु, पांचाल आदि देशोंके विद्वान् ब्राह्मण आये थे। राजाकी यह जाननेकी प्रबल इच्छा हुई कि इनमें सबसे बड़ा कौन वेदज्ञ है। राजाने एक हजार गायोंके शृङ्गोंमें सोना मढ़वाकर ब्राह्मणोंसे कहा कि 'जो आप लोगोंमें से सबसे बड़ा वेदज्ञाता (ब्रह्म-वेत्ता) हो, वह इन हजार गायोंको अपने घरपर ले जाय।' दूसरे तो चुप रहे; परन्तु याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्यसे स्वर्णमण्डित शृङ्गवाली गायोंको अपने घरपर भिजवा दिया। इसपर विद्वानोंमें शास्त्रार्थ छिड़ गया, किन्तु याज्ञवल्क्यने सबको पराजित कर दिया। ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी गार्गीसे भी शास्त्रार्थ हुआ; परन्तु वह भी याज्ञवल्क्यसे परास्त हुई। इस अध्यायके आठवें ब्राह्मणमें यह कथा समाप्त हुई है, जो विशेष ध्यानसे पढ़ने योग्य है।

चतुर्थ अध्यायके पाँचवें ब्राह्मणमें कहा गया है कि याज्ञवल्क्य ऋषिकी दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। कात्यायनी तो साधारण नारी थी; परन्तु मैत्रेयी ब्रह्म-वादिनी थी। घर-बार छोड़कर एक बार परिव्राजक बननेकी इच्छा याज्ञवल्क्यकी हुई। उन्होंने मैत्रेयीको बुलाकर कहा—'मैं परिव्राजक बनना चाहता हूँ, इसलिये कात्यायनीके साथ तुम्हारे हिस्सेका धन बाँट देना चाहता हूँ।' इस पर मैत्रेयीने उत्तर दिया—'भगवन्, यदि धन-धान्य-पूर्ण समूची धरित्री ही मुझे मिल जाय तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, अमरता तो नहीं मिलेगी; परन्तु धनाढ्यों के समान तुम्हारा जीवन अवश्य हो जायगा।' मैत्रेयीने कहा—'जिसे पाकर मैं अमर नहीं बनूँगी, उसे लेकर क्या लाभ? भगवन्, अमर-प्राप्तिका ही मुझे तो उपाय बताइये।'

इनके अनन्तर याज्ञवल्क्यने जो उपदेश दिया है, वह अद्भुत है। एकसे एक उत्तम उदाहरण देकर याज्ञवल्क्यने ब्रह्म-विवेचन किया है। अन्तमें याज्ञवल्क्यने कहा—जिस समय सर्वत्र व्याप्त परमात्माका ज्ञान हो जाता है, उस समय कौन किसको देखता, सुनता, छूता वा अभिवादन करता है। सब तो एक ही हैं? जिसकी सत्तासे ही सारा विश्व जाना जाता है, उसको कैसे समझा जाय? 'यह नहीं, यह नहीं'—इस प्रकार कहते २ जो शेष बच जाता है, वही ब्रह्म है। वह अगृह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह अशीर्य है, क्योंकि उसका क्षय नहीं होता। वह असङ्ग है, क्योंकि उसका संग नहीं हो सकता। वह किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाता, क्रुद्ध नहीं होता। वह सबका बाहर भीतर जानता है। उस सर्वज्ञाताको कैसे जाना

जाय ? मैत्रेयी, उसीकी शिक्षासे अमरता प्राप्त होती है। यह कहकर याज्ञवल्क्य परिव्राजक बन गये।

याज्ञवल्क्यके इस 'नेति नेति' उपदेशमें सारा वेदान्त कूट-कूटकर भरा है।

कृष्णयजुर्वेदकी अप्राप्य श्वेताश्वतर-संहिताका ही एक अंश श्वेताश्वतरोपनिषद् है। इसमें छै अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परमात्म-साक्षात्कारका उपाय ध्यानको बताया गया। अगले अध्यायमें ध्यानकी सिद्धि, प्रार्थनाके प्रकार, ब्रह्म-महिमा, वेदान्त, सांख्य, योग आदि शास्त्रोंकी बातें हैं। इसकी भाषा बड़ी सरल और विषय अत्यन्त उच्च-कोटिके हैं। इसमें कहा गया है—'क्षयशील और अक्षय, व्यक्त और अव्यक्त, इन दोनों वस्तुओंके परस्पर संयोगसे उत्पन्न इस संसारका भरण वे जगदीश ईश्वर ही करते हैं। किसी भी कार्यमें जीवात्माका कर्तृत्व न रहनेपर भी वह भोक्ता है और इसीलिये वह बद्ध है। परन्तु परमतत्त्व (ब्रह्म) को जान लेनेपर सारे ही पापोंसे वह विमुक्त हो जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद्का यह परम श्रेयःकारक उपदेश है।

ऋग्वेदके दो ब्राह्मण ग्रन्थ विशेष विख्यात हैं—कौषीतकि वा शांखायन और ऐतरेय। कौकिषीतब्राह्मण ३० अध्यायोंमें विभक्त है। इसमें यज्ञके सारे विवरण पाये जाते हैं। कुषीतक ऋषि इस ब्राह्मणके उपदेष्टा हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंके जो भाग अरण्य वा विपिनमें पढ़ने योग्य हैं, वे आरण्यक कहे जाते हैं। कौषीतकि आरण्यक के सब कुल पन्द्रह अध्याय पाये जाते हैं, जिनमें तीसरेसे छठे अध्यायोंको कौषीतकि–उपनिषद् कहा जाता है। इसे कौषीतकि–ब्राह्मणोउपनिषद् भी कहते हैं। इसमें ब्राह्मण भी मिले हुए हैं; इसलिये इसका एक यह भी नाम है। इसके प्रथम अध्यायमें चित्र गार्गायणि नामके क्षत्रिय राजाने उद्दालक आरुणि नामके विद्वान् ब्राह्मणको परलोककी शिक्षा दी है। द्वितीय अध्यायमें प्राणों की विविध उपासनाएँ, महा-प्राण (ब्रह्म) की विवृति, पिता और पुत्रमें स्नेह–सम्बन्ध आदि हैं। तृतीय अध्यायमें इन्द्रने काशीराज दिवोदासको प्राण और प्रज्ञाके सम्बन्धमें उपदेश दिया है। चतुर्थ अध्यायमें काशीराज अजातशत्रुने बालाकि को परब्रह्मका उप-देश दिया है।

चतुर्थ अध्यायमें कहा गया है कि 'गार्ग्य बालाकि नामके एक विद्वान् ब्राह्मण थे, जो उशीनर, मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी और विदेह आदि भारतके

पश्चिमसे पूर्व तकके प्रान्तोंका पर्यटन करते थे। एक बार काशी आकर वहाँके राजा अजातशत्रुसे वे बोले—'मैं आज तुमको परब्रह्म का विवरण बतलाऊँगा।' इस पर राजा बोले—'इसके लिये तुम्हें मैं एक हजार गायें देता हूँ। मेरी तो धारणा है कि महाराज जनक ही ब्रह्मवादियोंके जनक-स्वरूप हैं, इसीलिये प्रायः सभी ब्रह्मवादी जनकके पास ही जाते हैं।'

इसके अनन्तर बालाकिने कहना प्रारम्भ किया—'सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, स्वप्न, दक्षिण और वामचक्षु आदि की उपाधियोंसे युक्त जो आत्मा है, वही ब्रह्म है।' परन्तु अजातशत्रुने प्रत्येक उपाधिका खण्डन करते हुए कहा—'नहीं, जो सूर्य, चन्द्र आदिको बनानेवाला है, उसीको जानना चाहिये—"एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता, यस्य वै तत् कर्म स वै वेदितव्य इति।"

इसके अनन्तर बालाकि समित्काष्ठ लेकर राजाके पास आकर बोले—'मैं शिष्य होकर आपसे ब्रह्मोपदेश लेना चाहता हूँ।' राजाने उत्तर दिया—'क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनावे—यह बात उलटी है। मैं विना शिष्य बनाये ही तुम्हें यह विषय समझा देता हूँ।' यह कहकर एक सोये हुए मनुष्यको जगाकर बालाकिसे राजाने पूछा—'इस मनुष्यका चैतन्य कहाँ चला गया था और अब कहाँसे आ गया?' यह पूछनेपर एक विनम्र शिष्यकी तरह बालाकि मौन रहे। राजाने कहना प्रारम्भ किया—'स्वप्नशून्य निद्राके समय हृदयकी 'हिता' नामक हजारों शिराओंमें चेतन पुरुष (चैतन्य) अवस्थान करता है। मन और ज्ञानेन्द्रियाँ भी उसके साथ ही एकीभाव धारण करती हैं। जब मनुष्य जाग जाता है, तब अग्निके स्फुलिंग की तरह सारी इन्द्रियाँ, सारे प्राण, सारी दिव्य शक्तियाँ अपने अपने स्थानोंपर निकल पड़ती हैं। जैसे काठमें अग्नि व्याप्त है, उसी तरह प्रज्ञात्मा भी शरीर, लोमों और नखों तकमें अनुप्रविष्ट है। जैसे धनीके पीछे सब लोग चलते हैं, वैसे ही सारी प्राण-चेष्टाएँ भी प्रज्ञात्माके साथ चलती हैं। इसी प्रज्ञात्मा (आत्मा) को न जाननेके कारण ही इन्द्र असुरोंके द्वारा पराजित हुए थे। जो इस ज्ञानको प्राप्त करता है, वह सारे पापोंसे छूटकर सब प्राणियोंका श्रेष्ठत्व, साम्राज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है—"एवं विद्वान् सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति।"

सरस—सुन्दर शब्दोंमें कितनी उच्च शिक्षा दी गयी है !!!

आगे संन्यासका विधान बड़ा ही सुन्दर बताया गया है। कहा गया है–'इसी आत्माको जानने पर मुनि होता है, ब्रह्मलोककी इच्छा करनेवाले संन्यासका ग्रहण करते हैं। प्रवीण विद्वान् भी प्रजाकी इच्छा नहीं करते और कहते हैं कि हमे प्रजा लेकर क्या करना है, जब कि यह आत्मा ही हमें इष्ट है। इसीसे पुत्र, धन और कीर्तिको छोड़कर हम भिक्षा माँगते हैं।'

इस प्रकार इन उपनिषदोंके प्रस्तुत विशेषांकमें ब्रह्म वा पूर्ण तत्त्वको अनेकानेक प्रकारोंसे समझाया गया है। इसी अनूठी शैली और अपूर्व उपदेशोंका मनन करके मैकडानलने भी ठीक कहा है—'मानवीय चिन्तनके इतिहासमें पहले पहल 'बृहदारण्यकोपनिषद्'में ही ब्रह्म अथवा पूर्ण तत्त्वको ग्रहण करके उसकी यथार्थ व्यञ्जना की गई है।

प्रत्येक विद्वान् मैकडानलकी रायसे सहमत होगा।

ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

बृहदारण्यकोपनिषद्

विद्याविनोद भाष्य सहित

प्रथम अध्याय, प्रथम ब्राह्मण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः

भावार्थ—यह *प्रसिद्ध–ब्राह्ममुहूर्त काल यज्ञसम्बन्धी अश्वका सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर उस यज्ञ-

---

* वास्तवमें उपनिषद् ही तत्त्वज्ञानके भण्डार हैं। जगत्प्रसिद्ध-गीताकी अनुपम मालामें जिन तत्त्व-रत्नोंको गूँथा गया है उनका उद्गमस्थान उपनिषद्रूप खान ही है। संसार-तापोंको शमन करनेकी अचूक महौषधि उपनिषद्रूप दवाखानेकी मन्त्ररूप बोतलोंमें मिलेगी। धन्वन्तरि श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुन रोगीके मोहरूप रोगकी जिस श्रीगीता नामक नुसखेसे निवृत्ति की थी, उस नुसखेमें जो-जो बूंटियाँ आई हैं, वे सब उपनिषद्रूप हिमालयमें पैदा हुई थीं।

उपनिषदोंमें बृहदारण्यक उपनिषद्की अत्यधिक महिमा है। यह उपनिषद् वाजसनेयी ब्राह्मणके अन्तर्गत है। आकारमें यह सबसे बड़ा है, इसलिए इसे 'बृहत्' कहा है। वनमें इसका अध्ययन किया गया है इसलिए यह 'आरण्यक' है। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति

पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्ध-मासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसानि । ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

सम्बन्धी अश्वका आत्मा है। द्युलोक उसकी पीठ है, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी पाँव रखनेकी जगह है, पूर्वादि दिशाएँ पार्श्व हैं, आग्नेयादि-बीचकी दिशाएँ-पसलियाँ हैं। ऋतुएँ अङ्ग हैं, महीने तथा पक्ष सन्धि हैं, दिन और रात पैर हैं, नक्षत्र अस्थियाँ हैं। आकाशस्थ मेघ मांस है। बालू उदरमें रहनेवाला अर्धजीर्ण अन्न, नदियाँ नाड़ी, पर्वत यकृत और मांसखण्ड हैं। ओषधि और वनस्पतियाँ रोम हैं, उदय होता हुआ सूर्य उसका पूर्वार्द्ध (नाभिसे ऊपरका) और अस्त हो रहा सूर्य उसकी कटिके नीचेका भाग है। जो जँभाई लेता है वह बिजलीका चमकना है, शरीरका हिलाना मेघका गर्जन है। वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और जो हिनहिनाता है वही उसकी वाणी है ॥ १ ॥

इसका प्रयोजन है, अतः इसे 'उपनिषद्' कहते हैं। अतएव इसका पूरा नाम है—'बृहदारण्यकोपनिषद्'। यह उपनिषद् आकारमें ही बड़ा है, यह बात नहीं, किन्तु अर्थमें भी बड़ा है, इसलिए सर्वांशमें बृहत्—बड़ा—है। यही कारण है—भगवान् शङ्कराचार्यने जैसा विशद और विवेचनापूर्ण भाष्य इस उपनिषद् पर रचा वैसा किसी दूसरे पर नहीं।

स्वतन्त्रता—स्वाधीनता—मुक्ति—सभी चाहते हैं। आधिभौतिक स्वाधीनताकी प्राप्तिसे कितना आह्लाद होता है यह सबपर विदित है, परन्तु आध्यात्मिक स्वतन्त्रताकी प्राप्तिसे जो आनन्द मिलता है उस आनन्दका तो वर्णन करना ही कठिन है। जब तक आत्माका बल बढ़ न जाय अर्थात् व्यष्टि स्वार्थका समष्टि स्वार्थमें विलीनीकरण न हो जाय, तब तक किसीको स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक प्रत्येक वस्तुको अपनी आत्मा नहीं समझेंगे तब तक दुःखका प्रेत पीछा नहीं छोड़ेगा। इसलिए ब्रह्मज्ञान आवश्यक है।

वेदोंमें जगह—जगह लिखा है कि—ब्रह्मज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता। और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति विवेक, वैराग्य और शमदमादि मुमुक्षुता प्रभृति साधनोंसे ही सकती है।

सोने और चाँदीके दो ग्रह हैं यानी यज्ञद्रव्यको रखनेके लिए दो पात्र होते हैं—उनका नाम है—'महिमा'। ये अश्वके आगे पीछे रखे जाते हैं. इस मन्त्रमें उन्हींसे सम्बन्ध रखनेवाली दृष्टिका वर्णन है, यथा—

विवेक वैराग्यादि साधनोंकी कारण चित्तशुद्धि है। शुभ कर्म किये बिना चित्तशुद्धि होती नहीं। इसीलिए वेदोंमें चित्तशुद्धिके साधन कर्मोंका पहले कर्मकाण्डमें निरूपण किया गया है। और कर्मोंके फलस्वरूप ज्ञानके प्रतिपादक ज्ञानकाण्डका पीछे वर्णन किया गया है। इस बृहदारण्यक उपनिषद्के आठ अध्याय हैं। इनमें पहले दो अध्यायोंमें कर्मोंका वर्णन किया गया है, इससे वे यहाँ छोड़ दिये गये हैं, क्योंकि—यह ज्ञानका प्रकरण है। इस उपनिषद्का जो पहला अध्याय है, वास्तवमें वह तीसरा अध्याय है। भगवान् श्रीशंकराचार्यका भाष्य तीसरे अध्यायसे आठवें अध्याय तक है अर्थात्—छः अध्यायों पर उनका सर्वोत्तम विवेचना पूर्ण भाष्य है। इसमें ब्रह्मात्मैक्यरूप आध्यात्मिकताका प्रतिपादन किया गया है।

संसार एक वृक्ष है, उसमें सुख-दुःख फल लगा करते हैं, दुःखादिका कारण शरीर है, शरीरके कारण धर्म-अधर्म हैं, धर्माधर्मके कारण शुभाशुभ क्रियाएँ हैं, क्रियाके कारण राग-द्वेष हैं, रागादिका कारण अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञान है, इसका कारण भेदज्ञान है और भेदज्ञानका कारण ब्रह्मसे अभिन्न आत्माका अज्ञान है। जिन लोगोंको 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ और संसारमें जो भी कुछ है, वह सभी ब्रह्मरूप ही है' ऐसा ज्ञान हो जाता है, उन्हीं लोगोंकी दृष्टिमें सारा संसार अपना ही आत्मा बन जाता है, फिर किसीसे द्वेष नहीं रहता; क्योंकि अपना आत्मा सबको प्रिय है।

मनुष्यको अपनेमें सर्वात्मता लानी कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं है। सभीका सर्वत्र आत्मभाव हो जाय, यह इस विकट कालमें नहीं हो सकता। जगत्में थोड़ेसे भी सच्चे जन उपनिषदोंकी शिक्षाके अनुकूल सबको अपना ही स्वरूप देखने लगें, तो भी संसारका अधिकसे अधिक कल्याण हो सकता है। थोड़ेसे अच्छे बहुतसे बुरोंको सुधार सकते हैं। एक ही गुरु बहुतसे शिष्योंको ज्ञानी बना सकता है। कुछ मल्लाह बहुतसे आरोहियोंको पार लगा देते हैं। उपनिषद् एक अमृतकुण्ड है, उसमें अवगाहन करनेवाला मनुष्य अजर अमर बन जाता है।

अश्वमेधयज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, उपासना सहित अश्वमेधयज्ञका हिरण्यगर्भप्राप्तिरूप संसार ही फल है। जब इतने बड़े यज्ञका भी संसार ही फल है, तब अत्यन्त छोटे अग्निहोत्रादिका संसार फल है, इसमें तो कहना ही क्या? इसलिए अधिकारी पुरुषको कर्मोंके फलोंसे विरक्त हो जाना चाहिए। पर जो अनधिकारी हैं, उनको अश्वमेधकी उपासनासे उसके फलकी प्राप्तिके लिए उस यज्ञमें प्रधान अङ्गरूप अश्वविषयक उपासनाका वर्णन करते हैं। अश्वमेध यज्ञमें अश्वकी प्रधानता होनेके कारण यहाँ अश्वविषयक दृष्टि ही कही गई है।

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्याऽपरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥ २ ॥

भावार्थ—उस अश्वके आगे रखा गया जो सुवर्णका महिमा नामक पात्र है, तद्रूपसे दिन हुआ यानी दिवस प्रकट हुआ, [क्योंकि सुवर्ण और दिनकी प्रकाशको लेकर तुल्यता है,] उसकी पूर्व समुद्र योनि आसादन-स्थान है। इसके पीछे चांदीके रखे गये महिमा नामक पात्रके रूपमें रात्रि प्रकट हुई, [क्योंकि रात और चाँदीमें वर्णकी तुल्यता है ही।] उसकी पश्चिम समुद्र योनि—आसादन स्थान है। इस अश्वके आगे-पीछेके महिमा नामक ये ही दोनों ग्रह हुए। इसने हय होकर देवता वहन किये, वाजी होकर गन्धर्व, अर्वा होकर असुर और अश्व होकर मनुष्य। समुद्र ही इसका बन्धु और समुद्र ही इसकी योनि (कारण) है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने इस ब्राह्मणके मन्त्रोंमें आये अश्वके विशेषणोंमें प्रायः प्रत्येक विशेषणका अर्थ किया है। इस उपनिषद्के आरम्भमें यानी बृहदारण्यक ब्रह्मविद्याके प्रारम्भमें जो अश्वमेध-कर्म-सम्बन्धी विज्ञानका उल्लेख किया गया है, वह समस्त कर्मोंमें संसारसम्बन्धित्व प्रदर्शित करनेके लिए; क्योंकि उसका फल समष्टि और व्यष्टि हिरण्यगर्भकी प्राप्ति है, अतः सम्पूर्ण कर्मोंमें अश्वमेध उत्कृष्ट है।

किसी-किसी विद्वान्का मत है कि इस ब्राह्मणमें जो अश्व शब्द आया है वह घोड़ेका वाचक न होकर परमात्माका वाचक है। और जो 'उषा' आदि कालादि-बोधक शब्द हैं वे केवल उक्त ब्रह्म-परमात्माकी उपासनाके लिए हैं। इसलिए विराट्के जो उषा आदि प्रधानतम अङ्ग हैं उन्हें परमात्माके ही अङ्ग जानना चाहिए, 'अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् इति अश्वः' अर्थात् जो सारे संसारको व्याप्त करता है, उसका नाम अश्व है; ऐसा परमात्मा ही हो है सकता।

भाव यह है कि—इस स्थलमें परमात्माकी विभूतिका विराट्रूपसे वर्णन किया गया है, जैसे—उषा-ब्राह्ममुहूर्त—उस परमात्माका सिर है और चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, इत्यादि।

कोई कहते हैं कि कालरूप परमात्माका महत्त्व बतलानेके लिए इस विराट्रूप विभूतिका वर्णन किया है।

'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेता।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥'

इस अथर्ववेदके (१९। ६। ५३।१) मन्त्रमें परमात्माके अश्व और काल—ये भी दो नाम हैं, यह कथन किया गया है।

यह औपनिषद विज्ञान है, औपनिषद मन्त्रोंसे कोई चाहे जो भाव निकाल सकता है, पर भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने अकाट्य युक्ति एवं भावशुद्धिसे उपनिषद्-मन्त्रोंका जैसा विवेचन किया है, वैसा किसीने न किया और न कर ही सकेगा। अतः वही समीचीन प्रतीत होता है॥ २॥

द्वितीय ब्राह्मण

स्तुति करनेके लिए अग्निविषयक दृष्टि करनेकी इच्छासे ही आगे अश्वमेधोपयोगी अग्निकी उत्पत्तिका वर्णन किया जाता है, यथा—

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कꣳ ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥ १॥

भावार्थ—इस सृष्टिकी रचनासे पहले कुछ नहीं था। यह सब मृत्युसे (प्रलयसे) ही ढका था, यह क्षुधासे आवृत था। वह अशनाया (भूख) ही मृत्यु है। उसने 'मैं मनसे युक्त होऊँ' ऐसा संकल्प किया, अर्थात्—उस अशनाया-रूप मृत्युने संकल्प किया कि—मैं मनवाला होऊँ। अर्चन-पूजन कर रहे उसने 'मैं कृतार्थ होऊँ' यों भावना की। अर्चन कर रहे उसको जल हुआ। पूजा कर रहे मुझे क—जल मिला यानी मुझको उत्पन्न हुआ है, इसीसे अर्कमें अर्कपना है यानी

अर्क—अग्निके अर्कत्वमें हेतु है। जो कोई इस प्रकार अर्कका अर्कत्व जानता है, उसे अवश्य ही 'क' होता है, यानी सुख मिलता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—'क' यह जल और सुखका समान नाम है, इसे इस प्रकार जाननेवालेको जल तथा सुख होता है। 'अर्चते कम् इति अर्कः' इस व्युत्पत्तिसे 'अर्क' अग्निको कहा गया है। उक्त व्युत्पत्तिका अर्थ है कि—जिसका अर्चन करनेवालेको 'क' हो उसको अर्क कहते हैं, 'क' नाम है जलका और सुखका।

विद्वानोंने 'मृत्यु' का अर्थ 'अग्नि' किया है वैसा करनेमें उनका भाव यह है कि—जिस प्रलयकी महाअग्निसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका प्रलय हुआ, उसको यहाँ मृत्यु शब्दसे कहा गया है। यह रहस्य जाननेवालेको इसलिए सुखकी प्राप्ति कही गई है कि सृष्टिविद्याका तत्त्व जाननेसे सम्पूर्ण दुःखोंका मोह निवृत्त हो जाता है। जल भी अत्यन्तोपयोगी पदार्थ है, क्योंकि उससे प्राणीके प्राणधारक धान आदि अन्न पैदा होते हैं और यज्ञादिमें भी काम आते हैं ॥ १ ॥

अर्क क्या है ? यह कहा जाता है, यथा—

आपो वा अर्कस्तद्यदपाꣳ शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥ २ ॥

भावार्थ—जलको ही अर्क कहते हैं, उन जलका जो झाग (स्थूल भाग) था वह इकट्ठा हो गया, वह पृथिवी हो गई। उसके उत्पन्न होने पर वह मृत्यु श्रमके कारण थक गया। उस श्रान्त तथा तप्त प्रजापतिके शरीरसे उसका सारभूत तेज प्रकट हुआ, वह तेजोरस अग्नि था ॥ २ ॥

उत्पन्न हुए उस प्रजापतिने कार्यकरणसंघातरूप अपनेको अर्थात् भूत और इन्द्रियसमूहरूप स्वस्वरूपको तीन प्रकारसे विभक्त किया, यह कहते हैं, यथा—

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयꣳ स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमु-

दरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उसने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया। उसने आदित्यको तीसरा भाग किया और वायुको तीसरा। यों वह प्राण तीन प्रकारका हो गया। पूर्व दिशा उसका सिर है, ईशानी तथा आग्नेयी ये दो इधर-उधरकी दिशाएँ भुजा, पश्चिम दिशा पुच्छ यानी कटिभाग, वायव्य एवं नैर्ऋत्य ये दो दिशाएँ उसकी जङ्घाएँ हुई। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व, द्युलोक पीठ तथा अन्तरिक्ष उदर हुआ। यह पृथिवी उसका हृदय हुई। यह विराट्, जो अग्निरूप है, जलमें स्थित है, ऐसा जाननेवाला विद्वान् जहाँ कहीं भी जाता है वहीं प्रतिष्ठा पाता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ जो जलके स्थूल अंशोंसे पृथिवीकी उत्पत्ति कही, उसका अभिप्राय यह है कि—सृष्टिके आरम्भमें प्रथम द्रव्यकी अवस्था जल सी द्रवधर्मा थी, फिर उसकी घनीभूत स्थूलावस्था हुई, उसे पृथिवी कहते हैं ॥ ३ ॥

उक्त तीसरे मन्त्रमें आदित्य, वायु और अग्नि, यों तीन संख्याको पूर्ण करनेमें इन तीनोंकी ही शक्ति समान है, यह समझाते हैं, जैसे—त्रिधा विभक्त किया, कैसे ? अग्नि और वायुकी अपेक्षा आदित्यको तीसरा बनाया, इसी प्रकार अग्नि और आदित्यकी अपेक्षा वायुको तृतीय बनाया, तथा ऐसे ही वायु और आदित्यकी अपेक्षा अग्निको तीसरा बनाया। इस प्रकार यहाँ इस वाक्यकी अनुवृत्ति की गई है। तीसरे मन्त्रके भावार्थमें जो 'उसने आदित्यको तीसरा भाग बनाया और वायुको तीसरा' यह कहा है, इसका ही उपर्युक्त विवरण समझाया गया है। इस प्रकार हिरण्यगर्भका तीन भाग होना बतलाया है ॥ ३ ॥

उसने क्या व्यापार करते हुए यह रचना की, यह बताते हैं, यथा—

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—उसने सङ्कल्प किया—'मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो।' इसलिए अशनायारूप मृत्युने मनसे वेदरूप मिथुनकी भावना की, अथवा यह सङ्कल्प करके उसने मन द्वारा वेदरूप वाणीको मिथुन यानी शब्दार्थ भावसे उत्पन्न किया। उससे जो रेत (बीज) हुआ, वह संवत्सर हुआ, इससे पहले संवत्सर नहीं था। लोकमें जितने कालका संवत्सर होता है उतने काल तक उस संवत्सरको वह मृत्यु-रूप प्रजापति गर्भमें धारण किये रहा। इतने समयके अनन्तर उसने उसको उत्पन्न किया। उस पैदा हुए कुमारके प्रति उसने खानेको मुख फाड़ा। इससे उसने डर-कर 'भाण्' ऐसा शब्द किया, वही वाणी हुई ॥ ४ ॥

वि० दि० भाष्य—उस मृत्युने कामना की यानी मनके द्वारा वेदत्रयीकी भावना की—आलोचना की, वेदत्रयीविहित सृष्टिक्रमका मनसे विचार किया, वह मृत्यु अशनायासे-क्षुधा-से लक्षित था। वेदकी आलोचना करनेपर उसने जो जन्मान्तर-कृत ज्ञानकर्मरूप बीज देखा, उस बीजभावसे भावित होकर जलकी रचना कर उस रेतरूप बीजके द्वारा जलमें प्रवेश किया और अण्डरूपसे गर्भस्थ रह वह संवत्सर हुआ। पहले संवत्सर नहीं था। फिर कुछ काल बाद वह अण्डा फोड़ दिया गया। मृत्युने क्षुधायुक्त होनेके कारण इस प्रकार उत्पन्न हुए उस प्रथम शरीरी कुमार अग्निके प्रति उसे खा जानेके लिए मुँह बाया। स्वाभाविकी अविद्याके वशवर्ती उस कुमारने मारे डरके 'भाण्' ऐसा शब्द कहा, यही वाणी हो गया।

पहले संवत्सर नहीं था, इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि—कालका व्यवहार वेदोत्पत्तिके अनन्तर हुआ है। अर्थात्—वेदके ज्ञाता लोगोंने ही भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इस प्रकार कालका व्यवहार किया। कुछ दिन बाद घटी, लव, निमेष (घण्टा, मिनट-सेकेण्ड) आदिका व्यवहार होने लगा। यद्यपि काल बहुत ही पुराना है, पर वेद भी तो कम प्राचीन नहीं है। वैदिक ज्ञानकी धारा कबसे जगत्में प्रवाहित हुई, इसे स्यात् ही कोई जानता हो।

यह पहले कहा जा चुका है कि यह जो मृत्यु थी, उसने स्वयं ही अपनेको ब्रह्माण्डके अन्दर जलादिके क्रमसे कार्यकरणसंघातवान् विराट् अग्निके रूपमें रचा और अपनेको तीन भागोंमें विभक्त किया ॥ ४ ॥

यद्यपि मृत्यु क्षुधातुर थी, तथापि डरकर शब्द कर रहे कुमारको देखकर उसने विचार किया, यह कहते हैं, यथा—

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य

इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूꣳषि सामानि च्छन्दाꣳसि यज्ञान्प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

भावार्थ—उसने विचार किया यानी सङ्कल्प किया—यदि मैं इसे मार डालूँगा तो यह थोड़ासा ही भोजन करूँगा। अतः उसने उस वाणी और मनके द्वारा इन सबको उत्पन्न किया जो कुछ ये ऋक्, यजुः, साम और अथर्व, उनसे होनेवाले यज्ञ, यज्ञोंको करनेवाली प्रजा तथा उनके लिए घृतादि पदार्थ देनेवाले गौ आदि पशु हैं। उसने जिस-जिसको उत्पन्न किया उसी-उसको भक्षण कर जानेका विचार किया। वह सबको खाता है, यही उस अदितिनामक मृत्युका अदितित्व प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार अदितिके इस अदितिपनको जानता है वह सबका भोक्ता होता है और इस प्रकार जाननेवालेका यह सब अन्न खाद्य होता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—यह सम्पूर्ण जगत् उसका अन्नभूत है, वह जगत्का सर्वात्मभावसे अत्ता है, संसारमें कोई एक सबका भक्षक नहीं हो सकता। अतः जो सर्वात्मभावसे युक्त है, उसीका सब कुछ अन्न होना सम्भव है। सबका अदन—भक्षण करनेसे जो अदितिसंज्ञक मृत्यु प्रजापतिका अदितित्व जानता है, उसे यह फल प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

यज्ञेच्छुक प्रजापतिके प्राण और वीर्यके निकलनेका प्रकार यह है—

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—उसने यह संकल्प किया कि 'मैं बड़े भारी यज्ञसे यजन करूँ।' इससे वह श्रमयुक्त हो गया। उस थके हुए और परितप्त मृत्युका यश एवं वीर्य निकल गया। प्राण ही यश और बल है। अनन्तर प्राणोंके निकल जाने पर शरीरका फूलना शुरू हुआ। किन्तु उसका मन शरीरमें ही रहा।

वि० वि० भाष्य—प्रजापतिने जन्मान्तरमें अश्वमेध यज्ञ किया था, अतः उसकी भावनासे युक्त हुआ ही वह कल्पके प्रारम्भमें प्रजापति हुआ। अश्वमेधके क्रिया, कारक और फलोंसे सम्पन्न होकर उसने कामना की कि मैं पुनः महान् यज्ञ द्वारा यजन करूँ। इस बड़े कामकी कामना करके वह अन्य लोगोंकी तरह थक गया।

चक्षु आदि जो प्राण हैं वे ही यशके हेतु होनेके कारण यश हैं, क्योंकि उनके रहनेपर ही ख्याति होती है, तथा वे ही इस शरीरमें वीर्य यानी बल हैं।

जब यश—वीर्यरूप प्राण निकल गये तो शरीर फूल गया और वह अपवित्र भी हो गया। इसका तात्पर्य यह है—श्रुति उपदेश देती है कि जैसे प्राणके निष्क्रमण होनेसे शरीर फूल जाता है, उसी प्रकार मेरी उपासनासे रहित मन भी विषयोंसे फूलकर अमेध्य—अपवित्र—हो जाता है। यह बात है कि जैसे किसी प्रिय वस्तुके दूर हो जानेपर भी मन उसमें लगा रहता है, वैसे ही शरीरसे निकल जानेपर भी उस प्रजापतिका मन उस शरीर में ही लगा रहा ॥ ६ ॥

उस शरीरमें ही जिसका मन लगा हुआ है, ऐसे उस प्रजापतिने क्या किया ? यह कहते हैं, यथा—

सोऽकामयत मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुध्यैवामन्यत। तꣳ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत। पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्त। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७ ॥

भावार्थ—उसने संकल्प किया कि यह मेरा शरीर मेध्य—यज्ञिय या पवित्र हो, मैं इस शरीरसे शरीरवाला होऊँ। क्योंकि यह शरीर उसके वियोगसे यशोवीर्यहीन होकर अश्वत् यानी फूल गया था। अतः यही अश्वमेधका अश्व-

मेधत्व है। इसी लिए वह अश्व हो गया और वह मेध्य हुआ। जो इस अश्वमेधको जानता है, वही ठीक ज्ञाता है। उसने उसे बन्धनरहित जाना। उसने पूरे संवत्सरके पीछे अपने ही लिए आलभन किया तथा अन्य पशुओंको भी अन्यान्य देवताओंके प्रति प्राप्त कराया। इसीलिए यज्ञकर्ता जन वेदमन्त्रों द्वारा संस्कृत, सर्वदेवसम्बन्धी प्राजापत्य पशुका आलभन करते हैं। यह जो सूर्य अपने तेजसे जगत्को प्रकाशित करता है वही अश्वमेध है। संवत्सर उसका शरीर है। यह अग्नि अर्क है, ये लोक उस अर्कके शरीरके अवयव हैं। अग्नि और आदित्य ये ही दोनों अर्क तथा अश्वमेध हैं। पर वे मृत्युरूप देवता एक ही हैं। जो इस प्रकार अश्वमेधको मृत्युरूप एक देवता जानता है, वह पुनः मृत्युको जीत लेता है। उसे मृत्यु नहीं पा सकता, मृत्यु उसका अपना हो जाता है यानी शत्रु नहीं रहता तथा इन देवताओंके मध्यमें ही वह कोई एक हो जाता है॥ ७॥

वि० वि० भाष्य— मैं ही अश्वमेधरूप मृत्यु हूँ' 'अग्नि और अश्वरूप साधनसे सिद्ध होनेवाला एक देवता मेरा ही रूप है।' जो इस प्रकार उपासना करता है, वह एक बार मरकर पुनः मरनेके लिए उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार जाननेवालेका मृत्यु आत्मा हो जाता है, अर्थात् मृत्यु ही फलरूप होकर इन देवताओंमेंसे कोई एक हो जाता है।

कोई विद्वान् इस ब्राह्मणका यह तात्पर्य बतलाते हैं कि परमात्माने इस विराट् रूपको उत्पन्न करके इस अल्प रचनासे सन्तोष नहीं प्राप्त किया, अतः इस सम्पूर्ण कार्यसंघातकी विस्तारपूर्वक रचना की। फिर इसको बनाकर सर्वश्रेष्ठ प्राणोंको रचा। जैसे प्राणोंके निकल जानेसे शरीर अमङ्गल हो जाता है, वैसे ही ईश्वरोपासना-विहीन मनुष्यका मन अमंगलरूप हो जाता है। अश्वमेधका यही अश्वमेधत्व कहा गया है। जो ऐसा जानता है यानी जो अपने मनरूपी शरीर में ईश्वरो-पासनारूप प्राण डालता है, ऐसी उपासना करनेवाला जीव परमात्मा को प्राप्त करता है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करने से उसकी सब इन्द्रियाँ सफल होती हैं। ऐसा मनुष्य मृत्युको जीत लेता है, क्यों कि मृत्यु उसका आत्मा हो जाता है। जब कि उसने अपनेको परमात्माके अर्पण कर दिया तो उसको मृत्युका भय कैसा? ऐसा मनुष्य ब्रह्मविद्याका ज्ञाता होकर सब प्रकारकी विद्या जाननेवालोंमें प्रधान हो जाता है।

भाष्यकार श्रीशंकराचार्य 'अश्व' यह नाम प्रजापतिका बतलाते हैं, उसीकी स्तुति यहाँ की गई है। यज्ञ ही क्रिया, कारक और फलरूप होता है, वही प्रजापति

है; ऐसा कहकर उसकी स्तुति की गई है। इस प्रकरणमें प्रजापतिरूप मेध्य अश्वकी और यज्ञफलरूपसे उसीके समान उपर्युक्त अग्निकी उपासनाका विधान किया गया है ॥ ७ ॥
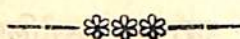
तृतीय ब्राह्मण

यह स्वाभाविक पापका सङ्गी मृत्यु क्या है ? उसकी उत्पत्ति कहाँ से होती है, उसका अतिक्रमण किसके द्वारा हो सकता है तथा किस प्रकार हो सकता है ? इस प्रयोजनके वर्णन करनेके लिए आख्यायिका आरम्भ की जाती है, जैसे—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सृष्टिमें प्रजापतिकी देवता और असुर दो प्रकारकी सन्तति थीं, उनमें देव कम थे और असुर अधिक थे। वे लोकमें आपसमें डाह करने लगे। उनमें से देवताओंने विचार किया कि हम यज्ञमें उद्गीथ—प्रणवोपासना द्वारा असुरोंको अवश्य अतिक्रमण कर जीतेंगे ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—वे देवता और असुर कौन थे ? उत्तर यह है कि प्रजापतिके वागादि प्राण ही देवासुर थे। अच्छा तो उनका देवासुरपना किस बातसे है ? इसपर कहते हैं—शास्त्रजनित कर्म और ज्ञानसे भावित जो प्राण हैं वे प्रकाशमय होनेके कारण देवता हैं, और वे प्राण ही स्वाभाविक प्रत्यक्ष एवं अनुमानजन्य इष्ट प्रयोजनवाले ज्ञान और कर्मसे भावित होने पर असुर हैं। असुर अधिक हैं, क्योंकि वे ज्ञान और कर्मका प्रयोजन प्रत्यक्ष मिलना चाहिए, इस भावनासे भरे हैं। बात यह है कि शास्त्रजनित जो कर्म ज्ञान है उसमें होनेवाली प्रवृत्तिकी अपेक्षा स्वाभाविक कर्म-ज्ञानमें प्रवृत्ति ज्यादा होती है। इसीलिए देवताओंको छोटा कहा, क्योंकि उनकी शास्त्रजनित प्रवृत्ति कम है, क्योंकि उसमें काफी यत्न करना पड़ता है।

यहाँ दैवी और आसुरी वृत्तियोंका उठना और दबना ही देवता और असुरोंकी परस्पर स्पर्धा है। जब कभी प्राणोंकी शास्त्रीय कर्म और ज्ञानकी वृत्ति उठती है, उस समय उनकी दृष्ट प्रयोजनवाली, प्रत्यक्ष एवं आनुमानिक कर्म ज्ञानकी भावनात्मक
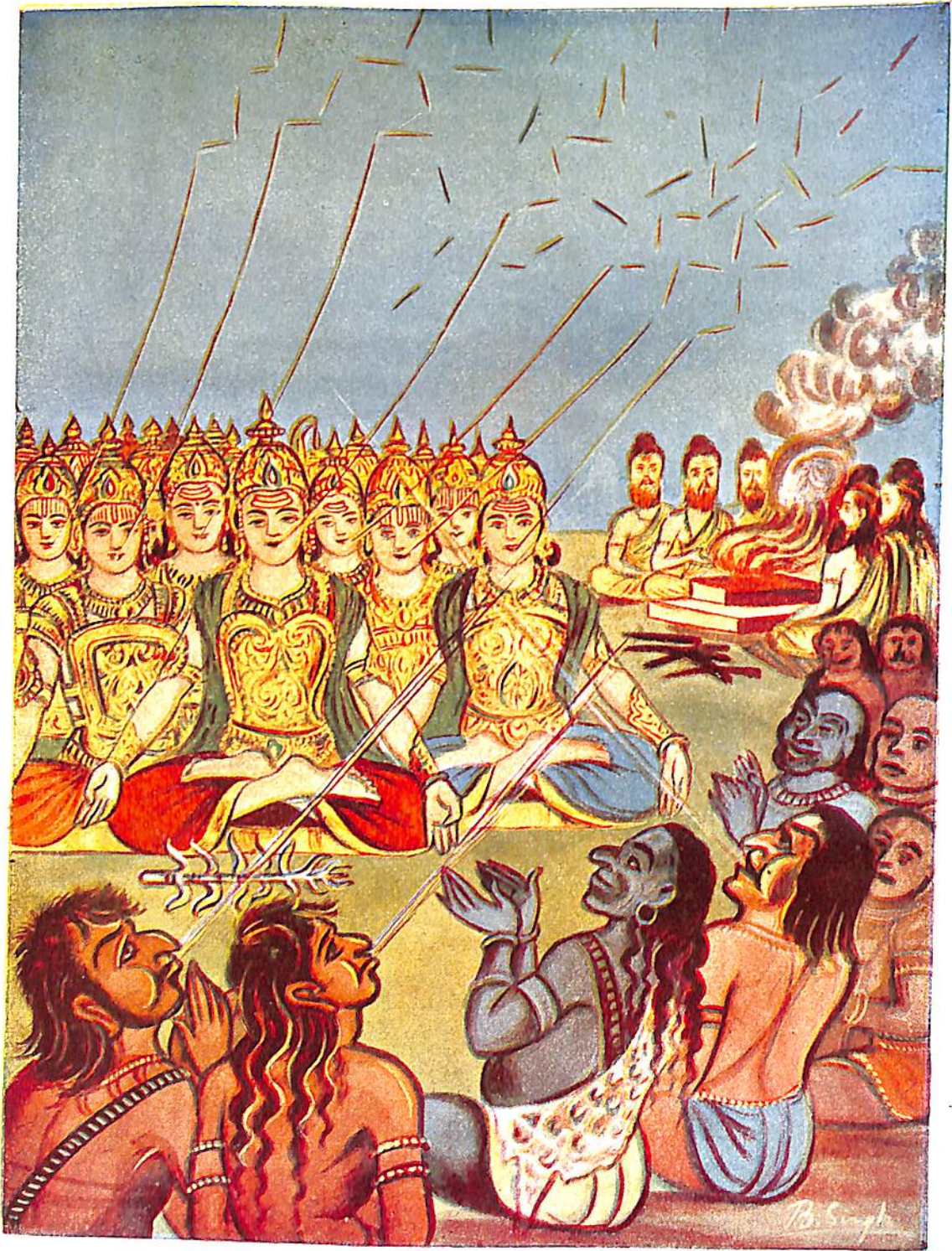
यज्ञमें देवताओंका उद्‌गीथ (साम) गान और असुरोंका उसे खण्डित करना।

યજ્ઞમાં દેવતાઓનું ઉદ્‌ગીથ (સામ) ગાન અને અસુરોનું તેમાં વિઘ્ન નાંખવું.

आसुरी वृत्ति दब जाती है। यही देवताओंकी विजय और असुरोंकी पराजय है। कभी इसके विपरीत देवताओंकी वृत्ति दब जाती है और असुरोंकी वृत्ति उठ जाती है। देवताओंकी विजयसे धर्मके बढ़नेसे प्रजापतिपदकी प्राप्ति तक उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता जाता है और असुरोंकी विजय होनेसे अधर्मके बढ़नेसे स्थावर भावकी प्राप्ति तक नीचे नीचे क्रमशः अधोगति होती जाती है। दोनों समान हों तो मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है।

तब अधिकसंख्यक असुरोंके द्वारा दबाये गये देवता अपना उद्धार पानेके लिए परस्पर यों कहने लगे—हाँ, वर्तमानमें हम लोग इस ज्योतिष्टोम यज्ञमें उद्गीथ नामक कर्मके कर्ता बनकर (प्राणरूपताका आश्रय लेकर) असुरोंका पराभव कर शास्त्रसम्मत देवभावको प्राप्त कर लें। उद्गीथ नामका जो कर्म पदार्थ है, उसके कर्ताके स्वरूपका आश्रयण ज्ञान और कर्मके द्वारा किया जा सकता है ॥ १ ॥

उस उपास्यके स्वरूपको निश्चय करनेके लिए 'तेह वाचमूचुः' इत्यादि छः कण्डिकाओंसे परीक्षाका प्रकार दिखाते हैं, यथा—

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत् । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ २ ॥

भावार्थ—उन देवताओंने वैसा निर्णय कर वाणीके अभिमानी देवतासे कहा—तुम हम लोगोंके लिए उद्गाताका कर्म सम्पादन करो। वाणीने कहा—'तथाऽस्तु' मैं ऐसा ही करूँगी। ऐसा कहकर उनके लिए वाणीने उद्गाताका कर्म (उद्गान) किया। जो वागिन्द्रियमें भोग था यानी वाणीको निमित्त बनाकर जो वाक् आदि इन्द्रियोंका उपकार वचनादि व्यापार से होता है, उसे तो उन देवताओंके लिए उद्गान किया और जो अच्छा भाषण था—वक्तव्य था—उसे अपने लिए किया। तब उन असुरोंने जाना कि इस उद्गाताको लेकर देवगण हमें पराजित करेंगे। अतः उन्होंने पास जाकर उसे पापसे बींध डाला। यह वाणी जो शास्त्रसे प्रतिषिद्ध भाषण करती है वही यह पाप है, वही यह पाप है ॥ २ ॥

देवताओं द्वारा उद्गाता बनाये गये प्राणरूप घ्राणका पापविद्ध होना—

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद् यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वे देवता घ्राणरूप प्राणसे बोले—तुम हम लोगोंके उद्गाता बनो। तब उसने 'तथास्तु' कहकर उनके लिए उद्गान किया। घ्राणरूप प्राणमें जो भोग है उसे उसने देवताओंको दिया और जो उसका सुगन्ध ग्रहण करना है उसे अपने लिए रख लिया। उन असुरोंने जाना कि अवश्य ही इस उद्गाताके द्वारा देवता हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः असुरोंने उसके समीप जाकर उसे विषयासक्तिरूप पापसे विद्ध किया। वह जो पाप है, वह यही पाप है कि जो घ्राणसे शास्त्रनिषिद्ध सूँघना है। वही यह पाप है ॥ ३ ॥

चक्षुका पापविद्ध हो जाना—

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥ ४ ॥

भावार्थ—फिर उन्होंने चक्षुसे कहा—तुम हमारे उद्गाता बनो। देवताओंकी इस प्रार्थनाको 'तथास्तु' से स्वीकार कर चक्षुने उनके लिए उद्गान किया। जो चक्षुका उत्तम भोग था वह उसने देवताओंको दिया, जो उसका सुन्दर रूप ग्रहण करना था वह अपने लिए रख लिया। 'इस उद्गाताके द्वारा देवता हमें परास्त कर देंगे' यह सोचकर असुरोंने उसे विषयासक्तिरूप पापसे युक्त कर दिया। जो वह पाप है, वह यही है कि वह शास्त्रविरुद्ध देखती है। वही पाप है, वही पाप है ॥४॥

श्रोत्रको उद्गाता बनाया गया तो वह भी पापविद्ध हो गया—

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः

श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५ ॥

भावार्थ—अनन्तर देवताओंने श्रोत्रसे कहा—तुम हम लोगोंके लिए उद्गान करो, श्रोत्रने 'तथास्तु' कहकर उनके लिए उद्गान किया। श्रोत्रने अपना भोग तो देवताओंको दिया पर शुभ श्रवण करना अपने लिए रख लिया। असुरोंने उसे पहले ही यह जानकर पापसे विद्ध कर दिया कि इसीके द्वारा देवता हमारा अतिक्रमण कर लेंगे। यह जो अननुरूप श्रवण करता है, वही यह पाप है, वही यह पाप है।

जब देवोंने मनको उद्गाता नियुक्त किया तो वह भी पापलिप्त हो गया, जैसे—

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणꣳ संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्पनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥ ६ ॥

भावार्थ—उन देवताओंने मनसे कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो। यह सुन मनने 'अच्छा ठीक है' यह कहकर उनके लिए उद्गान किया। मनमें जो भोग था उसका उसने देवताओंके लिए आगान किया और यह जो शुभ सङ्कल्प करता है अर्थात् उसका जो उत्तम संकल्प है वह उसने अपने लिए गाया। 'इस उद्गाताके द्वारा देवता हमपर आक्रमण करेंगे' यह जब असुरोंको मालूम पड़ा, तो उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप—शास्त्र-विरुद्ध संकल्प करता है वही यह पाप है, वही पाप यह है। अवश्य ही इस तरह इन देवताओंको पापका संसर्ग हुआ, और ऐसे ही असुरोंने इन्हें पापविद्ध

किया। अर्थात् इस प्रकार सब इन्द्रिय विषयासक्त होनेसे पापिष्ठ हो गई, और वे पापी होनेके कारण आसुरी वृत्तियोंपर विजय न पा सकीं ॥ ६ ॥

अब देवता मुख्य प्राणको अपना उद्गाता बनाते हैं, यथा—

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तदभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यत्स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवं हैव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

भावार्थ—वागादि सब इन्द्रियोंके अनन्तर देवता शरीरको चेष्टा देनेवाले मुख्य प्राणसे बोले कि आप हमारे उद्गाता बनना स्वीकार करें। प्राणने 'तथास्तु' कहकर उनके लिए उद्गान किया। असुरोंने जाना कि देवता इस उद्गाताके द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके समीप जाकर उसको भी पापसे विद्ध करनेकी चेष्टा की। किन्तु जिस प्रकार मिट्टीका ढेला पत्थरसे टकराकर चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार वे विध्वस्त होकर—बिखरकर—अनेक प्रकारसे नष्ट हो गये। तब देवता लोग प्रकृतिस्थ हो गये, यानी चैनकी साँस ली और असुरोंकी पराजय हुई। जो इस प्रकार जानता है वह प्रजापतिरूपसे स्थित होता है और उससे शत्रुता रखनेवाले सौतेले भाईकी हार होती है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—यह समझना चाहिये कि प्रत्येक पुरुषके अन्तःकरणमें दो प्रकारकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, एक धर्म-परोपकार त्यागकी, २—दूसरी पापमय त्यागकी। ये वृत्तियाँ इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होती हैं, इसीलिए इन्द्रियोंको देव तथा असुर रूपसे वर्णन किया गया है। स्वार्थपूर्ण वृत्तियाँ मनुष्यके साथ ही जन्मती हैं इसीलिए वे बड़ी यानी अधिक होती हैं। और धार्मिक वृत्तियाँ शास्त्रके अभ्यास तथा सद्गुरु—आचार्य—के प्रसाद द्वारा कठिनतासे उत्पन्न होती हैं, इसीसे वे छोटी यानी कम हैं। जब धार्मिक वृत्तियाँ या धारणाएँ उदय होती हैं तब वे स्वार्थपरायण वृत्तियोंको दबाना चाहती हैं और दूसरी ओर आसुरी वृत्तियाँ, जिन्होंने जन्मसे ही मनुष्यके अन्दर घर कर रखा है, वे दैवी वृत्तियोंको निकाल बाहर करनेकी

चेष्टा करती हैं। यही इस आख्यायिकाका संक्षिप्त अभिप्राय है, इसीको देवासुर-संग्राम कह सकते हैं।

तत्त्व यह है कि जिस प्रकार प्राण शरीरमें रहकर निःस्वार्थ भावसे अपने कर्तव्यका पालन करता है, इसी तरह मनुष्यको स्वार्थरहित होकर लोककल्याणार्थ काम करना चाहिए। स्वार्थपरायण मनुष्य वाक् आदि इन्द्रियोंकी तरह कृतकार्य नहीं हो सकते। जो परोपकारी लोग हैं वे प्राणोंकी तरह सदा अपना कर्तव्य सफल करनेमें समर्थ होते हैं॥ ७॥

अब प्राणविषयक अन्य महत्त्वोंका वर्णन करते हैं, यथा—

ते होचुः क नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः॥ ८॥

भावार्थ—वे वागादि इन्द्रिय बोलीं—किसने हमें देवभावको प्राप्त कराया है, वह कहाँ रहता है? इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात हुआ कि मुखके भीतर जो आकाश है, उसमें वह रहता है। इसी कारण उसको 'अयास्य' कहते हैं। इसका नाम 'आङ्गिरस' भी है, यह शरीरके सब अङ्गोंका सारभूत है, क्योंकि इसके निकल जानेसे शरीर सूख जाता है॥ ८॥

'प्राण स्वतः शुद्ध है, किन्तु अशुद्ध वागादिके सम्बन्धसे अशुद्ध हो जाता है' इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए उस विशिष्ट उपासनाको कहते हैं जिसका पापहानि रूप असाधारण गुण है, यथा—

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद॥ ९॥

भावार्थ—वह यह देवता अर्थात् प्राण दूर नामधारी भी है, क्योंकि इससे मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है, उससे मृत्यु दूर रहता है। भाव यह है कि प्राण असङ्ग-धर्मी है, यानी असङ्ग है। अतः समीपमें स्थित होनेपर भी इससे मृत्युकी दूरी है॥ ९॥

यही स्पष्ट करते हैं, यथा—

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो

विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्यु-मन्ववायानीति ॥ १० ॥

भावार्थ—इस प्रसिद्ध प्राण देवताने वागादि देवताओंके पापको यानी मृत्युको हनन करके—हटाकर जहाँ इन दिशाओंका अन्त है वहाँ पहुँचा दिया। इसने तिरस्कारके साथ उनके पापको वहाँ स्थापित कर दिया। 'मैं पापरूप मृत्युसे अनुगत न हो जाऊँ' इस भयसे अन्त्यजनोंके पास न जाय तथा अन्त दिशाके पास भी न जाय ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—प्राणने इन्द्रियरूप देवोंके पापको असंस्कृत जनोंमें स्थापित कर दिया, वह इसलिए कि विषयी जनोंसे ये भाषणादि संसर्ग न करें, या यों कहो कि विषयी लोगोंसे भय करें। क्योंकि यदि हम उक्त जनोंसे संसर्ग करेंगे तो विषयासक्तिरूप मृत्युको प्राप्त होंगे। स्वाभाविक अज्ञानप्रेरित इन्द्रिय-विषयोंके संसर्गजनित अभिनिवेशसे होनेवाले पापसे ही सब जीव मरते हैं, इस-लिए वही मृत्यु है। 'दिशाओंके अन्तमें पहुँचा दिया' यह क्या कहा? दिशाओंका तो अन्त ही नहीं है। इसपर कहते हैं कि दिशाओंकी कल्पना श्रौतविज्ञानवान् पुरुषोंकी सीमा पर्यन्त ही की गई है, अतः उनसे विरुद्ध आचरणवाले लोगोंसे बसा हुआ देश ही दिशाओंका अन्त है। पहले यह नियम था कि धर्मसे पतित लोगोंको ग्राम या नगरकी सीमापर वास दिया जाता था और धार्मिक पुरुष उनसे पृथक् रहते थे ॥ १० ॥

अब इस कण्डिकासे संगृहीत देवताभावके फलको स्पष्ट करते हैं, यथा—

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥

भावार्थ—इस प्रसिद्ध प्राणने इन वागादि देवताओंके पापरूप मृत्युको यानी विषयासक्तिरूप पापको दूर करके फिर इन्हें मृत्युसे परे पहुँचाकर अपने अपने अग्नि आदि भावोंको प्राप्त कराया। अर्थात् प्राणने वागादि देवताओंको इनके अपरिच्छिन्न अग्नि आदि देवतात्मस्वरूपको (इनके प्रकृत पापरूप मृत्युको पार कर) प्राप्त करा दिया ॥ ११ ॥

इस प्रकार सामान्य रूपसे कहे 'अतिवहन' को ही प्रत्येकके लिए कहते हैं, यथा—

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥१२॥

भावार्थ—उस प्रसिद्ध प्राण देवताने प्रधान वाग्देवताको मृत्युके पार पहुँचाया, याने प्रथम वाणीको मुक्त किया, क्योंकि वही सबमें मुख्य है। जिस समय वह वाणी मृत्युसे पार हुई तो वह अग्नि हो गई। वह यह अग्नि मृत्युका अतिक्रमण करके उससे परे होकर प्रकाशमान हो रही है ॥ १२ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जब वाणी असत्यभाषणादि पापोंसे (मिथ्या भाषण ही वाणीका पाप है—मृत्यु है) रहित हो जाती है तो सत्यके प्रभावसे वह अग्निकी तरह चमकने लगती है। या यों कह सकते हैं कि वेदके यथार्थ कथनरूप प्रकाशसे वाणी अज्ञानरूप अन्धकारको छिन्न-भिन्न करनेमें समर्थ होती है। लोकमें आप्त पुरुष प्रामाणिक माना जाता है, आप्त वह है जो सत्य बोलता हो, अर्थात् जिसकी वाणी असत्यभाषणरूप पापसे विद्ध न हो। जिसकी वाणी उक्त दोषसे रहित होती है, वह पंचायतन गोष्ठीमें सूर्यके समान चमकता है ॥ १२ ॥

अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३ ॥

भावार्थ—फिर उसने प्राणका अतिवहन किया, अर्थात् वाणीके पश्चात् घ्राणेन्द्रियको पापसे मुक्त किया। जिस समय वह मृत्युसे पार हुई वायुरूप हो गयी। वह अतिक्रान्त वायु मृत्युसे पार होकर वहता है ॥ १३ ॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

फिर चक्षु इन्द्रियको अतिवहन यानी पापसे मुक्त किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुई तो आदित्य हो गई, अर्थात् सूर्यकी तरह असङ्ग होकर चमकने लगी। वह यह अतिक्रान्त आदित्य मृत्युसे परे होकर तपता है ॥ १४ ॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवꣳस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५ ॥

भावार्थ—चक्षुके अनन्तर प्राणने श्रोत्रका अतिवहन किया, वह जब मृत्युसे—

विषयासक्तिरूप पापसे मुक्त हुआ तो वही दिशा हो गयीं। वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ मृत्युसे परे हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार इनको अग्न्यादि देवत्व प्राप्त होनेपर भी उपासकको क्या मिला ? इस विषयमें कहते हैं. यथा—

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣳ ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

भावार्थ—श्रोत्र इन्द्रियके बाद प्राणने मनको अतिवहन–मुक्त किया, जब यह विषयासक्तिरूप पापसे मुक्त हुआ तो चन्द्रमा हो गया। यानी जिस प्रकार चन्द्रमा शीतल तथा आह्लादक है उसी प्रकारका मन भी हुआ। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा मृत्युसे परे प्रकाशमान है। जो इसको इस प्रकार जानता है, यह देवता उसका इसी प्रकार मृत्युसे अतिवहन–पार–करता है ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—उक्त मन्त्रोंका तात्पर्य किसी महात्माने यह भी बताया है कि विषयासक्त इन्द्रियाँ इस शरीरको पापी बनाकर स्वयं ऐसे नष्ट हो जाती हैं जैसे पाला खेतीको जलाकर स्वयं गल जाता है। जैसे अग्नि स्पर्श करनेवालेके अङ्गोंको जला देती है, ऐसे ही विषयासक्तिरूप पाप इन्द्रियोंको मृत्युकी ओर ले जाते हैं। जितेन्द्रिय मनुष्य इन्द्रियोंके संयम द्वारा विषयासक्तिरूप पापसे मुक्त हो संसारमें निर्भय होकर विचरता है। पहले कह आये हैं कि वाणीका वास्तिक रूप अग्नि, प्राणका वायु, तेजका आदित्य, श्रोत्रका दिशाएँ और मनका चन्द्रमा है, जो संयमी पुरुष हैं उनकी ही इन्द्रियाँ अग्नि आदित्यादि रूपसे चमकती हैं। ऐसे मनुष्य ही चतुर्वर्गके अधिकारी होते हैं। जो इन्द्रियोंके दास हैं वे कभी बन्धनमुक्त नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

अब प्राणको अन्नका भोक्ता कथन करते हैं, यथा—

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर उसने अन्नाद्यका आगान किया, अर्थात् जो अन्न हो और भक्ष्य हो उस अन्नाद्यका आगान किया, यानी पाचनक्रियाको अपने ही अधीन रखा। क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है वह प्राणसे ही खाया जाता

है, और उस अन्नमें प्राण प्रतिष्ठित होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणका अन्नभक्षण वागादि इन्द्रियोंकी तरह स्वार्थ साधनके लिए नहीं होता, किन्तु 'इस शरीरमें प्रतिष्ठा पाकर अन्य इंद्रियोंको जीवन दे सके' इस अभिप्रायसे उसका भक्षण होता है॥१७॥

प्राणके प्रति अन्न चाहनेवाली इन्द्रियोंकी प्रार्थनाका वर्णन करते हैं, यथा—

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त। तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

भावार्थ—वे वागादि इन्द्रियाँ प्राणसे बोलीं कि हे प्राण, यह जो अन्न है, वह सब इतना ही तो है ही, उसे तुमने अपने लिए आगान कर लिया, यानी अपने ही लिए रख लिया। अपने लिए रखे गये अन्नमें से उपयोगके बाद हमें भी कुछ भाग दो। प्राणने कहा—तुम अन्न चाहनेवाले चारों ओरसे मुझमें प्रविष्ट हो जाओ। तदनन्तर 'ऐसा ही होगा' यह कहकर वे सब ओर से उसमें प्रवेश कर गयीं। अतः मनुष्य प्राण द्वारा जो अन्न भक्षण करता है उससे ये प्राण यानी वागादि इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं। इसीसे जो इस प्रकार जानता है उसके सब सम्बन्धी इसका आश्रय ग्रहण करते हैं। वह प्राणकी तरह अपने सम्बन्धियोंका पालन करनेवाला, उनमें पूज्य, उनका अग्रगामी होता है तथा अन्नका भोक्ता और सबका अधिपति होता है। ज्ञातियोंमें जो भी इस प्रकारके ज्ञाताके प्रति स्पर्धावाला यानी प्रतिकूल होना चाहता है वह अपने आश्रितोंका पालन करनेमें समर्थ नहीं होता। जो भी इस ज्ञाताके अनुकूल रहता है, जो कोई भी इसके अनुसार रहकर अपने सम्बन्धियोंका—पोषणियोंका पालन पोषण करना चाहता है, वह अवश्य ही अपने आश्रितोंका भरण कर सकता है॥ १८॥

प्राण अङ्गोंका रस है, इसकी उपपत्ति दिखाते हैं, यथा—

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः प्राणो वा अङ्गानाꣳ रसः प्राणो हि वा अङ्गानाꣳ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाꣳ रसः ॥ १९ ॥

भावार्थ—अयास्य—मुखमें रहनेवाला प्राण निश्चय करके अङ्गोंके मध्यमें रसरूप है, यानी यह अङ्गोंका सार है। प्राण ही अङ्गोंका रस–तत्त्व है। इसी कारण जिस अङ्गसे प्राण निकल जाता है, वह उसी जगह सूख जाता है। इसीलिए प्राणको अङ्गोंका रस वर्णन किया गया है॥ १९॥

प्राण ऋग्वेदस्वरूप है, अतः उस रूपसे उसकी उपासनाके लिए कहते हैं, यथा—

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

भावार्थ—यह प्राण ही बृहस्पति है और ऋचारूप वाणी बृहती है। प्राण वाणीका पति है, इसीलिए यह बृहस्पति है॥ २०॥

वि० वि० भाष्य—यह प्राण ही प्रकृत आङ्गिरस बृहस्पति है। वह ऐसा कैसे है यह बताते हैं—वाक् ही छत्तीस अक्षरोंवाला बृहती छन्द है, यद्यपि वाक् अनुष्टुप् भी है तथापि वह बृहती छन्दमें अन्तर्भूत हो जाता है। यह प्राण बृहती यानी ऋक्का पति है, क्योंकि यही उसको अभिव्यक्त करनेवाला है। अथवा वाणीका पालन करनेके कारण यह उसका पति है। क्योंकि प्राणहीनमें शब्दोच्चारण करनेकी शक्ति नहीं होती। अतः यह बृहस्पति ऋचाओंका प्राण है याने आत्मा है॥२०॥

ऐसे ही यह यजुर्वेदके मन्त्रोंका भी आत्मा है, सो कैसे, यह कहते हैं, यथा—

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

भावार्थ—इसी प्राणको ब्रह्मणस्पति भी कहते हैं, वाणी ही ब्रह्म है, उसका यह पति है, इसी कारण इसको ब्रह्मणस्पति कहा है॥ २१॥

वि० वि० भाष्य—अनेक श्रुतिप्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि बृहती और ब्रह्म क्रमशः ऋक् और यजुःके ही वाचक हैं॥ २१॥

अब 'प्राण सामवेदरूप है' यह कहते हैं, यथा—

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ।२२।

भावार्थ—यह प्राण ही साम है, क्योंकि वाणी 'सा' तथा प्राण 'अम' है, ये ही दोनों मिलकर 'साम' बनते हैं । यही सामका सामत्व है। क्योंकि यह प्राण मक्खीके समान है, मच्छरके तुल्य है, हाथीके जैसा है, इस त्रिलोकीके बराबर और इन सभीके सदृश है, इसीसे यह साम कहाता है। जो उक्त प्रकारसे प्राणके सामभावको जानता है वह सामके सायुज्य तथा उसकी सलोकताको प्राप्त करता है। या यों कहो कि प्राणके समान उसकी महिमा होती है ॥ २२ ॥

वि० वि० भाष्य—यह प्राण किस प्रकारसे साम है ? यह कहते हैं। वाक् ही 'सा' है, जो कुछ भी स्त्रीशब्दवाच्य है वह वाक् है, समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों द्वारा कही जानेवाली वस्तुओंको 'सा' यह सर्वनाम शब्द विषय करता है। तथा 'अम' यह प्राण है। 'अम' शब्द सम्पूर्ण पुल्लिङ्ग शब्दों द्वारा कहे जानेवाले पदार्थोंका परामर्श करता है। यह भी है कि प्राणसे निष्पन्न होनेवाला जो स्वरादि समुदायमात्र गान है वह भी साम शब्दसे कहा जाता है। साममें किस प्रकारसे प्राणकी तुल्यता है ? सो कहते हैं कि जिस प्रकार गो-शरीरमें गोत्वकी पूर्णतया व्याप्ति होती है उसी प्रकार यह कीड़ी आदिके शरीरोंमें व्याप्त है इसीलिए प्राण उनके समान है, शरीर मात्रके बराबर होनेके कारण ही नहीं। क्योंकि यह अमूर्त और सर्वगत है। भाव यह है कि प्राण छोटेसे छोटे और बड़ेसे बड़े जीवका समान है, यह सारी प्रजा प्राणाश्रित होनेसे प्राणके समान है। जो प्राणके साथ एक ही देह और इन्द्रियादिका अभिमान प्राप्त करता है तथा भावनाविशेषसे सालोक्य यानी समान-लोकता प्राप्त करता है, उसका उद्धार हो जाता है ॥ २२ ॥

देहलीदीपक न्यायसे इसी फलश्रुतिका अनुसरण करके प्राणके अन्य गुणोंको कहते हैं, यथा—

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥ २३ ॥

भावार्थ—यह प्राण ही उद्गीथ है, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्राणसे ही धारण किये जानेके कारण 'उत्' कहा गया है। वाक् 'गीथा' है, वह 'उत्' और 'गीथा' भी है, इसलिए 'उद्गीथ' है ॥ २३ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ सामका प्रकरण होनेके कारण उद्गीथसे सामकी अवयवभक्तिविशेष समझनी चाहिए, उद्गान नहीं। प्राणसे ही यह सब जगत् 'उत्' याने विधृत है अतः प्राण 'उत्' है और 'गीथा' प्राणतन्त्रा वाक् है। जिस एक शब्दसे इन दोनोंका ग्रहण होता है, वह शब्द 'उद्गीथ' है ॥ २३ ॥

उद्गीथ देवता प्राण ही है, वागादि नहीं, इसी बातको दृढ़ करनेके लिए आख्यायिकाका कथन करते हैं, यथा—

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति॥२४॥

भावार्थ—चिकितायनके प्रपौत्र ब्रह्मदत्तने यज्ञमें सोम भक्षण करते हुए कहा—यदि अयास्य तथा अङ्गिरस नामक प्रधान प्राणने वाक्संयुक्त प्राणसे अतिरिक्त देवता द्वारा उद्गान किया हो तो यह सोम मेरा मस्तक गिरा दे। इससे यह निश्चय होता है कि उसने प्राण तथा वाणीसे ही उद्गान किया था ॥ २४ ॥

वि० वि० भाष्य—प्राचीन ऋषियोंके सत्रमें ब्रह्मदत्तने कहा कि उद्गाताने यदि वाक्संयुक्त प्राणसे भिन्न किसी अन्य देवता द्वारा उद्गान किया हो तो मैं मिथ्यावादी ठहरूँगा, अतः देवता विपरीत ज्ञान रखनेवाले मुझको मस्तकरहित करें, यानी मेरा सिर गिरा दें। यह शपथ साम विज्ञानमें दृढ़ता प्रकट करती है। यहाँ सिर गिरनेका तात्पर्य यह है कि सभामें सबके सामने लज्जित हो जाना। ऐसे मनुष्यका मस्तक नीचा हो जाता है, यानी नीचेकी ओर लटक जाता है, गिर जाता है॥२४॥

अब सामके उद्गाताके लिए फलका कथन करते हैं, यथा—

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो पुरुष उस प्रसिद्ध साम—मुख्य प्राणके धनको जानता है, उसे धन मिलता है, क्योंकि उस प्राणका स्वर ही धन है। इस कारण उचित है कि ऋत्विक्कर्म करनेवाला वाणीमें स्वरकी इच्छा करे, उस स्वरयुक्त वाणीसे ऋत्विक्कर्म करे। क्योंकि जिसका धन स्वर होता है यज्ञमें सब उसीको देखना चाहते हैं, जैसे लोकमें सभी धनवान्को देखते हैं। जो सामके इस स्वररूप धनको जानता है, वह धनसे युक्त होता है ॥ २५ ॥

वि० वि० भाष्य—कण्ठगत मधुरताको स्वर कहते हैं, सामकी वही शोभा है, स्वर सामका धन है, वह उसीसे विभूषित होता है। यज्ञ एक महोत्सव होता है, उसके अयोजनमें सामग्रीकी प्रधानता है, पर विशेषतः व्यक्ति ही मुख्य है। भाव यह है कि जितना ही मनुष्य प्रभावशाली होगा, उसका यज्ञानुष्ठानायोजन भी उतना बृहत् होगा। उसमें जो मनुष्य मधुरतासे सामगायन करेगा, उसे सब लोग ऐसे आनन्दसे देखेंगे, जैसे लोकमें अच्छे रागीको या धनिकको देखते हैं। इसलिए सस्वर साम गायन करना चाहिए ॥ २५ ॥

सामको जो सुवर्ण जानता है, उसे जो फल होता है, उसे कहते हैं, यथा—

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस प्रसिद्ध सामके सुवर्णको जानता है, वह सुवर्णवाला होता है, उसका स्वर ही सुवर्ण है। जो इस प्रकार सामके सुवर्णको जानता है वह धनाढ्य होता है ॥ २६ ॥

वि० वि० भाष्य—स्वर और सुवर्ण इन दोनोंके लिए सुवर्ण शब्दका प्रयोग समान रूपसे होता है, अतः उस गुणके विज्ञानका फल लौकिक सुवर्ण ही होता है। सुवर्णका अर्थ सुन्दर अक्षरोच्चारण भी होता है। अर्थात् जो स्वरके साथ सुन्दर अक्षरोच्चारपूर्वक साम गायन करता है, उसे सुवर्ण–सोना मिलता है तथा वह सुवर्ण–सुन्दर वर्ण (आकार–रूप–जातिवाला) समझा जाता है ॥ २६ ॥

अब सामके प्रतिष्ठा गुणके विधानके विषयमें कहा जाता है, यथा—

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति

तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस सामकी प्रतिष्ठाको जानता है वह सर्वत्र प्रतिष्ठित होता है। उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है। क्योंकि यह प्राण वाणीमें प्रतिष्ठित हुआ ही गाया जाता है। कई एक आचार्योंका कथन है कि प्राण अन्नमें प्रतिष्ठित हुआ ही गाया जाता है ॥ २७ ॥

वि० वि० भाष्य—वाक् सामकी प्रतिष्ठा है, वाणीके जिह्वामूल आदि आठ स्थानोंमें प्रतिष्ठित होकर ही यह प्राण गीतिभावको प्राप्त होता है। कोई आचार्य यह भी कहते हैं कि यह अन्नमें यानी अन्नके परिणामभूत शरीरमें प्रतिष्ठित करके गाया जाता है। यहाँ दोनोंके ही 'वाक् प्रतिष्ठा है' 'अन्न प्रतिष्ठा है' ये मत निर्दोष हैं ॥२७॥

अब अपने तथा यजमानके लिए प्रस्तोताकी प्रार्थनाका कथन करते हैं, यथा--

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तꣳ स एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

भावार्थ—प्राणविज्ञानका कथन करनेके अनन्तर पवमानोंका अभ्यारोह कहा जाता है। अर्थात् 'प्राणवेत्ता देवके लिए अभ्यारोहका फल प्राप्त हो' इस कथनके कारण पवमानोंकी अभ्यारोह नामक उपासनाका वर्णन करते हैं। वह प्रस्तोता निश्चय करके

यज्ञमें सामको प्रस्तुत याने आरम्भ करता है। जिस कालमें वह सामको आरम्भ करे तब प्रथम इन अर्थोंवाले मन्त्रोंका जप करे—'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ' 'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ' तथा 'मुझे मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाओ।' वह जिस समय यह कहता है कि 'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ' तो यहाँ मृत्यु ही असत् है तथा अमृत सत् है। इसलिए उसका कहना यही है कि मुझे मृत्युसे छुड़ाकर अमृत प्राप्त करा दो अर्थात् मुझे अमर कर दो। इसमें छिपाव कैसा है? यह तो खुली बात है कि पुरुष परमात्मासे प्रार्थना करे कि मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ।

इसके अनन्तर उद्गाता गान करे, यानी इसके अनन्तर जो स्तोत्र हैं उनमें वह अपने लिए अन्नाद्यका आगान करे। इसका कथन करनेके बाद यह वर माँगे तथा जिस भोग्य पदार्थकी इच्छा हो उसकी याचना करे। वह यह जाननेवाला उद्गाता अपने अथवा यजमानके लिए जिस भोग्य पदार्थकी इच्छा करता है, उसीको प्राप्त कर लेता है। वह यह प्राणदर्शन—नवविधस्तोत्र कर्म लौकिक पदार्थोंकी प्राप्तिका साधन है। जो इस प्रकारसे इस सामको जानता है, उसकी लोकप्राप्तिकी अयोग्यताके लिए प्रार्थना होती ही नहीं है॥ २८॥

वि० वि० भाष्य—ज्योतिष्टोमके बारह स्तोत्रोंमें कुछ स्तोत्रोंका नाम पवमान स्तोत्र है। जिस जपसे साक्षात् देवभावकी प्राप्ति हो उस मन्त्रजपका नाम अभ्यारोह मन्त्रजप है॥ २८॥

——❀❀❀——

चतुर्थ ब्राह्मण

अब विराट् पुरुषका वर्णन करते हैं, यथा—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद॥ १॥

भावार्थ—सृष्टिसे पहले यह सब पुरुषाकार आत्मा ही था, उसने चारों ओर आलोचन किया तो अपनेसे भिन्न और कुछ न देखा। उसने आरम्भमें 'अहमस्मि'—मैं हूँ, ऐसा कहा, इसी कारण वह 'अहम्' नामवाला हुआ। इसीसे बुलानेपर यह पुरुष भी पहले 'अयमहम्'—यह मैं हूँ, ऐसा कहकर इसके अनन्तर अपना जो दूसरा नाम होता है वह बतलाता है। क्योंकि इस सम्पूर्ण प्रपञ्चसे पूर्ववर्ती उस आत्मानामक प्रजापतिने सब पापोंको जला दिया था, इस कारण वह पुरुष हुआ। जो ऐसी उपासना करता है वह उसे भस्म कर देता है जो उस (विद्वान्) से पहले प्रजापति होनेकी कामना करता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस प्रकार यह प्रजापति समस्त प्रतिबन्धक पापोंको दग्ध करके पुरुषरूप प्रजापति हुआ, उसी प्रकार दूसरा उपासक भी ज्ञान और कर्मकी भावनाके अनुष्ठानरूप अग्निसे अथवा केवल ज्ञानसे उसे भस्म कर देता है ॥१॥

जिस प्राजापत्यरूप कर्मकाण्डविहित ज्ञान तथा कर्मके फलकी स्तुति करना अभीष्ट है, वह सांसारिक विषयसे बाहर नहीं है, यह दिखाते हैं, यथा—

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह विराट् डर गया, क्योंकि अकेला पुरुष भयभीत होता है। उसने यह आलोचन किया कि जब मुझसे भिन्न कुछ नहीं है तो मैं क्यों डरता हूँ। इस प्रकार विचार करनेसे उसका भय जाता रहा। (अत्र विचार यह करना है) उसे भय क्यों हुआ ? भय तो दूसरेसे ही हुआ करता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जिसकी पुरुषाकार प्रथम शरीरीके रूपमें व्याख्या की गई है वह पुरुषविध शरीरेन्द्रियवान् प्रजापति आत्मनाशरूप विपरीत ज्ञानवाला होनेके कारण डर गया। जब उसने विचार किया तो उसका भय जाता रहा, क्योंकि दूसरा उससे अन्य था ही नहीं, फिर डर किससे होता ? ॥ २ ॥

इससे भी प्रजापतित्व संसारका ही विषय है, क्योंकि—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ संपरिष्वक्तौ

स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताᳪ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह रममाण यानी प्रसन्न नहीं हुआ। इसीसे अकेला मनुष्य रममाण नहीं होता। फिर उसने अपनेसे भिन्न दूसरेका सङ्कल्प किया। वह विराट् इतने परिमाणवाला हो गया जैसे कि परस्पर आलिङ्गित स्त्री पुरुष होते हैं। उसने अपने देहको ही दो भागोंमें विभक्त कर दिया, जिससे पति और पत्नी प्रकट हुए। इसी कारण पुरुषका शरीर आधे सीपके दलकी तरह होता है, या द्विदल अन्नके एक दलके समान होता है। ऋषि याज्ञवल्क्यने ऐसा कहा है कि यह पुरुषका आधा शरीर आकाश स्त्रीसे पूर्ण होता है। उसका स्त्रीके साथ संग होनेसे मनुष्य उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

इस समय गवादि सृष्टिका प्रपञ्च (विस्तार) दिखाते हैं, यथा—

सा हेयमीक्षांचक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताᳪ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताᳪ समेवाभवत्तत एकशफमजायताऽजेतराऽभवद्बस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्ताᳪ समेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस स्त्रीने विचार किया कि मुझे अपने आप ही उत्पन्न करके यह किस प्रकार समागम करनेकी इच्छा करता है, इसलिए मैं छिप जाती हूँ, यानी रूपान्तरमें लीन हो जाती हूँ। तब वह गौ हो गई तो मनुष्य बृषभ होकर उसके साथ रहने लगा, इससे गाय बैल उत्पन्न हुए। फिर वह घोड़ी हो गई, तब वह अच्छा घोड़ा हो गया। फिर वह गधी हो गई, तो वह गर्दभ हो गया। उनके संयोगसे एक खुरवाले पशु पैदा हुए। इसके बाद वह बकरी हो गई और वह बकरा हो गया। फिर वह भेड़ हो गई तो वह भेड़ा बन गया। इससे भेड़ बकरियाँ उत्पन्न हुईं। इस

प्रकार चीटींसे लेकर जितना कुछ चर जगत् है याने जितने भी स्त्री पुरुषके जोड़े हैं, उन सबकी उन्होंने उत्पत्ति की ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—भाष्यकारने प्रकृत स्त्रीको शतरूपा और पुरुषको मनु कहा है। शतरूपा स्त्री अपनेको उस मनुकी कन्या मानकर शास्त्रके कन्यागमन सम्बन्धी प्रतिषेध वाक्यको स्मरण करके विचार करने लगी कि यह पुरुष मुझे अपने से उत्पन्न करके मेरे साथ पत्नीका व्यवहार क्यों करता है ? यद्यपि यह तो निर्दय है तथापि मैं छिप जाती हूँ। ऐसा विचार कर वह गौ, घोड़ी आदि हो गई। किन्तु उत्पन्न किये जाने योग्य प्राणियोंके कर्मों से प्रेरित हुई शतरूपाकी और मनुकी भी पुनः पुनः वैसी ही मति होती रही।

इस प्रसंगमें एक शंका लोकव्यवहारमें और भी हुआ करती है, प्रकरण प्राप्त होनेसे उसपर भी विचार कर लेना चाहिए, यथा—पति और पत्नी इन दोनोंको एक गुरुसे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए या नहीं ? यदि दोनों एक ही पुरुषको गुरु धारण करेंगे तो वे भाई बहिन जैसे हो जायँगे और यह सम्बन्ध दाम्पत्य-धर्मके प्रतिकूल है। इसका उत्तर यह है कि यह विचार तो विवाहके समय ही करना चाहिए था, जब कि सब स्त्री पुरुष एक ही परमात्माकी सन्तान होनेसे बहन भाई हुए, तो उनका विवाहसंस्कार अनैतिक ही होना चाहिये। पर पाणिग्रहण होता है। इसका भाव यह है कि पारमार्थिक दृष्टिसे तो सभी बहन भाई हैं, पर व्यवहारमें प्रत्येकके पिता पुत्री, स्त्री पुरुष आदि अनेक सम्बन्धोंकी कल्पना कर ली गई है। इन सम्बन्धोंका पालन करना शिष्टाचार है, भ्रष्टाचार बुरा है। फिर शिष्यका सम्बन्ध तो परम पवित्र है, यानी स्त्रीका पवित्र सम्बन्ध गुरुसे है और पतिका भी यह संबन्ध गुरुसे है। व्यवहारमें वे परस्पर दंपती होते हुए भी परमार्थमें एक गुरुके शिष्य होनेके कारण बराबर हैं। फिर उस समान सम्बन्धको चाहे कुछ भी समझ लो। प्रकृतमें भी एक ही शरीरसे दोनों उत्पन्न हुए, यानी एक ही शरीरके दो दल होकर उनसे मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

सृष्टिसंज्ञक प्रजापतिकी सृष्टिरूपसे उपासनाका फल कहते हैं, यथा—

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥५॥

भावार्थ—उक्त सृष्टिको उत्पन्न करके प्रजापतिने विचार किया कि इस सब प्रपञ्च का कर्ता मैं ही हूँ। इस कारण वह 'सृष्टि' नामवाला हुआ। जो उसको

सृष्टिकर्ता जानता है वह प्रजापति की सृष्टिमें जगत्‌का स्रष्टा होता है, अर्थात् इस सृष्टिमें प्रसिद्ध होकर चिरजीवी होता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार अनुग्रहयोग्य सृष्टिको कहकर अनुग्राहक सृष्टिका प्रस्ताव करते हैं, यथा—

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः। अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर उसने इस प्रकार मन्थन किया, उसने मुखरूप योनिसे दोनों हाथों द्वारा मन्थन करके अग्निको रचा। यही कारण है कि दोनों भीतरकी ओरसे लोमरहित हैं।

इस कारण यज्ञ करनेवाले लोग अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंको अलग अलग मानते हुए 'इस अग्निका यजन करो' 'इस इन्द्रका यजन करो' जो ऐसा कथन करते हैं, यह तो उस एककी ही विसृष्टि है। अर्थात् इसकी पूजा करो, उसकी अर्चा करो, यह उस प्रजापतिका ही कार्यजात विकार है। निश्चय ही यह प्रजापति सर्व देवताओंका स्वरूप है। इसके अनन्तर जो यह गीला है उसको उसने वीर्यसे रचा, वही सोम है। इतना ही यह सब अन्न तथा अन्नाद है। सोम ही अन्नरूप और अग्नि ही अन्नाद है। यह अग्निसोमात्मक ब्रह्मकी अतिसृष्टि है कि उसने अपनेसे श्रेष्ठ देवताओंकी रचना की यानी अपने उत्तम भागसे देवता बनाये। उसने स्वयं मर्त्य होकर भी अमृतोंको उत्पन्न किया, इस कारण यह अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय करके अतिसृष्टिमें ही हो जाता है, यानी वह अवश्यमेव विभूतिमान् हो जाता है ॥ ६ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—उस प्रजापतिने मुखको हाथोंसे मथकर मुखरूप योनि और हाथरूप योनियोंके द्वारा अग्निदेवको उत्पन्न किया। यह उसका

ब्राह्मणोंपर अनुग्रह था, क्योंकि ब्राह्मण भी प्रजापतिके मुखसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः एक ही योनिसे उत्पन्न होनेके कारण दोनों भाई हुए। छोटे भाई पर बड़े भाई की तरह अग्नि भी ब्राह्मणपर अनुग्रह करता है, अतः अग्नि ब्राह्मणका देवता है। ये हाथ और मुख दोनों दाह करनेवाले अग्निदेवकी योनि हैं। इसलिए ये दोनों भीतरसे बालरहित हैं, इसीसे इन दोनोंकी योनिसे समानता है।

ऐसे ही उसने बलकी आश्रयभूत भुजाओंसे क्षत्रिय और उनके नियन्ता इन्द्रादिकोंकी सृष्टि की और चेष्टाके आश्रयरूप ऊरुओंसे वैश्य जाति एवं उसके नियन्ता वसु आदिकोंको रचा। इसी तरह चरणोंसे पृथिवीदैवत, परिचर्यापरायण शूद्र जाति और पूषाको उत्पन्न किया। यद्यपि मूलमें क्षत्रियादि तथा देवताओंकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं है, तथापि यहाँ सृष्टिकी सर्वाङ्गताका अनुकीर्तन करनेके लिए श्रुति उसका कहे हुएके समान उपसंहार करती है। यह प्रजापतिकी अतिसृष्टि है, अर्थात् अपनेसे भी बढ़ी हुई सृष्टि है। अतिसृष्टि नाम उत्कृष्ट ज्ञानका फल है॥ ६॥

इस ग्रन्थसे संसारसे उद्धार होनेके लिए व्यक्त जगत्की बीजरूप अव्याकृतावस्थाका वर्णन करते हैं, यथा—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्टः। आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन् वाक् पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत् सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳश्लोकं विन्दते य एवं वेद॥७॥

भावार्थ—यह जगत् उत्पत्तिसे पहले अव्याकृत था। फिर यह 'यह देवदत्त है' 'यह शुक्ल कृष्ण है' इस प्रकार नाम रूपके योगसे व्यक्त हुआ। जैसा कि इस

समय भी व्यवहारमें देखा जाता है कि 'यह पदार्थ इस नामवाला है तथा इस रूपवाला है।' अर्थात् इस समय भी यह अव्याकृत वस्तु 'इस नाम तथा इस रूपवाली है' इस प्रकार व्यक्त होती है। यह आत्मा नख-सिख पर्यन्त शरीरमें प्रविष्ट है, जैसे छुरा म्यानमें छिपा रहता है, अथवा जैसे विश्वका भरण करनेवाला अग्नि काष्ठमें गुप्त रहता है, किन्तु उसे कोई देख नहीं पाता। वह असम्पूर्ण है यानी वह इसलिए अपूर्ण है कि उसमें क्रियान्तरका संग्रह नहीं है। वह प्राणनक्रिया करनेके कारण प्राण, बोलनेके कारण वाक्, देखनेके कारण चक्षु, सुननेके कारण श्रोत्र और मनन करनेके कारण मन है। ये इसके कर्मानुसार नाम हैं, इसलिए जो इनमेंसे एक एककी उपासना करता है वह उसको नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है, वह एक एक विशेषणसे ही युक्त होता है। उसकी 'आत्मा है' इस प्रकार ही उपासना करे, क्योंकि आत्मामें ही सारे धर्म एक हो जाते हैं। सो प्रत्येक पुरुषको इसी आत्माकी प्राप्तिका यत्न करना चाहिए। क्योंकि यह आत्मा है, इसी के द्वारा पुरुषको प्रत्येक पदार्थका ज्ञान होता है। जैसे लोग खोये हुए पशुका उसके खुरोंके चिह्नोंसे पता लगा लेते हैं ऐसे ही जो ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा कीर्ति तथा स्तुति को प्राप्त करता है अथवा इष्टजनोंका सान्निध्य पाता है ॥ ७ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जब कोई नया पदार्थ उत्पन्न होता है तो उसमें नाम तथा रूपकी ही विशेषता होती है। जैसे सुवर्ण तो पहले भी था, पर बादमें उसका कटक, कुण्डल नाम हो गया, पर वास्तवमें है वह सोना ही। इसी प्रकार पहले यह जगत् अव्यक्त था, जब नामरूपवाला हुआ तो व्यक्त हो गया। जिसके ईक्षणसे इसमें नामरूपकी विशेषता आई वही आत्मा अन्वेषण करने योग्य है, सबमें छिपे हुए उसको पाना ही पुरुषार्थ है ॥ ७ ॥

अब यह समझाते हैं कि लोकदृष्टिसे सबका अनादर करके आत्मतत्त्व ही क्यों जानने योग्य है, यथा—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

भावार्थ—वह यह आत्मतत्त्व पुत्रसे अधिक प्रिय है, धनसे अधिक प्यारा है और अन्य सभी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक प्रेमास्पद है। क्योंकि यह आत्मपदार्थ उन सबकी अपेक्षासे अन्तरतम है। जो आत्मासे भिन्न पदार्थको प्रिय मानना है, उससे यदि आत्मवेत्ता पुरुष कहे कि 'तेरा प्राण जैसा प्रिय पदार्थ नष्ट हो जायगा' तो वैसा ही होकर रहेगा। क्योंकि वह आत्मप्रियदर्शी जन समर्थ होता है। अतएव उचित है कि पुत्रादिकोंमें प्रियताका अभिमान छोड़कर आत्मरूप प्रियतमकी ही उपासना करे। जो आत्माको प्रिय जानता हुआ उसकी उपासना करता है उसका अत्यन्त प्रिय मरणधर्मा नहीं होता, अथवा उसे कोई अनात्मपदार्थ दुःखदायी नहीं होता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—लोकमें पुत्र अत्यन्त प्रिय है, पर आत्मा उससे भी परम प्रिय है। यद्यपि प्राणादि भी प्रिय हैं और पुत्र धनादि बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा अभ्यन्तर हैं, पर आत्मा उनसे भी अभ्यन्तर है। आत्माको सबसे प्रियतम माननेवाला ब्रह्मवेत्ता ऐसा समर्थ हो जाता है कि वह जिसको जो कह देता है वह वैसा ही हो जाता है ॥८॥

श्रुतिने सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्याको 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यसे सूत्र रूपमें कह दिया। अब उस सूत्रकी व्याख्या करनेकी इच्छा से श्रुति उसका प्रयोजन बोधन करती हुई उपोद्घात करती है, यथा—

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्माऽवेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥ ९ ॥

भावार्थ—ब्रह्मको जाननेके अभिलाषियोंने यह कहा कि ब्रह्मविद्या द्वारा हम सब हो जायँगे। मनुष्य ऐसा मानते हैं, सो उस ब्रह्मने क्या जाना, जिसके कारण वह सर्व हो गया ? ॥ ९ ॥

ब्रह्म क्या जानकर सर्व हुआ ? श्रुति इस प्रश्नका निर्दोष उत्तर देती है, यथा—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति

तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाᳬं स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवᳬं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥

भावार्थ—सृष्टिसे पहले एकमात्र ब्रह्म ही था। उसने अपने आपको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना। इसीसे वह सर्व हो गया। देवोंमें से जिस जिसने उसे जाना वह ब्रह्मवत् हो गया। इसी प्रकार ऋषियों तथा मनुष्योंमें से भी उसके ज्ञाता तद्रूप हो गये। उस ब्रह्मके अपहतपाप्मादि गुणोंको धारण करके वामदेव ऋषिने कहा—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी हुआ। अब भी जो इस प्रकार समझता है कि मैं ब्रह्म हूँ, वह सर्वात्मभावयुक्त हो जाता है। ऐसे मनुष्यका ऐश्वर्य दूर करनेमें देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। 'यह दूसरा है, मैं अलग हूँ' इस प्रकार जो अन्य देवताकी उपासना करता है वह अनजान है। जिस प्रकार पशु होता है उसी प्रकार वह देवताओंका पशु है। जैसे बहुतसे पशु दोहन वाहन आदिसे एक एक मनुष्य का पालन करते हैं उसी तरह एक एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है, यानी पशुस्थानीय अज्ञानी मनुष्य विषयभोग द्वारा इन्द्रियोंका पोषण करते हैं। यदि किसीका एक पशु भी ले लिया जाय तो उसको बुरा लगता है, फिर बहुत पशुओंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है? अत एव देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मज्ञानी बन जायँ। यानी केवल कर्मी या पामर पुरुषोंकी इन्द्रियोंको यह प्रिय नहीं कि मनुष्य ब्रह्मात्मतत्त्वसे परिचित हों॥ १०॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्यको इन्द्रियोंका दास नहीं होना चाहिये। ये शत्रु भी हैं और मित्र भी हैं, जो इनके वशीभूत हो जाता है वह जीती हुई बाजी हार जाता है और जो इन्हें वश कर लेता है वह हारी हुई बाजी जीत लेता है। प्रमादग्रस्त इन्द्रियाँ मनुष्यको ऊँचा नहीं उठने देतीं, इसमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। बुद्धिमानोंको सङ्केत ही पर्याप्त है। जो इन्द्रियोंके गुलाम हो रहे हैं उन्हें अपनी दुर्दशाका हाल मालूम ही है, अतः हानि लाभ खुद सोचना चाहिए॥ १०॥

अविद्वान्को कर्म करनेका अधिकार है, इसमें हेतु दिखानेके लिए उसीका वर्णन किया जाता है, यथा—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रारम्भमें वह एक ब्रह्म ही था। वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें इस लिए समर्थ नहीं हुआ कि वह उस समय अकेला था। उसने कल्याणस्वरूप क्षत्रिय जातिको उत्पन्न किया एवं देवताओंमें क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादिकोंकी रचना की। अतः क्षत्रियोंसे उत्तम कोई नहीं है। इसीसे राजसूय यज्ञमें ब्राह्मण नीचे स्थित होकर क्षत्रियका सत्कार करता है, उपासना करता है। वह क्षत्रियमें ही अपने यशको स्थापित करता है। यह जो ब्राह्मण है क्षत्रियका कारण है, इसलिए यद्यपि क्षत्रिय उत्कृष्टताको प्राप्त होता है तथापि राजसूयके अन्तमें तो वह ब्राह्मणका ही आश्रय लेता है। जो क्षत्रिय इस ब्राह्मणको मारता है वह अपने कारणका ही विनाश करता है। जिस प्रकार उत्तम व्यक्तिकी हिंसा करनेसे मनुष्य पापी होता है वैसे ही वह कल्याणतर पदार्थके नाश करनेसे पापी होता है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्राह्मण विज्ञानी होता है, वह अपने विज्ञानका मनन, प्रचार, प्रसार शान्त वातावरणपूर्ण प्रदेशमें ही करनेमें समर्थ होता है। शान्ति बनाये रखना बलका काम है, ज्ञानी तो शान्तिकालसे लाभ उठाने या अन्यको लाभ देनेवाला होता है। इससे ज्ञानीको किसी रक्षक बलीकी आवश्यकता पड़ी। अत एव क्षत्रिय जातिकी रचना की गई। यद्यपि श्रेष्ठता ज्ञानीको है तो भी ज्ञानियोंको यानी ब्राह्मणोंको

बलवानोंकी यानी क्षत्रियोंकी उपासना, साहाय्यप्रार्थना करनी होती है। इस कारण ये दोनों अपने अपने स्थानपर श्रेष्ठ हैं ॥ ११ ॥

क्षत्रियोंकी उत्पत्तिके अनन्तर अन्योंकी उत्पत्तिको कहते हैं—

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

भावार्थ—जब उस ब्रह्मने क्षत्रियोंकी रचना करके भी ऐश्वर्ययुक्त कर्म करनेमें अपनेको समर्थ नहीं पाया, तो उसने वैश्य जातिकी रचना की। साथ ही वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण जो ये गणशः कहे जाते हैं, उनकी भी रचना की ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—कोई ऐसी वस्तु चाहिए जो भिन्न भिन्न स्वार्थ और पृथक पृथक् विचार आदिसे युक्त मनुष्योंको एकत्र करनेमें समर्थ हो। ऐसा लोकमें धन ही है। देखो, वह ब्रह्म अपनेमें धनोपार्जन करनेका अभाव होनेके कारण कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने कर्मके साधनभूत धनका उपार्जन करनेके लिए वैश्य जातिको रचा। ये वैश्य गणदेवताओंसे जात हैं, गणदेवता वे हैं जो गणशः (बहुतसे एक साथ) रहते हैं। इसीलिए वैश्य लोग गणप्राय होते हैं, यानी वे प्रायः अनेकों मिलकर ही धन कमानेका कारोबार करते हैं। जो देवता गण (समूह) बनाकर रहते हैं उनके गण ये हैं—वसु आठ संख्याका गण, रुद्र ग्यारहका, आदित्य बारहका और विश्वेदेव तेरहका समूह है तथा मरुत् उनंचास सदस्योंवाली श्रेणी है ॥ १२ ॥

अब परिचारकोंकी सृष्टि कहते हैं, यथा—

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥ १३ ॥

भावार्थ—इसपर भी वह ऐश्वर्यपूर्ण काम न कर सका। अतः उसने शूद्र वर्णकी उत्पत्ति की। शूद्रवर्ण पूषण है, यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह सम्पूर्ण प्राणिजातको अन्नादिसे पुष्ट करती है ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—ज्ञानी भी हो गये, उनके रक्षक भी बन गये, उनके लिए जीवनधारणकी सामग्री देनेवाले भी तैयार हो गये। पर सेवकका अभाव होनेके कारण विभूतियुक्त कर्मोंकी गति रुकी ही रह गई। परिचर्यारूप स्वाभाविक कर्म

करनेवाला शूद्र पुरुष सभी इतर वर्णोंका ऐसे पोषण करता है जैसे पृथिवी अन्नादिकों-से सबका पालन करती है। आजकलके किसान और मजदूरोंमें उक्त शूद्रका लक्षण घटता है। भगवान्‌का चरणस्थानीय शूद्र सबका सम्मान्य है। किसान देशके भण्डारोंको धान्यसे परिपूर्ण करता है और मजदूर धनसे खजाने भरता है ॥ १३ ॥

उग्र क्षत्रियोंको नियन्त्रणमें रखनेवाले धर्मकी रचनाका वर्णन करते हैं, यथा—

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

भावार्थ—वह चारों वर्णोंकी रचना करके भी विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हो सका। उसने अत्यन्त कल्याणकारी धर्मकी रचना की, यह धर्म क्षत्रियका भी नियन्त्रण करनेवाला है। इसीलिए धर्मसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ नहीं है। धर्मके द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान्‌को जीतनेकी ऐसे इच्छा करता है, जैसे दुर्बल राजाकी सहायतासे प्रबल शत्रुको परास्त करनेकी शक्ति रखता है। यह जो धर्म है, वही सत्य है। इसी कारण लोग सत्यवक्ताको धर्मात्मा यानी धर्मयुक्त कथन करनेवाला और धर्मोपदेशकको सत्यवादी कहते हैं। क्योंकि ये सत्य तथा धर्म दोनों एक ही हैं ॥ १४ ॥

पहले देव ब्राह्मणादि की सृष्टि कही गई थी, उसका अनुवाद करते हुए अब मनुष्य-ब्राह्मणादिकी सृष्टिका कथन करते हैं, यथा—

तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्त-स्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳ हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं

कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥ १५ ॥

भावार्थ—ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं । यह उत्पत्तिकर्ता ब्रह्म अग्निरूपसे देवताओंमें ब्राह्मण हुआ । फिर मनुष्योंमें ब्राह्मण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय रूपसे क्षत्रिय, वैश्य रूपसे वैश्य और शूद्र रूपसे शूद्र हुआ । इसीसे जो देवताओंके बीचमें रहकर कर्मका फल चाहते हैं वे अग्निमें ही कर्म करके ऐसा कर सकते हैं तथा उससे मनुष्योंके बीच ब्राह्मण जातिमें ही कर्मफलकी इच्छा करते हैं । भाव यह है कि जो मनुष्योंमें रहकर कर्मका फल भोगना चाहता है उसे अग्निमें कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती । हाँ, जहाँ पुरुषार्थसिद्धि दैवाधीन है वहीं अग्निसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंकी आवश्यकता होती है । जो स्वस्वरूपका याने आत्माका दर्शन किये विना ही इस लोकसे चला जाता है, उसका यह अविदित आत्मलोक पालन नहीं करता, यानी उसके शोक मोहादिकी निवृत्ति नहीं होती । जिस प्रकार बिना अध्ययन किया हुआ वेद अथवा विना अनुष्ठान किया हुआ कोई कर्म मनुष्यको लाभ नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार स्व स्वरूपानुसन्धान विना मनुष्य यदि इस लोकमें कोई बड़ा भारी पुण्यजनक कर्म करे तो भी अन्तमें उसका वह कर्म क्षीण हो ही जाता है । अतः आत्मलोककी उपासना करनी चाहिये, यानी मनुष्यको आत्मानुसन्धानमें कभी प्रमाद करना उचित नहीं है । आत्मलोककी उपासना करनेवालेके कर्म कदापि क्षीण नहीं होते, वह जिस जिस इष्ट पदार्थकी इच्छा करता है वह सब उसको मिल जाता है ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—जिसने अपने आत्माको पहचान लिया, उसने सब कुछ पा लिया । उसे आत्मतत्त्वानुचिन्तनसे आत्मैक्यका पता लग गया तो वह फिर किससे दुराव करना चाहेगा ? वह किसीसे द्रोह भी क्यों करेगा ? कोई अनुन्मत्त पुरुष आत्महा नहीं हो सकता, किसी दोषसे जो उन्मत्त हो उसकी बात अलग है ॥१५॥

वे कर्म कौनसे हैं जिनसे मनुष्य पशुओंकी तरह परतन्त्र हो जाता है ? और वे देवादि कौन हैं जिनका कर्मों द्वारा उपकार किया जाता है ? इन दोनोंको विस्तारसे कहते हैं, यथा—

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स

यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोका-यारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम् ॥ १६ ॥

भावार्थ—यह शरीरेन्द्रियसंघातविशिष्ट गृहस्थ कर्माधिकारी आत्मा सम्पूर्ण भूतोंका (जीवोंका) लोक है (भोग्य है, प्रकाशक है, सामर्थ्य देनेवाला है)। यह जो होम और यज्ञ करता है इससे देवताओंका भोग्य होता है। जो स्वाध्याय करता है उससे ऋषियोंका, जो पितरोंके लिए पिण्डोदकादि दान करता है तथा सन्तानकी इच्छा करता है उससे पितरोंका, जो मनुष्योंको वासस्थान तथा भोजनादि देता है उससे मनुष्योंका भोग्य पदार्थ होता है। इतना ही नहीं, बल्कि इस गृहस्थके घरमें जो कुत्ते बिल्ली आदि श्वापद जन्तु, पक्षी और चींटी आदि जीव इसके सहारे जी रहे हैं, उससे यह इनका लोक है। जिस प्रकार लोकमें सब जीव खान पानादिसे अपना अविनाश चाहते हैं, उसी प्रकार ऐसा जाननेवालेका सब जीव (जिनके यह कर्म करता है वे) संरक्षण चाहते हैं। कर्म अवश्य करना चाहिए यह बात ज्ञात है, यानी पंचमहायज्ञप्रकरण प्रसंगमें प्रसिद्ध है और वहीं इसकी मीमांसा की गई है। भाष्यकार कहते हैं कि अवदान प्रकरणमें इसपर विचार किया गया है॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ आत्मा शब्दसे उस गृहस्थ पुरुषका ग्रहण है जो ज्ञानवान् नहीं है। जिसकी रुचि कर्मकाण्डमें बनी हुई है वह देवताओंसे लेकर चींटी पर्यन्त सबका लोक है—भोग है यानी सबके काम आनेवाला है। क्योंकि वर्णाश्रमादि विहित कर्मोंके द्वारा वह सबका उपकारी है। जिन स्वाध्याय आदि कर्मोंसे वह सबको लाभान्वित करता है उनका मन्त्रमें स्पष्ट वर्णन है। होम यागादि रूप कर्मसे उसकी अवश्यकर्तव्यताके कारण मनुष्य पशुकी तरह देवताओंके अधीन

होनेसे बँधा हुआ है, इसलिए वह उनका भोग्य है। जैसे मनुष्य अन्न पानादिसे अपने शरीरकी रक्षा चाहता है, उसी तरह सब देव पितर कीट आदि अपना उपकारी होनेके नाते इसकी रक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार कोई कुटुम्बी अपने पशुओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार अपने अधिकारकी उन्नतिके लिए वे इसकी सब ओरसे रक्षा करते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि इस गृहस्थके शरीरके विनाशसे हम यज्ञभागोंके अधिकारसे च्युत हो जायँगे यानी रहित हो जायँगे। यही अच्युतिका भाव उन्हें गृहस्थकी रक्षा करनेको बाध्य करता है।

भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ, ये पञ्चमहायज्ञ कहे जाते हैं। अवदान उसे कहते हैं जो घृतादिरूप हव्य एक आहुतिकी पूर्तिके लिए लिया जाता है ॥ १६ ॥

उक्त विद्या–अविद्यारूप निवृत्ति–प्रवृत्ति मार्गोंमेंसे किसी भी एकमें प्रवृत्त होनेमें समर्थ ब्रह्मचारी स्वतन्त्र है, तो फिर वह किसकी प्रेरणासे भूताविष्ट मनुष्यकी तरह लाचार होकर दुःखरूप प्रवृत्तिमार्गीय कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है ? निवृत्ति-मार्गमें क्यों नहीं प्रवृत्त होता ? उसका वह कौन ऐसा प्रेरक है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि काम या कामना है, इसीके निर्णयके लिए कहते हैं, यथा—

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छꣳश्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किंच तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

भावार्थ—पहले वह एक आत्मा ही था, आत्मा यानी वह ब्रह्मचारी विवाहसे पहले अकेला ही था। उसने इच्छा की कि 'मेरी स्त्री हो, फिर मैं

उसमें प्रजारूपसे पैदा होऊँ, मुझे धन मिले, जिससे मैं कर्म करूँ।' बस इतनी ही कामना है, इच्छा करनेपर इससे अधिक कोई नहीं पाता। इससे अब भी वह अकेला मनुष्य यह सङ्कल्प करता है कि मेरी स्त्री हो, फिर प्रजा हो, पुनः धन भी हो, तो फिर मैं कर्म करूँ। सो वह जबतक इनमेंसे एक एक को नहीं प्राप्त कर लेता तबतक अपने आपको अपूर्ण ही मानता है। उस ब्रह्मचारीकी पूर्णता इस प्रकार होती है—मन ही उसका आत्मा है, वाणी ही स्त्री है, प्राण ही सन्तति है और चक्षु ही मानुष धन है। क्योंकि आँखसे ही वह गौ प्रभृति मानुष धनको जानता है। श्रोत्र देववित्त है, क्योंकि श्रोत्रसे ही वह उपदेशको सुनता है। आत्मा (देह) ही इसका कर्म है, क्योंकि शरीरसे ही कर्म करता है। यह यज्ञ पाङ्क्त है, पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है और यह जो कुछ है सब पाङ्क्त है। जो ऐसा जानता है वह सब सुखोंको प्राप्त होता है॥ १७॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्रमें आत्मा शब्दसे इन्द्रियसङ्घात, अविद्वान, देह तथा वर्णीका ग्रहण है। उसने अपनेमें कर्ता आदि कारक, क्रिया एवं कर्मात्मताकी अध्यारोपरूपा, स्वाभाविकी अविद्याजनित कामनासे युक्त होकर कामना की। यह वह कामना है जो स्त्री आदि विषयके मूलमें दिखाई गई है। साध्य साधनरूप जो एषणायें हैं वे ही काम हैं। इसी कामसे प्रेरित हुआ अज्ञानी मनुष्य रेशमके कीड़के समान अपनेको विवश होकर उसमें लपेट लेता है, एवं अपनेको कर्ममार्गमें ही अटकाये रखकर बहिर्मुख हो आत्मलोकको नहीं जान पाता। जब वह पूर्णताका सम्पादन करनेमें असमर्थ होता है तो उससे श्रुति कहती है कि यह तेरा मन ही आत्मा है, क्योंकि यह कार्य-कारणसङ्घात मनका अनुसरण करनेवाला है, इससे प्रधान होनेके कारण उसमें मन ही आत्माके समान है। इस मन्त्रमें जो 'पाङ्क्त' शब्द आया है, इसका अर्थ पाँच है। जैसे यह आत्मदर्शन पाङ्क्त है, यानी पाँचके द्वारा निष्पन्न हुआ यज्ञ है॥१७॥

पञ्चम ब्राह्मण

यह सम्पूर्ण संसार कार्य-कारणरूपसे सात प्रकारसे विभक्त है और भोज्य है, इस कारण सप्तान्न कहा जाता है। ये मन्त्र सूत्ररूप हैं, क्योंकि विनियोगके सहित ये संक्षेपसे इन अन्नोंके प्रकाशक हैं, यथा—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन । स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

भावार्थ—पिता यानी प्रजापतिने धारणावती बुद्धिसे आलोचना करके, विज्ञान और कर्मके द्वारा सात अन्नोंकी रचना की । जिसे प्रतिदिन प्राणी खाते हैं वह सबका साधारण अन्न है, वह सभी प्राणियोंका भोज्य है । दो अन्न उसने देवताओंमें वितरण कर दिये । तीन अन्न अपने लिए रखे, एक अन्न पशुओंको दिया । पशुओंको दिये हुए अन्नमें जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते वे सभी उस आहारके आधार पर टिके हैं । वे उक्त अन्न प्रतिदिन खाये जाने पर भी क्यों नहीं नाशको प्राप्त होते ? जो इस अन्नके अक्षयभाव यानी नाश न होनेवाले कारणको जानता है, वह मुखरूप प्रतीकके द्वारा अन्न भक्षण करता है, वह देवभावको प्राप्त होकर अमृतका भोक्ता होता है । इस विषयमें ये निम्नलिखित मन्त्र हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रकृत मन्त्रमें सप्तान्न तो कह दिये, किन्तु उनका नाम नहीं बताया । यह अगले मन्त्रमें कहा जायगा । अगला मन्त्र इसीकी व्याख्या है ॥ १ ॥

वेदमें (मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यकमें) मन्त्रोंका अर्थ गूढ़ होता है, इसी कारण प्रायः जल्दी समझमें नहीं आता । अतः उसके दुर्बोध रहस्यार्थकी व्याख्या करनेके लिए ब्राह्मणादि प्रवृत्त होते हैं, जैसे यह निचला ब्राह्मण है—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्त्तते मिश्रꣳ ह्येतत् । द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं

च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्ण-मासाविति । तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् । पशुभ्य एकं प्राय-च्छदिति तत्पयः । पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनु-धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति । तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीद९ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्सर्व९ हि देवे-भ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते । कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽ-न्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत् । स देवानपिग-च्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रश९सा ॥ २ ॥

भावार्थ—परमपिताने ज्ञान कर्मसे सात अन्नोंको उत्पन्न किया, जिसको प्राणी प्रतिदिन खाते हैं वह साधारण अन्न है । जो इसकी उपासना करता है वह पापसे दूर नहीं होता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जीवोंका सम्मिलित भाग है, यानी इसमें सर्वसाधारणका हिस्सा है । उसने 'हुत' और 'अहुत' ये दो अन्न देवता-ओंको बाँट दिये । इसलिए अब भी गृहस्थ लोग होम, बलिवैश्वदेव करते हैं । कई आचार्य दर्श और पौर्णमास यज्ञको देवान्न मानते हैं । इसलिए गृहस्थको उचित है कि वह कामना सहित यज्ञ न करे । एक अन्न पशुओंको दिया गया, वह दूध है, क्योंकि जन्म होते ही मनुष्यका तथा पशुका दूधसे ही जीवन धारण होता है । इस-लिए उत्पन्न होते ही बालकको प्रथम घृत चटाते हैं या स्तनपान कराते हैं और उत्पन्न हुए बछड़ेको अतृणाद कहते हैं, याने घास न खानेवाला कहते हैं, अर्थात् कहते हैं कि यह अभी दुग्धाहारी है । जो प्राणन करते हैं और जो प्राणनक्रिया नहीं

करते वे सब इस पश्वन्नमें ही प्रतिष्ठित हैं, यानी सम्पूर्ण प्राणी दूधके ही आधारपर हैं।

कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि मनुष्य जो एक वर्ष पर्यन्त दूधसे (घृत दुग्धादिसे) हवन करता हुआ मृत्युको जीत लेता है, यह इतना ही कहना ठीक नहीं है। हाँ, यह सही है कि वह जिस दिनसे होम करता है उसी दिनसे मृत्युको जीत-लेता है। अर्थात् सालभरकी अपेक्षा नहीं करता, वह तो उसी दिनसे मृत्युको जीतनेके लिए मार्ग बनाता है। इस प्रकार जाननेवाला यानी ऐसा उपासक पुरुष देवताओंको अन्नाद्य प्रदान करता है। पहले जो यह प्रश्न किया गया था कि प्रतिदिन भक्षण करने पर भी अन्न क्यों नहीं समाप्त हो जाते ? ऐसा न होनेका कारण यह है कि पुरुष अविनाशी है, यानी भोक्ता ही अन्नके क्षीण न होने देनेका कारण है, क्योंकि वही यज्ञ द्वारा बार बार अन्नको उत्पन्न कर देता है। जो कोई भी इस अक्षय भावको जानता है, अर्थात् पुरुष ही क्षय रहित है, यही इस अन्नको ज्ञान और कर्म द्वारा उत्पन्न करता है, यदि वह इस अन्नको पैदा न करे तो निश्चय ही यह अन्न प्रतिदिन भोगनेसे नष्ट हो जाय; ऐसा जाननेवाला मुखरूप प्रतीकके द्वारा अन्न खाता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है और अमृतका उपजीवी होता है। यह प्रशंसा यानी फलश्रुति है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—'एतावान् वै कामः' इस वाक्यसे यह बतलाया गया है कि स्त्री आदि ही एषणा है, एषणा किसी फलको लेकर होती है। यहाँ शंका होती है कि जैसी जाया आदि-विषयक कामना है, वैसी ही मोक्षविषयक भी कामना है। यदि जायादि-विषयक कामना संसारके बंधनमें डालनेवाली है, तो ऐसी ही मोक्षविषक कामनाको भी होना चाहिए। उत्तर है कि कामना रागके कारण होती है, किन्तु राग दूसरेमें होता है। ब्रह्मविद्याके विषयभूत मोक्षमें द्वैतका यानी द्वितीयताका सर्वथा अभाव है, अतः ब्रह्मविद्याके विषयमें कामनाका होना नहीं बनता। ब्रह्मविद्याके विषयमें तो सबकी एकता हो जाती है, वहाँ कामना का होना कहाँ सम्भव है ? ॥ २ ॥

इस समय मन्त्रक्रमका उल्लंघन कर अर्थक्रमके अनुरोधसे साधनरूप चार अन्नोंका व्याख्यान करके साध्य फलभूत तीन अन्नोंका प्रतीक लेकर व्याख्या की जाती है, यथा—

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनोवाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरु-

तान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा । एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

भावार्थ—उसने तीन अन्न अपने लिए किये, वे हैं मन, वाणी और प्राण। इनको उसने अपने लिए निश्चित किया। जैसे लोकमें मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र होनेसे मैंने नहीं देखा' 'मेरा चित्त दूसरी तरफ था इससे मैंने नहीं सुना' इससे निश्चय होता है कि वह मनसे ही देखता है तथा मनसे ही सुनता है। स्त्री-विषयक कामना, निश्चयात्मिका बुद्धि, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही हैं। पृष्ठभागमें किये हुए स्पर्शको भी मनुष्य मनसे ही जानता है, इससे भी मनका अस्तित्व असन्दिग्ध है। वाक् ही सम्पूर्ण अर्थके प्रकाशक वर्णात्मक शब्दोंका स्वरूप है, क्योंकि वाणी ही पदार्थोंके निर्णय तक पहुँचती है, इसीलिए प्रकाश्य नहीं है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन ये सब प्राण ही हैं। यह आत्मा-शरीर एतन्मय है, यानी वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है, अर्थात् यह कार्यकारण-संघातरूप देह वाणी, मन तथा प्राणका ही विकार है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—नेत्र रूप ग्रहण करता है, पर एक ऐसी भी वस्तु है जिसकी सन्निधि न रहनेसे रूप उस दशामें भी ग्रहण नहीं होता जब कि नेत्र विद्यमान है। इससे प्रतीत होता है कि उन नेत्रादिसे भिन्न, समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाला मन नामका कोई अन्तःकरण है। इससे यह आया कि लोग मनसे ही देखते सुनते हैं। इससे मनका अस्तित्व तो सिद्ध हो गया, किन्तु उसका स्वरूप क्या है यह भी मालूम होना चाहिए। इसपर कहते हैं—काम—अनेक तरहकी अभिलाषादि, सङ्कल्प—सामने जो वस्तु है तद्विषयक शुक्ल नीलादि भेदसे विशेष कल्पना करना, विचिकित्सा—संशयज्ञान, श्रद्धा—जिनका अदृष्ट फल हो उन

कर्मोंमें और देवतादिकोंमें आस्तिकबुद्धि, अश्रद्धा—श्रद्धासे विपरीत भाव रखना, धृति—देहादिकोंके शिथिल होनेपर उन्हें सँभाले रखने, अधृति–धृतिके विपरीत होना, ह्री—लज्जा, धी—बुद्धि, भी–भय इत्यादि प्रकारके ये सब भाव मन यानी अन्तःकरणके रूप हैं। मनकी सिद्धिमें दूसरी यह भी बात है कि किसीको पीछेसे छूवो तो भी मनुष्य विवेक द्वारा यह जान लेगा कि पीठपर हाथ आदिका स्पर्श है। यहाँ विवेक करने-वाला मन है, अन्यथा त्वचामात्रसे ऐसा विवेकज्ञान कैसे हो सकता है? बस, इसका कारण मन है ॥ ३ ॥

वागादिकोंकी आध्यात्मिकी विभूतिको कहकर अब इनकी आधिभौतिक विभूतिका वर्णन किया जाता है, यथा—

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥

भावार्थ—ये ही तीनों लोक हैं; वाणी ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह लोक है, यानी स्वर्ग है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—वाणी भूलोक इसलिए है कि इससे सबकी सत्ताका प्रकाश होता है। मन अन्तरिक्षलोक है, यानी रहस्यका प्रकाशक है, और प्राण स्वर्गलोक यानी जीवनरूप सुखका प्रकाशक है। ये तीनों लोक भूः, भुवः तथा स्वः नामक हैं ॥ ४ ॥

इसी प्रकार वेदोंका भी समन्वय है, यह कहते हैं—

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥

भावार्थ—ये ही तीनों वेद हैं; वाक् ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—वाणीको ऋग्वेद इसलिए कहा गया है कि ऋग्वेदके बिना मनुष्य मूककी तरह प्रतीत होता है। मन यजुर्वेद है, क्योंकि यजुःके बिना पुरुष नष्टमन प्रतीत होता है। प्राण सामवेद है, क्योंकि सामगायनके बिना मनुष्यके प्राण आप्यायमान नहीं होते, यानी आनन्दसे पूर्ण नहीं होते ॥ ५ ॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

भावार्थ—देवता, पितृगण और मनुष्य ये ही हैं; वाक् ही देवता है, मन पितृगण हैं और प्राण मनुष्य हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—सत्य भाषण करनेवाली वाणी देवता है, 'सत्यमेव जयते' सदा सत्यकी जय होती है, साँचको आँच नहीं। सत्यसङ्कल्प मनुष्य ही पितृगण यानी पितृतुल्य पूज्य और सबमें बड़ा होता है। सत्कर्मका हेतु प्राण है उसीसे मनुष्यका सफल जीवन होता है ॥ ६ ॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥७॥

भावार्थ—ये ही पिता, माता और प्रजा हैं; मन ही पिता है, वाणी माता है और प्राण प्रजा है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—सत्य सङ्कल्पवाला मन ही पिता है, यानी सत्य भाषण करनेवालेका पालक मन होता है। सत्य भाषण करनेवाली वाणी मातृवत् हित करनेवाली, माता ही होती है और सत्कर्मका हेतु प्राण प्रजा यानी प्रजावत् प्रिय होता है ॥ ७ ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ८ ॥

भावार्थ—विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं; जो कुछ विज्ञात है वह वाक्का रूप है, वाक् ही विज्ञाता है, वाक् अपने ज्ञाताकी विज्ञात होकर रक्षा करती है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रकाशरूप होनेके कारण वाक् ही विज्ञाता है, यानी अर्थोंकी बोधक है। वाक्की विभूतिको जो जानता है, उसकी यह विज्ञात होकर अन्नरूपसे रक्षा करती है ॥ ८ ॥

यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कुछ विजिज्ञास्य है वह मनका रूप है, मन ही विजिज्ञास्य है, वह विजिज्ञास्य होकर इस ज्ञाताकी रक्षा करता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जो कुछ विचारने योग्य है वह मनका स्वरूप है, क्योंकि

मनसे ही अर्थका विचार होता है। इसलिए विचारका साधन मन ही विचारकर्ताके लिए अन्न है, यानी विचार द्वारा उसका रक्षक है ॥ ९ ॥

यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ १० ॥

भावार्थ—जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राणका रूप है, प्राण ही अविज्ञात है। प्राण अविज्ञात होकर इसकी रक्षा करता है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—यह कहा गया है कि जो कुछ अविज्ञात है वह प्राणका स्वरूप है, क्योंकि जो मन-वाणीका विषय ज्ञातव्य है वही प्राणके लिए अज्ञात है। क्योंकि प्राणमें केवल क्रियाशक्ति है, ज्ञानशक्ति नहीं, अतः प्राण ज्ञानशक्तिसे शून्य है। वह क्रियाशक्ति द्वारा रक्षक है, इस कारण प्राणको इसका अन्न कहा है ॥ १० ॥

यहाँ तक वाक्, मन और प्राणके आधिभौतिक विस्तारकी व्याख्या की गई, अब उनका आधिदैविक विस्तार आरम्भ किया जाता है—

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्याव-त्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

भावार्थ—उस वाणीका पृथिवी शरीर है और वह अग्नि ज्योतिरूप है। वहाँ जितनी वाणी है, उतनी ही पृथिवी है और उतना ही वह अग्नि है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—वाणी पृथिवी है यानी वह पृथिवीकी तरह अतिविस्तृत है और प्रकाशस्वरूप होनेसे अग्नि है। जितनी पृथिवी है उतनी ही वाणी है, तथा उतनी ही अग्नि है ॥ ११ ॥

अब उपासनाके फल सहित इन्द्ररूप प्राणकी सृष्टिका वर्णन करते हैं, यथा—

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्य-स्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भावार्थ—इस मनका शरीर द्युलोक है, यानी यह मन द्युलोककी तरह विस्तृत है। यह ज्योतिरूप आदित्य है, क्योंकि इन्द्रियोंका प्रकाशक है। जितना

मन है उतना ही द्युलोक और उतना ही वह आदित्य है क्योंकि अन्तरिक्षकी तरह मन भी सब विषयोंकी ओर फैला हुआ है। या यों कहो कि अन्तरिक्षमें सूर्य विस्तृत है। वे आदित्य और अग्नि मिथुन हुए—संगत हुए, तब प्राण उत्पन्न हुआ। भाव यह है कि जब अन्तरिक्षमें सूर्यकी उष्णता फैली तो उससे मातरिश्वा (वायु—प्राण) उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है यानी उसीका नाम इन्द्र है। वह असपत्न यानी शत्रुहीन है, क्योंकि उसके समान अन्य कोई वायु नहीं। दूसरा होनेपर ही प्रतिपक्षी शत्रु होता है। जो प्राणके भावको इस पूर्ण प्रकारसे जानता है उसका कोई शत्रु नहीं होता ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे यहाँ अध्यात्म दृष्टिसे यह बताया गया है कि 'मन इसका आत्मा है, वाणी जाया है और प्राण प्रजा है, तथा अधिभूत दृष्टिसे यह भी कहा गया है कि मन पिता है, वाणी माता है और प्राण प्रजा है। ऐसे ही अधिभूत दृष्टिसे भी उसे उनकी प्रजा बोधन करनेके लिए यह सब कथन किया गया है ॥ १२ ॥

आत्माके लिए जिन अन्नोंकी रचना की गई है, उनकी अन्तवान् तथा अनन्त रूपसे जो उपासना करता है, उसको होनेवाले फलका वर्णन करते हैं—

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस प्राणका जल शरीर है, अर्थात् प्राण जलकी तरह सारे शरीरमें व्याप्त है तथा यही शरीरमें जीवनप्रद होनेसे चन्द्रमा है। वहाँ जितना प्राण है, उतना ही जल है अर्थात् जलकी तरह प्राण शरीरमें व्यापक है, तथा जलके आधार पर है। जितना जल है, उतना ही चन्द्रमा है, क्योंकि जहाँ जहाँ जल है वहाँ वहाँ शीतलता है। जो इन्हें अन्तवान् समझकर उपासना करता है वह अन्तवान् होकर विजयी होता है, एवं जो इनको अल्प जानता है उस का ज्ञान भी अल्प होता है। जो इनको अनन्त समझकर उपासना करता है वह अनन्त होकर जय प्राप्त करता है। भाव यह है कि जो इनको बड़ा जानता है उसका ज्ञान भी बृहत् होता है ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—वे ये वाक्, मन और प्राण सब समान हैं, अर्थात् तुल्य व्याप्तिवाले ही हैं। अध्यात्म और अधिभूतके सहित जितना भी प्राणियोंका विषय है ये उस सबको व्याप्त करके स्थित हैं। अतः ये अनन्त हैं यानी संसार की स्थिति पर्यन्त रहनेवाले हैं ॥ १३ ॥

अब पुरुषको षोडशकल संवत्सर रूपसे वर्णन करते हैं, यथा—

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याᳮ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मा-देताᳮ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलास-स्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

भावार्थ—वह यह तीन अन्नरूप संवत्सर प्रजापति सोलह कलाओंवाला है। रात्रियाँ ही उसकी पन्द्रह कला हैं, उसकी सोलहवीं कला ध्रुवा है, यानी उसकी सोलहवीं चिद्रूपा कला नित्या है। वह रात्रियोंके द्वारा ही वृद्धिको प्राप्त होता है और क्षीण होता है, यानी वह पुरुष कलाओंके द्वारा ही शुक्ल पक्षमें पूर्ण और कृष्ण पक्षमें न्यून होता है। अमावस्या की रात्रिमें वह इस सोलहवीं कलासे इन सब प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर फिर अगले दिन प्रातः कालमें उत्पन्न होता है। भाव यह है कि वह सोलहवीं कलासे लिङ्गशरीरमें प्रवेश करके फिर सुषुप्ति के अन्तमें जाग्रत् अवस्थाको प्राप्त होता है। इसी लिए इस रात्रिको किसी प्राणीके जीवनका हनन न करे—किसी प्राणीके प्राणका घात न करे। यहाँ तक कि इस देवताकी पूजाके लिए इस रात्रिमें गिरगिटके भी प्राण न ले, यानी छिपकली तकको न मारे ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—यह संवत्सरात्मा यानी कालरूप प्रजापति सोलह कला-अवयवोंवाला है। कालरूप प्रजापतिकी तिथियाँ ही पन्द्रह कलाएँ हैं और सोलह संख्या की पूर्ति करनेवाली कला नित्य व्यवस्थित है। उसका रात्रि दिन-से ही घटने बढने का व्यापार होता रहता है। यह पूर्णमासी तक बढ़ता है तथा अमावस्या तक घटता है, ये दो उसकी ध्रुवा कला हैं (ये दो नहीं हैं, ये तो उसकी

बढने घटनेको अवधि हैं)। अमावस्याकी रात्रिमें यह चन्द्रमा अपनी ध्रुवा कला के सहित समस्त प्राणिसमुदायमें अनुप्रविष्ट होकर विद्यमान रहता है, इसलिए इस अमावस्याकी रात्रिमें प्राणीको न मारे। यहाँ तक कि गिरगिटके भी प्राण न ले। प्रकृत मन्त्रमें विशेष रूपसे गिरगिटका ही नाम लेनेका क्या आशय है? इसपर कहते हैं—गिरगिट पापी प्राणी है, यह किसीका कोई खास काम भी नहीं करता। अतः बहुतसे लोग इसे यह समझकर मार डालते हैं कि यह देखनेमें अमङ्गलस्वरूप है, मनहूस है तथा बेकाम भी है। यहाँ इस छिपकलीका ग्रहण उपलक्षणार्थ है, यानी इस दिन किसी भी तुच्छातितुच्छ, पापीसे पापी जीवको जरा भी पीडा न पहुँचावे॥ १४॥

सोलह कलावाला संवत्सर प्रजापति अन्य नहीं है, वह अन्नोपासक ही है, यह कहते हैं, यथा—

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेत-न्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाहुः॥ १५॥

भावार्थ—जो यह पूर्वोक्त षोडशकल पुरुष संवत्सररूप प्रजापति कथन किया गया है उसका जाननेवाला मनुष्य ही संवत्सररूप प्रजापति होता है। क्योंकि उसका गौ आदि धन पन्द्रह कलाओंके समान और अपना शरीर सोलहवीं कला है। वह कभी धनसे बढता है और कभी घटता है। यह जो आत्मा यानी शरीर है यह रथचक्रकी नाभिके समान है, और धन रथचक्रके बाहरी घेरेकी नेमिके समान है। अतः यदि मनुष्य सर्वस्वहरणसे नष्ट हो जाय किन्तु शरीरसे जीवित रहे तो यही कहा जाता है कि यह केवल नेमिसे ही क्षीण हुआ है॥ १५॥

वि० वि० भाष्य—संसार का सारा काम धनसे इस प्रकार चल रहा है जैसे जगत् का परिणाम चन्द्रमाकी कलाओंसे साध्य होता है। सर्वस्वापहरण होनेसे मनुष्य ग्लानि को प्राप्त हो जाता है, यदि वह चक्रकी नाभिस्थानीय अपने देहपिण्डसे जीवित है तो लोग यही कहते हैं कि बाह्य परिवारसे क्षीण हो गया। भाव यह हुआ कि यदि मनुष्य जीवित रहता है तो फिर भी धनसे

ऐसे वृद्धिको प्राप्त हो सकता है, जैसे रथचक्र अरे और नेमिसे युक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

अब पुत्रादि साधनोंका साध्यविशेषोंके साथ सम्बन्ध बताते हैं, यथा—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाᳩ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशᳩसन्ति ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक ये ही तीन लोक हैं। यह मनुष्यलोक पुत्रके द्वारा ही जीता जा सकता है, यानी सन्तानोत्पत्तिसे मनुष्यलोक बनता है। क्योंकि यह लोक पुत्रसाध्य है। अग्निहोत्रादि कर्मोंसे पितृलोक प्राप्त होता है और विद्यासे देवलोक मिलता है। सब लोकोंमें देवलोक ही श्रेष्ठ है, अतः विद्या की प्रशंसा की गई है ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—शास्त्रोक्त साधनसे प्राप्त होने योग्य तीन ही लोक हैं। यह मनुष्यलोक पुत्ररूप साधनसे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य कर्म अथवा विद्यासे नहीं। अग्निहोत्रादिरूप केवल कर्मसे पितृलोक जीतने योग्य है, पुत्रसे अथवा विद्यासे नहीं। विद्यासे देवलोक प्राप्त करने योग्य है, पुत्रसे अथवा कर्मसे नहीं। यह याद रखना चाहिए कि तीनों लोकोंमें देवलोक ही श्रेष्ठ है, यानी सबसे अधिक प्रशंसनीय ह। अतः उसका साधन होनेसे विद्याकी प्रशंसा की गई है ॥ १६ ॥

विद्या और कर्म लोकजयके हेतु हो सकते हैं, पर पुत्र तो अक्रियात्मक है, वह किस प्रकार लोकजयका कारण होता है, यह कहते हैं, यथा—

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषाᳩ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाᳩ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदᳩ

सर्वमेतन्मा सर्वᳪ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंविद्-स्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति । स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनᳪ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्य-थैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥

भावार्थ—अब सम्प्रत्ति कही जाती है। जब पिता यह समझे कि मैं मरता हूँ अथवा यह विचार कर ले कि मैं संन्यास लेता हूँ, तब पुत्रके प्रति यह उपदेश करे कि 'तू ब्रह्म है' 'तू यज्ञ है' और 'तू लोक है।' तब पुत्र उत्तर दे कि 'हाँ मैं ब्रह्म हूँ' 'मैं यज्ञ हूँ' तथा 'मैं लोक हूँ'। जो कुछ भी स्वाध्याय है उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है, अर्थात् पिताका जो शेष अध्ययन है उसका नाम यहाँ 'ब्रह्म' है। जो कुछ भी यज्ञ है उसकी 'यज्ञ' यह एकता है और जो कुछ भी लोक है उसकी 'लोक' यह एकता है। इतना ही गृहस्थ पुरुषका सारा कर्तव्य है। इतना होनेपर पिता यह मान लेता है कि जब मैं इस लोकसे या घरसे चला जाऊँगा तब भी यह पुत्र मेरा पालन करेगा यानी मेरी आज्ञाका पालन करेगा। इस प्रकार उपदेश दिये हुए पुत्रको श्रुतिमें 'लोक्य' कहा है, यानी उसे लोकमें यश प्राप्तिके लिए हितकर कहा है। इसीसे पिता उसे उपदेश देता है। भाव यह है कि शिक्षित पुत्रको पिताका हित करनेवाला कहते हैं, इसीसे वह पुत्रको शिक्षा देता है। इस प्रकारका शिक्षक पिता जब इस लोकसे प्रयाण करता है तो अपने इन्हीं प्राणोंके सहित पुत्रमें व्याप्त हो जाता है, यानी सब वागादिकोंके साथ पुत्रमें प्रवेश करता है। यदि किसी भूलसे पिताका कोई कर्तव्य बाकी रह जाता है तो पुत्र उसका सम्पादन करके पिताको निश्चिन्त कर देता है यानी शोकमुक्त कर देता है। इसी कारण उसको पुत्र कहते हैं। ऐसे आज्ञाकारी पुत्रको प्राप्त होकर ही पिता पुत्रके द्वारा इस लोकमें विद्यमान रहता है यानी पुत्र मानो पिताके ही रूपसे प्रतिष्ठित है। फिर उसमें ये हिरण्यगर्भ-संबन्धी अमृत प्राण प्रविष्ट होते हैं, यानी ऐसे अनुष्ठान करनेवाले पुरुषको दिव्य तथा अमृतरूप वागादि इन्द्रिय और प्राण प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—आगे कहे जानेवाले कर्मका नाम संप्रत्ति यानी सम्प्रदान है। पिता पुत्रमें अपने व्यापारका सम्प्रदान करता है, उसीसे यह कर्म

संप्रत्ति है, यह सम्प्रत्ति पिता उस समय करता है जब उसमें मरनेके पूर्वचिन्ह प्रकट हो जाते हैं। वह उस समय पुत्रको बुलाकर 'तू ब्रह्म, यज्ञ तथा लोक है' यह कहता है। उत्तरमें पुत्र भी स्वीकार कर लेता है। इन वाक्योंका भाव गूढ़ होनेके कारण श्रुति स्वयं व्याख्या करती है—जो कुछ भी पढ़ा, बिना पढ़ा हुआ है, उसका 'ब्रह्म' नाम है यानी उस सभीकी इस पदमें एकता है। अध्ययन एवं बिना अध्ययन किया हुआ सब एक ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है। यहाँ पिताका भाव यह है कि जो वेद-विषयक स्वाध्यायकार्य इतने समय तक मेरे लिए कर्तव्य था उसका आजके बादसे पुत्र करनेवाला हो, इसीसे कहा है 'त्वं ब्रह्म'। इसी प्रकार जो यज्ञ मैंने किये थे तथा जो मुझसे नहीं किये जा सके थे वे 'त्वं यज्ञः' तुझे करने होंगे। एवं जो लोक मैं जीत सका तथा नहीं जीत सका वे लोक तेरे द्वारा जीते जाने योग्य हों, इसीसे 'त्वं लोकः' कहा गया है। अर्थात् हे पुत्र, आजसे आगेके लिए अध्ययन, यज्ञ और लोकजय सम्बन्धी कर्तव्यका सङ्कल्प मैंने तुझे सौंप दिया है, अब मैं इनकी कर्तव्यताके बन्धनसे मुक्त हो गया। श्रुतिका यह भाव है कि गृहस्थ पुरुषोंके लिए जो कर्तव्य है वह इतना ही है कि वेदोंका अध्ययन, यज्ञोंका यजन और लोकोंपर जय प्राप्त करनी चाहिए। मृत पिताका पालन यही है कि पिता यह समझता हुआ निश्चिन्त होकर मरे कि पुत्रने मेरे भारको मुझसे लेकर अपने ऊपर रख लिया है। इसलिए पुत्रको लोक्य यानी लोक परलोकमें हित करनेवाला कहा है। जिस पिताका इस प्रकार अनुशासित पुत्र होता है वह पुत्ररूपसे इसी लोकमें विद्यमान रहता है। यानी पिताको मरा हुआ न समझना चाहिए, पुण्यकर्मोंके लिए उसका प्रतिनिधि मौजूद है। पुत्रका अर्थ ही यह है कि पिताके बचे हुए मनोरथकी पूर्ति करके उसका त्राण कर दे ॥ १७ ॥

वाक्, मन और प्राण कैसे प्रविष्ट होते हैं, यह दिखाते हैं, यथा—

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

भावार्थ—उक्त सम्प्रत्ति कर्म करनेवाले पितामें पृथिवी और अग्निसे दैवी वाक्का आवेश होता है। पुरुष जिससे जो जो बोलता है वह वैसा ही वैसा हो जाता है, वही दैवी वाक् है। अर्थात् अनृतादि दोषोंसे रहित ही दैवी वाणी कही जाती है ॥ १८ ॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १९ ॥

भावार्थ—द्युलोक और आदित्यसे इसमें दैव मनका आवेश होता है। शोक-रहित आनन्दवालेको दिव्य मन कहते हैं ॥ १९ ॥

अद्भ्य श्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥ २० ॥

भावार्थ—जल और चन्द्रमासे भी दिव्य प्राण इसको प्राप्त होते हैं। जंगम तथा स्थावरोंमें विचरता तथा न विचरता हुआ जो पीड़ाको प्राप्त नहीं होता वही दैव प्राण है, वह नष्ट नहीं होता। इस प्रकार जाननेवाला सम्पूर्ण भूतों का आत्मा हो जाता है, जैसा यह देवता है यानी हिरण्यगर्भ है वैसा ही वह हो जाता है। जैसे सब जीव इस देवताके रक्षक होते हैं, वैसे ही ऐसी उपासना करनेवालेका समस्त भूत पालन करते हैं। जो कुछ ये प्रजाएँ शोक करती हैं वह उन्हींके साथ रहता है, यानी वह शोक उसे स्पर्श नहीं करता। कारण यह है कि देवताओंके समीप पाप नहीं जाता, अतः इस ज्ञाताको भी पुण्य ही प्राप्त होता है ॥ २० ॥

पहले वाणी, मन और प्राणकी सामान्यतः उपासना बताई गई है, उनमेंसे किसी एककी विशेषता नहीं बताई गई। क्या ऐसा ही समझा जाय, या व्रत उपासनाके विषयमें उनमें परस्पर कोई विशेषता जानी जाय, यह कहा जाता है, यथा—

अथातो व्रतमीमाꣳसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि

कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नो-त्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥ २१ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर व्रतका विचार करते हैं, यथा—प्रजापतिने कर्मोंकी रचना की, यानी कर्मके साधन वागादि इन्द्रियोंकी अपने अपने कर्मोंके लिए सृष्टि की। रचे जानेपर वे एक दूसरीके साथ डाह करने लगीं यानी परस्परके कर्ममें निःसहाय सी वर्तने लगीं। 'मैं कथन ही करती रहूँगी' यह वाणीने व्रत लिया। 'मैं देखता ही रहूँगा' यह व्रत चक्षुने लिया। श्रोत्रने यह व्रत लिया कि 'मैं सुनता ही रहूँगा'। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंने भी अपने अपने व्यापारका व्रत लिया। ऐसी स्थितिमें मृत्युने श्रमयुक्त होकर उनसे सम्बन्ध किया, फिर उनमें व्याप्त होकर उन्हें कर्म करनेसे रोक दिया। इसीसे वाणी श्रान्त होती है, नेत्र श्रमित होता है, श्रोत्र थक जाता है, इसीसे वाणी आदि इन्द्रिय अपने अपने व्यापारमें लगी हुई थक जाती हैं। यह जो शरीरान्तर्वर्ती प्राण है उसको श्रम व्याप्त करके न रोक सका, तब उन इन्द्रियोंने उसे जाननेका निश्चय किया। तब इन्द्रियोंने विचार किया कि यह प्राण ही हममें श्रेष्ठ है, जो जंगम एवं स्थावरोंमें विचरता हुआ भी व्यथाको प्राप्त नहीं होता और न क्षीण ही होता है। इसलिए इसीके रूपको प्राप्त होना चाहिए, ऐसा निश्चय करके वे सब इसीके रूपवाली हो गईं। इसी कारण सब इन्द्रियाँ प्राण नामसे प्रसिद्ध हुईं। इसलिए जो ऐसा जानता है वह जिस कुलमें उत्पन्न होता है वह कुल उसीके नामसे प्रसिद्ध हो जाता है भाव यह है कि यद्यपि वागादि इन्द्रियोंमें अपने अपने व्यापारकी सामर्थ्य है, तथापि प्राणके बिना उनका सामर्थ्य अकिञ्चित्कर है। ऐसे प्राणके दृढ़ व्रतका ज्ञाता जिस कुलमें उत्पन्न होता है

उसीके नामसे वह कुल बोला जाता है। जो इस प्रकारके सत्य सङ्कल्पवाले पुरुषके साथ ईर्षा करता है वह नष्ट हो जाता है। यानी वह सूख जाता है और सूखकर अन्तमें मर जाता है। यानी ईर्षालु चित्तमें जलता रहता है। यह अध्यात्मदर्शन है. यानी इसी प्रकार वागादि इन्द्रियों द्वारा आध्यात्मिक कर्मका कथन किया गया है ॥ २१ ॥

वि० वि० भाष्य—व्रतमीमांसा का अभिप्राय यह है कि जिसमें उपासना-कर्मका विचार किया जाय। यानी यहाँ यह विचार आरम्भ होता है कि प्राणोंमेंसे किस प्राणके कर्मको व्रतरूपसे धारण किया जाय। अन्य इन्द्रियोंके व्रत यानी व्यापार श्रमरूपसे प्राप्त मृत्युको पार नहीं कर सकते। हाँ, वे इन्द्रियाँ यदि प्राणका आश्रय ग्रहण कर लें तो थकावटसे बच सकती हैं। सब इन्द्रियाँ प्राणके चलनात्मक रूपसे अपने प्रकाशात्मक रूपको पाकर ही रूपवती हुई हैं। इन्द्रियाँ चलती हुई ही अपने व्यापारमें प्रवृत्त होती हैं, और प्राणके बिना चलनकी उपपत्ति नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

अब अधिदैवत व्रतका वर्णन करते हैं, यथा—

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्य-हमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्त-मिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

भावार्थ—अब अधिदैव दर्शन कहा जाता है। अग्निने जलनेका व्रत धारण करते हुए कहा कि मै जलता ही रहूँगा। सूर्य ने नियम किया कि मैं तपता ही रहूँगा। इसी प्रकार चन्द्रमाने निश्चय किया कि मैं सबको आह्लाद देता रहूँगा। इसी प्रकार अन्य देवताओंने भी यथादैवत व्रत लिया, यानी जिस देवताका जो व्यापार था तदनुसार उसने व्रत धारण किया। जिस प्रकार इन वागादि प्राणोंमें मध्यम प्राण है उसी प्रकार इन देवताओंमें वायु है। अन्य देवता अपने अपने व्यापारसे उपरत हो जाते हैं, परन्तु वायु नहीं। यह जो वायु है, अस्त न होनेवाला देवता है क्योंकि यह वायु देवता अविनाशी व्रतवाला है ॥ २२ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्रमें देवताविषयक दर्शन कहा गया है, यानी इस बातका विचार किया गया है कि किस देवताविशेषका व्रत धारण करना

श्रेष्ठ है। वाक्आदि अध्यात्म प्राणोंके समान अग्नि आदि अन्य देवगण अस्त होते हैं, अपने कर्मोंसे निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु वायु अस्त नहीं होता, जैसे कि मध्यम प्राण है ॥ २२ ॥

उक्त बातको ही दृढ करने के लिए कहते हैं, यथा—

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्च-क्रिरे धर्मँ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापा-न्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिप-यिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यँ सलोकतां जयति ॥२३॥

भावार्थ—पूर्वोक्त अर्थमें यह श्लोक प्रमाण है—"जिस वायु देवतासे सूर्य उदय होता है और और जिसमें अस्त होता है" इत्यादि। वागादि इन्द्रिय तथा अग्नि आदि देवताओंने उस प्राणव्रत तथा वायुव्रतको जो अवश्य कर्तव्य है, आज तक धारण कर रखा है और वे भविष्य कालमें भी इसी प्रकार धारण किये रहेंगे। अतः एक ही व्रतका आचरण करे, प्राण और अपानका व्यापार करे। इस व्रतका इस भयसे आचरण करे कि—मुझे कहीं पापी मृत्यु व्याप्त न कर ले। जिस प्राणव्रतका आरम्भ करे उसको अवश्य ही समाप्त करे। इस प्राणव्रतके धारण करने से वह इस देवतासे सायुज्य और सालोक्यको प्राप्त करता है, यानी प्राणकी तरह दृढव्रती होता है ॥ २३ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ इस मन्त्रकी व्याख्या की गई है कि "प्राणसे ही यह सूर्य उदय होता है और प्राणमें ही अस्त हो जाता है।" इन वाक् और अग्नि आदिने उस समय क्रमशः जिस प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण किया था, उसी को वे आज भी धारण करते हैं, उसीका अनुवर्तन करते हैं और उसीका अनुवर्तन करेंगे। यह व्रत उनके द्वारा अखण्डित ही है, क्योंकि सायंकाल और सुषुप्ति के समय उनका क्रमशः वायु और प्राणमें अस्त होना देखा जाता है।

कहा है कि जिस समय मनुष्य सोता है उस समय वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्र प्राणमें ही लीन हो जाते हैं और उठने के समय वे पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। यह अध्यात्म दृष्टिके अनुरोधसे कहा गया है। किन्तु आधिभौतिक दृष्टिसे यह कथन

है कि अग्नि जब शान्त होता है तो वह वायुके अधीन होकर शान्त होता है। जिस समय सूर्य अस्त होता है, वह वायुमें ही अनुगमन करता है। इसी तरह वायुमें ही चन्द्रमा तथा दिशाएँ भी प्रतिष्ठित होती हैं एवं वे पुनः वायुसे ही उत्पन्न हो जाती हैं। वागादि और अग्न्यादिकोंमें यही व्रत अनुगत है, यानी वायु और प्राणका जो परिस्पन्दरूप धर्म है वही समस्त देवताओं द्वारा अनुवर्तित होनेवाला व्रत है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी प्राणके सहारे जीवित हैं, सबको प्राणोंकी उपासना यानी रक्षा करनी चाहिये, वे प्राण चाहे अपने हों चाहे दूसरेके हों ॥ २३ ॥

——❀❀❀——

षष्ठ ब्राह्मण

अब नाम, रूप तथा कर्मका कारण कथन किया जाता है, यथा—

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमथो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषाᳫ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—यह जो नाम, रूप और कर्म इन तीनका समुदाय है, इसमें यह जो वाणी है वह देवदत्तादि नामोंका कारण है, क्योंकि सब नाम वाणीसे ही निकलते हैं। यह इनका साम है, यही सब नामोंमें समान है, यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही सब नामोंको धारण करता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—नाम, रूप और कर्म यह अनात्मा ही यहाँ 'त्रय' शब्दसे लिया गया है। जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है वह आत्मा नहीं है, अतः इससे विरक्त होनेके लिए ही इस मन्त्रका आरम्भ किया गया है। जिसका इस अनात्मासे मन नहीं हटा उसकी बुद्धि आत्मलोककी उपासना में प्रवृत्त नहीं हो सकती ॥ १ ॥

अब रूपका कारण कथन करते हैं, यथा—

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि

रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳪं सामैतद्धि सर्वैं रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—चक्षु सब सामान्य रूपोंका कारण है, क्योंकि इसीसे सब रूप उत्पन्न होते हैं। इन रूपोंका यह चक्षु साम है यानी सम है, अर्थात् सबमें व्यापक है और यही इन रूपोंका आत्मा है, क्योंकि यही सब रूपोंको धारण करता है ॥ २ ॥

सबके कर्मका आत्मामें अन्तर्भाव हो जाता है, यह दिखाते हैं, यथा—

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाᳪं सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रयᳪं सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत् त्रयं तदेतदमृतᳪं सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥

भावार्थ—सब कर्मोंका सामान्य आत्मा शरीर है, यह इनका **उक्थ** है यानी कारण है। इसीसे सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यही सबका साम है अर्थात् यह सामान्य क्रिया ही सब कर्मोंमें व्यापक रहती है। यह इनका **ब्रह्म** यानी आत्मा है, क्योंकि यही सब कर्मों को धारण करता है। वह यह तीन होते हुए भी एक आत्मा है और आत्मा भी एक होते हुए यह तीन है। अर्थात् यह नामादिक तीनों ही कार्यकारणरूप एक प्रपञ्च है, तथा यह प्रपञ्च तीनों का रूप है। यह अमृत सत्यसे आच्छादित है। प्राण ही अमृत है और नाम रूप सत्य हैं, उनसे यह प्राण आच्छादित है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—दर्शनरूप एवं चलनात्मक समस्त कर्मविशेषों का क्रियासामान्यमात्रमें अन्तर्भाव बतलाया जाता है, जैसे—समस्त कर्मविशेषों का आत्मा यानी शरीर सामान्य आत्मा है। आत्माका कार्य होनेसे यहाँ कर्मको आत्मा कहा गया है। जीव शरीरसे कर्म करता है, शरीरमें ही सम्पूर्ण कर्मों की अभिव्यक्ति होती है। यह कर्मसामान्य मात्र आत्मा अखिल कर्मों का उक्थ यानी कारण है। ये उक्त नाम, रूप और कर्म तीनों एक दूसरेके आश्रित, एक दूसरेकी अभिव्यक्तिके कारण, एक दूसरेमें लीन होनेवाले तथा आपसमें

मिले हुए तीन खण्डोंके समूहके समान एक हैं। उनकी किस रूपसे एकता है, यह कहते हैं—यह जो नाम, रूप और कर्म हैं, इतना ही यह सारा व्याकृत और अव्याकृत जगत् है। आत्मा भी एक यह कार्यकारणसंघात मात्र होते हुए यही एक अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव भावसे स्थित नाम, रूप, कर्म यह त्रय है। जो इन्द्रियरूप शरीरका आन्तर आधारभूत और आत्मस्वरूप है, वह प्राण ही अमृत अविनाशी है एवं शरीरावस्थित कार्यात्मक नाम रूप सत्य हैं। उनका आधारभूत क्रियात्मक प्राण वृद्धि-क्षयशील, बाह्य, शरीरस्वरूप, मरणधर्मा, नाम और रूपोंसे अप्रकाशित किया हुआ है। बस, यही अविद्याके विषयभूत संसार-का स्वरूप दिखलाया गया है। इसके बाद विद्याका विषयभूत आत्मा ज्ञातव्य है।

ब्रह्मात्मैक्य तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है। जो लोग रात दिन संसारके माया मोहमें रचे पचे रहते हैं, वे वेदान्तप्रतिपाद्य आत्मपदार्थसे दूर ही रहते हैं। पहले तो वेदान्तमें रुचि होना कठिन है, यदि हो भी जाय तो इसकी कठिन प्रतीत होनेवाली मंजिल तय नहीं हो पाती, किसी विरले पर प्रभुकृपा, गुरुकृपा और स्वकृपा होती है तो वह वेदान्तके परमपावन ब्रह्मकुण्डमें अवगाहन करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकता है।

जिन्हें कुछ ज्ञान प्राप्त होने लगता है उनके अनुष्ठानमें अनेक विघ्न बाधाएँ आड़ी आ जाती हैं। उन मुमुक्षुओंके सन्मार्गमें जो अनेक काँटे बिछे रहते हैं उनमें चार शूल महाभयानक हैं, यथा—विषयासक्ति, प्रमाणगत संशय, प्रमेयगत संशय और भ्रम। ये चारों ज्ञान को दुर्बल बनानेवाले प्रतिबन्धक हैं, या तो ज्ञान नहीं होने देते, अथवा उसे नष्ट कर देते हैं, अर्थात् ज्ञानको दृढ़ नहीं होने देते हैं।

उपनिषदों में इन विघ्नों की निवृत्ति के लिए अनेक तरहके उपाय बताये गये हैं, जैसे भयानक रोगीके लिए औषधि, पथ्य प्रभृति अनेक उपचार समय समय पर करने पड़ते हैं। उसी प्रकार इस चिररोगी जीवके लिए उपनिषदोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। जैसे विषयासक्तिरूप प्रतिबन्धककी निवृत्तका उपाय वैराग्यको बताया है। प्रमाणगत संशय की निवृत्ति श्रवणसे, प्रमेयगत संशयकी निवृत्ति मननसे और भ्रम यानी विपर्यय की निवृत्ति निदिध्यासनसे बताई गई है। पर विषयासक्तिके नाश बिना श्रवण नहीं हो सकता, वे दोनों बिना मननके नहीं हो सकते और इसी तरह वे तीनों बिना निदिध्यासनके नहीं हो सकते। मिथ्यात्मा शरीरके वर्णाश्रमसम्बन्धी कर्मोंसे, चान्द्रायणादि तपसे, हरिभजनसे तथा सर्व भूतोंपर दयारूप हरिके सन्तोषकारक व्यवहारसे वैराग्यादि

चारों साधन प्राप्त होते हैं। इसके अनन्तर प्रमाण संशयादि प्रतिबन्ध नाशरूप फलपर्यन्त श्रवण, मनन निदिध्यासन अवश्य करना योग्य है। जो श्रवण की सिद्धि हो जाय तो मनन और ध्यानके अनुष्ठानमें सुभीता हो सकता है। इसके अनन्तर उन दोनोंके परम प्रसिद्ध मूल श्रवण-रत्नको उपलब्ध करना चाहिए। ये बातें उपनिषद्रूप आकरमें भरी पड़ी हैं। इस उपनिषद्के इस प्रथम अध्यायमें ऐसे ही बहुत सुन्दर अध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक विषयोंका वर्णन किया गया है॥ ३॥

षष्ठ ब्राह्मण एवं प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

"आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादि श्रुतिसे आत्माकी उपासनाका विधान किया गया है। आत्माको खोज लेनेसे सब कुछ मिल जाता है। केवल आत्मतत्त्व ही विद्याका विषय है। जो भेददृष्टि का विषय है, वह तो "अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद" इत्यादि श्रुतिसे अविद्याका विषय है। इस प्रकार सब उपनिषदोंमें विद्या और अविद्याका विषय अलग अलग कहा गया है। उनमें अविद्याके विषयका, साधन आदि भेदोंसे प्रथम अध्यायमें कथन कर चुके। अब यह कहते हैं कि वह उक्त अविद्याका विषय दो प्रकारका है—एक आन्तर और दूसरा बाह्य। आन्तर प्राण है, जो गृहके आधारभूत खम्भोंके समान शरीरका आधारभूत, प्रकाशक और अमृतस्वरूप है। जो बाह्य है, वह कार्यरूप घरके तृणादिके समान, अप्रकाशात्मक तथा सत्य शब्दवाच्य है, इसीसे अमृतशब्दवाच्य प्राण प्रच्छन्न है। यही उपसंहारमें कहा गया है। इसी प्राणका बाह्य आधारके भेदसे अनेक प्रकारका विस्तार है। इस अध्यायके आरम्भमें अविद्याविषयको ही आत्मा समझनेवाला गार्ग्य ब्राह्मण वक्ता है और वस्तुतः आत्मदर्शी अजातशत्रु श्रोता है। इस प्रकार पूर्वोत्तरपक्षरूप आख्यायिकासे कहा गया अर्थ श्रोताके चित्तमें अनायास आ जाता है। क्योंकि अतिगम्भीर ब्रह्मविद्या पूर्वपक्ष और सिद्धान्त रूपसे आख्यायिका द्वारा निरूपित होनेपर ही सरलतासे ज्ञात होती है, इसलिए इस अध्यायमें आख्यायिका का आरम्भ करते हैं—

ॐ दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः

सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १ ॥

भावार्थ—अभिमानी तथा वाग्मी बालाकिने, जिसका गर्गगोत्र था, किसी समय अजातशत्रु नामक काशीराज के पास जाकर कहा कि मैं आपको ब्रह्मका उपदेश करूँगा। यह सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ, उसने कहा कि मैं आपको केवल इस प्रकार की वाणी बोलनेसे ही हजार गौएँ देता हूँ। क्योंकि लोग 'जनक-जनक' ऐसा कहकर दौड़ते हैं। यानी सब लोग यही कहते हैं कि जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है। ये दोनों बातें आपने अपने वचनसे मेरे लिए सुलभ कर दी हैं॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—किसी समयमें अविद्याके विषयको ही ब्रह्म जाननेवाला, गर्गगोत्रोत्पन्न बालाकि, जो ब्रह्मको सम्यक् रूपसे न जानने के कारण ही गरबीला था तथा बलाकाका पुत्र होनेसे बालाकि कहलाता था, वह ब्रह्मविद्याके अनुवचनमें बड़ा वाचाल था। उसने अजातशत्रु नामक काशीराजके पास जाकर कहा कि मैं तुम्हारे प्रति ब्रह्मका निरूपण करूँगा। राजाने जब ऐसा सुना तब वह कहने लगा कि इस प्रकारकी केवल वाणी बोलनेसे ही मैं तुम्हें हजार गौएँ देता हूँ। लोकमें अब तक तो यही प्रसिद्धि रही है कि जनक ही ब्रह्मको सुनने की इच्छा रखता है और जनक ही दाता है, वही ब्रह्मज्ञानी है। इसलिए ब्रह्मको कहने सुनने के लिए लोग जनकके पास ही जाते थे। लेकिन आप मुझमें भी उक्त गुणों की संभावना कर मेरे पास आये हैं। अतः ब्रह्मनिर्णय आप भले ही न कर सकें किन्तु केवल 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस शब्द मात्रको सुनकर मैं आपको हजारों गौएँ देता हूँ ॥१॥

अब सुननेकी इच्छासे सामने उपस्थित राजाको बालाकि ब्रह्मका उपदेश करता है, यथा—

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस गार्ग्य बालाकिने कहा—जो आदित्यमें यह पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। अजातशत्रुने कहा—इस ब्रह्मके विषयमें ऐसा मत कहो, ऐसा मत कहो। वह सूर्यस्थ पुरुष सब जीवोंको अतिक्रमण करके रहनेवाला है, सब प्राणियोंका सिर है तथा राजा यानी प्रकाशवाला है। ऐसा मानकर मैं अवश्य इसकी उपासना करता हूँ और ऐसा ही मानकर जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह उपासक सबको अतिक्रमण करनेवाला, सब प्राणियोंका सिर तथा राजा होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्मके शुश्रूषु काशीराजके प्रति गार्ग्यने कहा कि जो आदित्यमें यह पुरुष है तथा चक्षुमें जो पुरुष है, वही चक्षुके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट होकर इस देहमें कर्ता और भोक्ताके रूपसे व्यवस्थित है। आदित्य और चक्षुमें स्थित पुरुषोंको एक समझकर मैं उनकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ, आप वैसी ही उपासना कीजिये। यह सुनकर राजाने निषेध करते हुए कहा कि ऐसा मत कहिये, मैं इसकी वास्तविकता को जानता हूँ। आदित्य पुरुष सब भूतोंका अतिक्रमण कर स्थित है, इसलिए यह अतिष्ठा कहलाता है। यह सब भूतों का सिर है और दीप्तिगुणविशिष्ट होनेसे राजा भी है। इन विशेषणोंसे विशिष्ट आदित्यात्मा को मैं जानता हूँ और उसकी वैसी ही उपासना करता हूँ।

इस प्रकार गुणत्रयविशिष्ट ब्रह्मकी उपासनासे होनेवाले फलको भी बतलाते हैं—जो जिस प्रकारके गुणसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करता है, उसको उसी गुणके अनुसार फल होता है। अतएव भगवती श्रुति कहती है—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'। इसलिए प्रकृत उपासक सबका अतिक्रमण करनेवाला, सबका मूर्धन्य और राजा होता है यानी सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ २ ॥

इस प्रकार अजातशत्रुने जब संवादके द्वारा आदित्य ब्रह्मका निषेध कर दिया, तब गार्ग्य चन्द्रमण्डलवर्ती अन्य ब्रह्मका प्रतिपादन करने लगा, यथा—

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा—जो चन्द्रमामें यह पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। अजातशत्रुने कहा—ब्रह्मके विषयमें ऐसा मत कहो। यह महान्, शुक्ल वस्त्रधारी, सोम राजा है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार जो इसकी प्रतिदिन उपासना करता है, उसके लिए नित्य प्रति सोम सुत तथा प्रसुत होता और उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—फिर उस गर्गगोत्री बालाकिने कहा कि जो यह चन्द्रमा तथा बुद्धिमें एक पुरुष है, इसकी ब्रह्मबुद्धिसे मैं उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रु राजाने कहा कि इस ब्रह्मसंवादमें इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है। निःसन्देह यह श्वेतवस्त्रधारी चन्द्रमा प्रकाशमान है, मैं इसकी उपासना ऐसा समझकर करता हूँ, और जो इसकी उपासना इसी प्रकार प्रतिदिन करता है, उसके लिए नित्य प्रति प्रकृति यज्ञमें सोमरस प्रस्तुत रहता है तथा विकृति यज्ञमें अधिकतासे निरन्तर सोमरस प्रस्तुत रहता है। यानी उसे प्रकृति विकृतिरूप दोनों प्रकारके यज्ञानुष्ठानमें सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है तथा इस अन्नात्मक ब्रह्मके उपासकका अन्न भी कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

भावार्थ—गार्ग्यने कहा—जो विद्युत्में यह पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। अजातशत्रुने कहा—नहीं नहीं, इसकी चर्चा मत करो, इसकी तो मैं तेजस्वीरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है तथा उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—सूर्य और चन्द्रमाका तेज मेघमालासे अभिभूत हो जाता है, किन्तु बिजलीका तेज और भी बढ़ जाता है, इसलिए बिजलीका तेज उक्त तेजोंसे उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट तेजका ही ध्यान करना चाहिए, इस तात्पर्यसे गार्ग्य विद्युत्पुरुषकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करनेके लिए ऐसा उपदेश देता है कि विद्युत्में और हृदयमें जो एक देवता है वह ब्रह्म है। राजाने पूर्ववत् कहा कि नहीं, नहीं, वह तेजस्वी है, और वैसा मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ।

जो कोई इस बुद्धिसे उसकी उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और उसकी सन्तति भी तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुनः वह प्रसिद्ध गर्गगोत्री बालाकि बोला—यह जो आकाशमें पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रु राजा बोला कि नहीं, नहीं; इसके विषयमें बात मत करो। मैं इसकी पूर्ण तथा क्रियाशून्य रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई उसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा तथा पशुओंसे पूर्ण होता है और इस लोकमें उसकी सन्ततिका नाश नहीं होता ॥५॥

वि० वि० भाष्य—फिर भी वह प्रसिद्ध गर्गगोत्रमें उत्पन्न हुआ बालाकि बोला कि हे राजन्, आकाश तथा हृदयाकाश में जो पुरुष है, वही ब्रह्म है, ऐसी हम उपासना करते हैं। ऐसा सुनकर राजा अजातशत्रु कहने लगा कि नहीं, इस ब्रह्मके विषयमें ऐसा मत कहो, यह ब्रह्म नहीं है जिसको तुम ब्रह्म समझते हो। मैं तो पूर्ण और अप्रवर्ती (क्रियारहित) मानकर उसकी उपासना करता हूँ। जो कोई पूर्ण और क्रियाशून्य मानकर उसकी उपासना करता है, वह प्रजा तथा पशुओंसे परिपूर्ण होता है तथा कभी उसकी सन्तानका उच्छेद नहीं होता ॥ ५ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥६॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा—यह जो वायुमें पुरुष है इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। अजातशत्रुने कहा—नहीं, नहीं, इसके विषयमें इस प्रकारकी बात मत करो, इसकी तो मैं इन्द्र, वैकुण्ठ तथा अपराजिता सेना; इस रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह विजयी, कभी न हारनेवाला और शत्रुविजेता होता है ॥ ६ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पुनः गार्ग्यने कहा कि जो वायुमें पुरुष है, उसकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ। राजाने पूर्ववत् कहा कि वह जो इन्द्र (परमेश्वर), वैकुण्ठ (जो विशेष रूपसे सहन न किया जा सके) और अपराजिता सेना है, ये सब ब्रह्म नहीं हैं, मैं तो उनकी उपासना उक्त गुणों द्वारा ही करता हूँ। जो कोई इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजित आदि गुणोंसे विशिष्ट उनकी उपासना करता है, वह उपासनाके गुणभेदसे जयशील, अपराजिष्णु तथा अजित स्वभाववाला होता है। तीनों विशेषणोंके क्रमशः तीन फल हैं, यानी इन्द्रगुण विशिष्टकी उपासनासे जयशील होता है, वैकुण्ठगुणविशिष्टकी उपासनासे स्वयं अजेय होता है और अपराजिता सेनाके गुणविशिष्टकी उपासनासे सापत्न भाइयोंपर विजय पाता है ॥ ६ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा—यह जो अग्निमें पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रुने कहा—नहीं, इसके विषयमें ऐसा मत कहो, इसकी तो मैं विषासहिरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह अवश्य विषासहि (सहनशील) होता है तथा उसकी प्रजा भी विषासहि होती है ॥ ७ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपँ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा—यह जो जलमें पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रुने कहा—नहीं, इसके विषयमें ऐसा मत कहो, इसकी मैं 'प्रतिरूप' रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके पास प्रतिरूप ही आता है, अप्रतिरूप नहीं आता तथा उससे प्रतिरूप (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—बालाकि अजातशत्रु राजासे बोला कि जो जलमें पुरुष है अर्थात् पुरुषका प्रतिबिम्ब है, मैं उसको ब्रह्म समझकर उपासना करता हूँ, आप भी ऐसा ही करें। यह सुनकर राजा बोला कि हे ब्राह्मण, इसके विषयमें ऐसा मत कहो, यह ब्रह्म नहीं है। जिसकी तुम उपासना करते हो, यह केवल पुरुषका प्रतिबिम्ब है। अर्थात् इसमें अनुकूलत्वगुण है, ऐसा जानकर मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो कोई दूसरा इसको ऐसा ही जानकर उपासना करता है वह भी अनुकूल पदार्थोंको प्राप्त होता है, विपरीत वस्तुको नहीं और इस पुरुषके समान ही इसके पुत्र-पौत्र उत्पन्न होते हैं॥ ९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वाꣳस्तानतिरोचते ॥ ६ ॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा—यह जो दर्पणमें पुरुष है यानी पुरुषका प्रतिबिम्ब है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। तब उस अजातशत्रुने कहा कि नहीं, नहीं, इसके विषयमें ऐसा मत कहो। इसकी मैं रोचिष्णु (देदीप्यमान) रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस रूपसे उपासना करता है वह देदीप्यमान होता है, उसकी प्रजा भी देदीप्यमान होती है तथा उसका जिनसे साथ होता है उन सबसे बढ़कर वह देदीप्यमान होता है ॥ ९॥

वि॰ वि॰ भाष्य—गार्ग्यने फिर कहा—अच्छा तो जो यह आदर्शमें पुरुषका प्रतिबिम्ब है, वही ब्रह्म है। राजाने कहा—नहीं, नहीं, वह तो रोचिष्णु—देदीप्यमान है तथा उसकी उसी बुद्धिसे हम उपासना करते हैं अर्थात् देदीप्यमान और कान्तियुक्त पुरुषकी आदर्श, चक्षु आदि स्वच्छ पदार्थ तथा स्वच्छ बुद्धिमें उपासना करते हैं। जो उक्त गुणसे विशिष्ट पुरुषकी उक्त आश्रयोंमें उपासना करता है, वह स्वयं रोचिष्णु होता है तथा उसकी सन्तति भी उक्त गुणसे विशिष्ट होती है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा

मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥ १० ॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा कि जो यह गमन करनेवाले पुरुषके पीछे शब्द उत्पन्न होता है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रुने कहा कि इसके विषयमें ऐसा मत कहो। इसकी तो मैं प्राणरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह इस लोकमें पूर्ण आयुको प्राप्त होता है और नियत समयके पहले प्राण इसको नहीं छोड़ते हैं॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्यके चलते समय कुछ शब्द अवश्य उत्पन्न होता है। जैसे घोड़ेके चलनेसे टापका शब्द सुन पड़ता है, वैसे ही दूसरेके पादविक्षेपसे भी शब्द होता है। उसमें तथा अध्यात्मबुद्धिमें जो पुरुष है, वही ब्रह्म है, यह बालाकिका मत था। इसपर राजाने पूर्ववत् निषेध कर कहा कि वह असु है, ऐसी ही बुद्धिसे मैं उसकी उपासना करता हूँ। असु यानी प्राण जीवनका हेतु है। मार्गमें जब पुरुष दौड़ता है तब भी शरीरकी उच्छ्वासादि वृत्तिसे शब्द होता है, जिसको हाँफना कहते हैं, उस शब्दमें पुरुषका ध्यान करना चाहिए, यह भी बालाकिका तात्पर्य हो सकता है। शब्द पुरुषका 'असु' यह जो विशेषण दिया है उसका तात्पर्य यह है कि बाह्य प्राणवृत्तियोंका त्याग कर जो प्राणात्मा स्थित है वही असुगुणवाला है। जो असुगुणसे विशिष्ट प्राणकी उपासना करता है, वह संपूर्ण आयु पाता है, रोगादिसे पीड़ित होनेपर भी प्रारब्धकालसे पहले देहपिण्डको नहीं छोड़ता, यानी प्राप्त आयुका पूर्ण भोग करता है॥ १० ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११ ॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा कि यह जो दिशाओंमें पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। यह सुन अजातशत्रुने कहा कि इसके विषयमें ऐसा मत कहो। मैं इसकी द्वितीय अनपग रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस

प्रकार उपासना करता है, वह भी द्वितीयवान् होता है तथा उससे गणका विच्छेद नहीं होता ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—अनपग माने अविमुक्तस्वभाव, जैसे अश्विनीकुमार सदा जोड़ेके रूपमें ही रहते हैं, इनका कभी वियोग नहीं होता । दिशा तथा अश्विनीकुमारोंका साधर्म्य यह है कि जैसे दिशाओंमें परस्पर वियोग नहीं है, वे सदा संयुक्तस्वभाव होती हैं, वैसे ही वे देवता कभी भी परस्पर वियुक्त नहीं होते, सदा संयुक्त ही रहते हैं। जो इस गुणसे विशिष्ट कान और हृदयरूप दिशाओंकी उपासना करता है, वह सदा द्वितीयवान् ही रहता है, यानी पुत्र भृत्य आदि परिवारसे सदा संयुक्त ही रहता है, उनसे कभी वियुक्त नहीं होता ॥ ११ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा कि जो यह छायामय पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ। तब अजातशत्रु बोला कि नहीं नहीं, इसके विषयमें ऐसा मत कहो। मैं तो इसकी मृत्युरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह अवश्य इस लोकमें पूर्ण आयुको प्राप्त होता है तथा उसके निकट मृत्यु नियत कालसे पहले नहीं आता है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—छायामें यानी बाह्य अन्धकारमें तथा शरीरान्तर्गत आवरणरूप अज्ञानमें और हृदयमें भी एक ही देव है। उसका विशेषण मृत्यु है, उस मृत्युकी बाधानिवृत्तिके साथ ही रोगादि पीड़ाका अभाव भी उपासकको होता है ॥१२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३ ॥

भावार्थ—उस गार्ग्यने कहा कि जो यह आत्मामें पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे

उपासना करता हूँ। यह सुन अजातशत्रु बोला कि नहीं, नहीं, इसके विषयमें ऐसा मत कहो, मैं तो इसकी आत्मन्वी रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह अवश्य आत्मन्वी होता है तथा उसकी सन्तति भी आत्मन्वी होती है। तब वह गार्ग्य चुप हो गया ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—आत्मामें (प्रजापतिमें) और बुद्धिमें (हृदयमें) भी एक ही देव है, वही ब्रह्म है; गार्ग्यके इस कथनको सुनकर राजाने कहा कि वह ब्रह्म नहीं है, वह आत्मन्वी—आत्मवान् विराट् पुरुषका गुण है। आत्मन्वीका अर्थ है कि जिसने मनको जीत लिया हो। इस प्रकारकी गुणोपासनाका फल यह है कि वह उपासक स्वयं और उसकी सन्तति आत्मन्वी होती है। गार्ग्य अपने पक्षका पुनः पुनः प्रत्याख्यान देखकर सादर दूसरे दूसरे ब्रह्मका उपदेश देता गया। किन्तु अन्तमें सारे उपदेशका राजाके द्वारा खण्डन होनेपर सिर नीचा कर अज्ञानसे चुपचाप होकर बैठ गया ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥१४॥

भावार्थ—गार्ग्यको ऐसी दशामें स्थित देखकर राजाने कहा कि क्या तुम इतना ही जानते हो ? वह गार्ग्य बोला—हाँ, अवश्य मैं इतना ही जानता हूँ। यह सुनकर राजाने कहा कि इतनेसे ब्रह्म ज्ञात नहीं हो सकता। तब वह गार्ग्य बोला कि मैं आपके निकट शिष्यभावसे प्राप्त होता हूँ ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—समस्त तथा व्यस्तसे भिन्न अन्य प्रकारसे ब्रह्मोपदेशकी प्रतिभा गार्ग्यमें न थी। अतः जब वह चुप हो गया तब राजा समझ गया कि अतिरिक्त ब्रह्मोपदेशकी प्रतिभा इसमें नहीं है। इससे राजाको ज्ञात हो गया कि यह ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानमें अपूर्ण है। राजाने कहा कि इतनेसे ब्रह्म नहीं जाना जा सकता है। इसपर गार्ग्यको मालूम हो गया कि राजाको ब्रह्मका पूरा ज्ञान है, ऐसा जानकर उसने राजासे कहा—मैं आपके समीप शिष्यभावसे प्राप्त हूँ ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नाम-

भिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनापेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

भावार्थ—तब वह अजातशत्रु राजा बोला कि जो ब्राह्मण इस आशासे क्षत्रियके समीप जाय कि यह मेरे लिए अवश्य ब्रह्मका उपदेश करेगा, तो यह प्रतिलोम, विपरीत यानी शास्त्रविरुद्ध है। किन्तु मैं निश्चय करके ब्रह्मके विषयमें कहूँगा। इतना कहकर राजा उसका हाथ पकड़कर उठ खड़ा हुआ तथा वे किसी सोये हुए पुरुषके पास आये और उसको इन नामोंसे जगानेके लिए पुकारने लगे कि हे श्रेष्ठ पुरुष, हे श्वेत वस्त्रधारी, हे सोम, हे राजन्, जागो। किन्तु वह सोया हुआ पुरुष नहीं उठा, तब उसे हाथसे दबा दबाकर जगाया तो वह जाग गया ॥ १५ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥ १६ ॥

भावार्थ—इसके बाद अजातशत्रु राजा बोला कि हे बालाकि, जो यह विज्ञानमय पुरुष है, जिस समय सोया हुआ था उस समय कहाँ था? यह कहाँसे आ गया? परन्तु गार्ग्य इन दोनों प्रश्नोंको अच्छी तरह नहीं समझा ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—अजातशत्रु इस प्रकार देहसे व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व प्रतिपादन कर गार्ग्यसे बोला कि हे गार्ग्य, जब यह जीवात्मा सोया हुआ था, तब यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था? तथा जिस समय शरीरको दबाकर जगाया गया तो यह कहाँसे आ गया? अर्थात् इस पड़े हुए शरीरमें कौन सोने और जागनेवाला है? और वह कहाँसे आया है? हे ब्राह्मण, क्या तुम इन सब प्रश्नोंके उत्तरको जानते हो? यह सुनकर उस ब्राह्मणने कहा कि मैं आपके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि मैं इस विषयको नहीं जानता हूँ ॥ १६ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥ १७ ॥

भावार्थ—अजातशत्रु बोला कि जब यह जीवात्मा शरीरमें सोया हुआ था, उस अवस्थामें यह विज्ञानमय पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा इन वागादि इन्द्रियोंकी विषयग्रहण सामर्थ्यको ग्रहण कर हृदयके भीतर आकाशमें शयन कर रहा था। जब वह पुरुष उन वागादि इन्द्रियोंको अपनेमें लय कर लेता है तब वह 'स्वपिति' इस नामसे कहा जाता है। तभी प्राण यानी घ्राणेन्द्रिय गृहीत होती है, वाणी गृहीत होती है, नेत्र गृहीत होता है, श्रोत्र गृहीत होता है और मन भी गृहीत होता है। अर्थात् ये सब अपने अपने कार्यमें असमर्थ हो जाते हैं॥ १७॥

वि० वि० भाष्य—जब पुरुष देह तथा इन्द्रियोंकी अध्यक्षता त्याग देता है, तब अपने आत्मामें ही विद्यमान रहता है। यह नामकी प्रसिद्धिसे जाना जाता है, नामकी प्रसिद्धिको श्रुति भगवती स्वयं बतलाती है—जब यह उन वागादिके विज्ञानोंको ग्रहण कर लेता है तब यह पुरुष 'स्वपिति' नामसे कहा जाता है, यानी उस समय इस पुरुषका यही नाम प्रसिद्ध होता है। यह इसका गुणजनित नाम है। यह 'स्व' यानी आत्माको ही 'अपिति' यानी प्राप्त हो जाता है, अतः 'स्वपिति' ऐसा कहा जाता है। यहाँ वागादिका प्रकरण होनेसे 'प्राण' शब्दसे घ्राणेन्द्रिय समझनी चाहिए, कारण यह है कि वागादिका सम्बन्ध होनेपर ही उनकी उपाधिसे युक्त होनेके कारण इसका संसारधर्मयुक्त होना देखा जाता है। उस समय उन वागादिका वह उपसंहार कर लेता है, क्योंकि उस समय वाणी गृहीत रहती है, नेत्र गृहीत रहता है, श्रोत्र गृहीत रहता है तथा मन भी गृहीत रहता है। इसलिए यह मालूम होता है कि वागादि इन्द्रियोंका उपसंहार हो जानेपर क्रिया, कारक तथा फलका अभाव हो जानेसे आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है॥ १७॥

अब स्वप्नवृत्तिका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं, यथा—

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते॥ १८॥

भावार्थ—जिस कालमें यह पुरुष इस देहमें स्वप्नके व्यापारोंको करता है उस समय इसके किये हुए सब कर्मफल उदय हो आते हैं। उस अवस्थामें यह

कभी महाराजके समान इस शरीरमें विचरता है, कभी महाब्राह्मणके समान विचरता है, कभी ऊँच नीच योनिको प्राप्त होता है तथा जैसे कोई महाराज जीते हुए देशोंके पदार्थोंको लेकर अपने देशमें अपनी इच्छानुसार घूमता फिरता है, इसी प्रकार यह पुरुष भी वागादिक इन्द्रियोंको लेकर अपने शरीरमें अपनी इच्छाके अनुसार भ्रमण करता है ॥ १८ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस समय यह जीवात्मा इस देहमें स्वप्न द्वारा स्वप्नके व्यापारोंको करता है, उस समय कभी राजा होता है, कभी चाण्डाल बनता है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी मारता है और कभी मारा जाता है। किन्तु इसके ये महाराजत्वादि लोक मिथ्या ही हैं, क्योंकि इनके साथ 'इव' शब्दका प्रयोग किया गया है तथा स्वप्नसे इतर अवस्थाओंमें इनका व्यभिचार भी देखा जाता है। अतः स्वप्नावस्थामें बन्धुवियोगादिजनित शोकमोहादिसे संबन्ध होता हो ऐसी बात नहीं है। किन्तु जाग्रत्कालके समान स्वप्नकालमें महाराजत्वादि लोकोंको भी, उस कालमें अव्यभिचारी होनेसे, सत्य ही मानना चाहिये, अन्यथा जाग्रत्कालिक महाराजत्वादि भी स्वप्नमें व्यभिचरित हैं, अतः वे भी सत्य नहीं होंगे। इसलिए स्वाप्निक महाराजत्वादि अविद्यारोपित हैं, जाग्रत्कालिक महाराजत्वादि नहीं, यह वैषम्य युक्तिशून्य है। जैसे सेवकवर्ग तथा अन्य दर्शकगणको लेकर राजा अपने विजित देशमें यथेष्ट विहार करता है, वैसे ही यह विज्ञानमय आत्मा वागादि इन्द्रियोंको लेकर जागरित स्थानसे उठकर अपने शरीरमें ही स्वप्नस्थानमें यथेष्ट विहार करता है, यही स्वप्न कहलाता है। वह कामकर्मानुकूल पूर्वानुभूत वस्तुओंके समान वस्तुओंको देखता है, इसलिए स्वप्न मिथ्या है, इसीलिए अध्यस्त लोक अविद्यमान ही रहता है। एवं जाग्रत् अवस्थामें प्रतीयमान लोक भी मिथ्या ही समझना चाहिए, अतः दर्शनमात्रसे उक्त दो अवस्थाओंमें वस्तुसत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। इससे विशुद्ध तथा क्रियाकारक-फलशून्य विज्ञानमय आत्मा है, यह सिद्ध होता है। जिस प्रकार स्वप्नमें दृष्ट लोक मिथ्या है उसी प्रकार जाग्रतमें भी क्रियाकारक-फलस्वरूप कार्यकारणलक्षण लोक मिथ्या है, इससे अतिरिक्त विज्ञानमय आत्मा विशुद्ध है ॥ १८ ॥

स्वप्न मिथ्या ही सिद्ध होता है, पर उसका द्रष्टा आत्मा शुद्ध है, यह पहले कहा गया है। किन्तु आत्मामें कामका सम्बन्ध भी प्रतीत होता है, द्रष्टाका दृश्यके साथ सम्बन्ध स्वाभाविक है। इसलिए पुनः आत्मामें अशुद्धता प्राप्त हुई, इस शंका-निवृत्तिके लिए भगवती श्रुति कहती है, यथा—

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

भावार्थ—इसके बाद जब पुरुष सुषुप्तिगत होता है तब किसी पदार्थको नहीं जानता है, उस अवस्थामें जो हितानामक बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदयसे निकलकर शरीर भरमें व्याप्त हैं, उनके द्वारा बुद्धिके साथ लौटकर सुषुम्ना नाड़ीमें सोता है अर्थात् आनन्द भोगता है। जैसे कोई बालक अथवा महाराज अथवा दिव्य ब्राह्मण आनन्दकी सीमाको पाकर सोता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस शरीरमें आनन्दपूर्वक सोता है ॥ १९ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस समय पुरुषकी स्वाप्निक वृत्ति रहती है, उस समय भी यह पुरुष विशुद्ध ही रहता है। फिर जिस समय स्वाप्निक वृत्तिका भी त्याग कर यह सुषुप्त हो जाता है यानी अपने स्वभावसे स्थित होता है, तब जिस प्रकार जल पङ्कसंबन्धसे उत्पन्न कालुष्यका त्याग कर अपने स्वच्छ स्वभावसे युक्त होता है, उसी प्रकार सुषुप्तिमें प्रसन्न होता है। सुषुप्ति तब होती है जब शब्दादिसे किसी पदार्थका ज्ञान नहीं होता। स्वप्नमें विशेष विज्ञानाभाव तथा सुषुप्तिमें ज्ञानसामान्याभाव रहता है, अत एव उन दो अवस्थाओंमें विलक्षणता है। सुषुप्ति होनेका क्रम यह है कि हित फलकी प्राप्तिमें निमित्त नाड़ियाँ हैं, इसलिए वे हिता कहलाती हैं, वे शरीरसंबन्ध होनेके कारण अन्वय व्यतिरेकसे अन्नरसका विकार हैं, उन नाड़ियोंकी संख्या बहत्तर हजार है, वे हृदयसे यानी पुण्डरीकाकार मांसपिण्डसे निकलकर पुरीतत् यानी सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त हैं। यद्यपि पुरीतत् हृदयवेष्टनको कहते हैं तथापि यहाँ उससे उपलक्षित शरीर पुरतत् शब्दसे अभिप्रेत है। लोहेके तप्त पिण्डमें जैसे सर्वतः अग्नि व्याप्त होता है, वैसे ही शरीरको व्याप्त कर आत्मा उसमें स्थित होता है। यानी उसकी किसी स्थानविशेषमें विशेष अभिव्यक्ति नहीं रहती, बुद्धिके संकोचके साथ उसका भी संकोच हो जाता है, केवल वह सामान्य सत्तामात्रसे अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित रहता है। वह अपने स्वाभाविक स्वरूपमें विद्यमान रहते हुए भी कर्मानुसारिणी बुद्धिका अनुवर्ती होनेके कारण 'शरीरमें

शयन करता है' ऐसा कहा जाता है। सुषुप्तिकालमें उसका शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, अतएव उस समय वह हृदयके सारे शोकोंको पार कर लेता है। सब सांसारिक दुःखोंकी विमुक्तिस्वरूप वह अवस्था है। इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि वह आत्मा इस प्रकार आनन्दपूर्वक सोता है जैसे कोई अत्यन्त छोटा बालक अथवा शास्त्रोक्त आचरण करनेवाला महाराज अथवा अत्यन्त परिपक्व विद्या-विनयसंपन्न दिव्य ब्राह्मण आनन्दमें पड़ा हुआ सोता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार सुषुप्तावस्थामें वह अपने स्वाभाविक स्वरूपसे सारे सांसारिक धर्मोंसे अतीत होकर विद्यमान रहता है ॥ १९ ॥

'उस समय यह आत्मा कहाँ था' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया। इस प्रश्नके निर्णयसे ही विज्ञानरूप आत्माकी स्वभावतः विशुद्धि और असंसारिता भी बतला दी गई। अब 'यह कहाँसे आया' इस प्रश्नका उत्तर आरम्भ किया जाता है, यथा—

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे मकड़ी अपने तन्तुके आश्रयमें विचरती है तथा जैसे अग्निसे छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, ऐसे ही इस आत्मासे सब वागादि इन्द्रियाँ, सब भूआदि लोक, सब आदित्यादि देवता, सब आकाशादि महाभूत निकलते हैं। उस आत्माका ज्ञान ही सत्यका सत्य है। प्राण ही सत्य है। उन्हींका यह सत्य है ॥ २० ॥

वि० वि० भाष्य—लोकमें जैसे ऊर्णनाभि मकड़ी अकेली ही अपनेसे भेद न रखनेवाले तन्तुओं द्वारा ऊपरकी ओर जाती है, उसके ऊपर जानेमें उससे भिन्न कोई अन्य साधन नहीं है। वैसे ही ब्रह्म भी अपनेसे किये हुए जगत्‌के आश्रयमें विचरता हुआ प्रतीत होता है। जैसे अग्निसे छोटी छोटी चिनगारियाँ इधर उधर उड़ती हुई दिखाई देती हैं वैसे ही इस आत्मासे वागादि सब प्राण, पृथिवी आदि सब लोक, सब कर्मफल, सब देवता और सब भूत यानी ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिस कारणरूप ब्रह्मसे स्थावर जङ्गमात्मक प्रपञ्च उत्पन्न होता है, जिसमें रहता है तथा जिसमें जलबुद्‌बुद्‌के समान लीन होता है, उस आत्मस्वरूप ब्रह्मका ज्ञान ही परम सत्य है। इसी तरह वागादि इन्द्रियाँ भी उसके

आश्रयमें होनेके कारण ही सत्य है, वैसे तो वे विनाशी हैं, उन सबोंमें यह आत्मा ही सत्य अविनाशी है ॥ २० ॥

——❀❀❀——
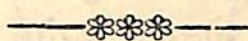
द्वितीय ब्राह्मण
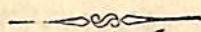
आत्माकी प्राण उपाधि है, इसलिए प्राण उपास्य कहा गया है। उपाधिभूत प्राण और उपाधेयभूत आत्मा—इन दोनोंका इस ब्राह्मणमें विवेचन किया जाता है। प्राण और आत्मा इन दोनोंका भेद स्फुट नहीं है, अन्यथा बालाकि-सदृश विद्वान्‌को इसमें भ्रम नहीं होता, अतः सर्वसाधारणको विवेक हो इस कामनासे दोनोंका विवेक दिखाया जायगा, जो उपासकोंके लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राणके विवेकके विना आत्माका विवेक नहीं हो सकता, अतः उसके उपायभूत प्राणका विवेक भी आवश्यक है। जैसे मार्गमें कोई रमणीक कूप या तालाब प्राप्त होता है, तो पथिककी यह जिज्ञासा होती है कि इसका निर्माता कौन था? उस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए यदि उस पुरुषका परिचय कराया जाय, तो वह प्रासङ्गिक होनेके कारण अजिज्ञासित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार प्रकृतमें भी आत्माके निरूपणके समय प्राप्त, प्राणका निरूपण अजिज्ञासित नहीं हो सकता। अतः प्राणोंके स्वरूपका निश्चय भगवती श्रुति कराती है, यथा—

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥ १ ॥

भावार्थ—जो निश्चय करके आधानसहित, प्रत्याधानसहित और दामसहित शिशुको जानता है, वह द्वेष करनेवाले सात भ्रातृव्योंको अवश्य वशमें कर लेता है। जो यह तीन शत्रुओंके बीच रहनेवाला प्राण है यही निःसन्देह शिशु है, उसका यह स्थूल शरीर ही आधान है, यह शिर ही प्रत्याधान है, प्राण स्थूणा है और अन्न रस्सी है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्रमें मुख्य प्राणकी गौके बछड़ेके साथ उपमा दी गई है, जिस प्रकार बछड़ा खूँटेसे बँधा हुआ घासादि खाकर बलिष्ठ हो जाता है, उसी प्रकार अनेक प्रकारके भोजनादि करनेसे प्राण भी बलिष्ठ हो जाता है। जिसमें कोई पदार्थ रहे उसको आधान कहते हैं। प्राणके रहनेका स्थान यह स्थूल देह ही आधान कहा है, क्योंकि इस देहमें ही प्राण रहता है। एक स्थानके भीतर और कोई जगह रहनेकी हो तो उसे प्रत्याधान कहते हैं, यह सिर प्रत्याधान है, क्योंकि इसमें प्राणके रहनेकी जगह सात हैं, अर्थात् दो आँख, दो कान, दो नासिका और एक रसना है। यह अन्नसे उत्पन्न हुआ बल ही प्राणरूपी बछड़े का खूँटा है, तथा अन्न इसका भोज्य है, जिस प्रकार खूँटेसे बँधा हुआ बछड़ा घास फूँसादि जो उसका भोग है, खाकर बली होता है, उसी प्रकार यह प्राण शरीरसे बँधा हुआ अनेक प्रकारके भोजन करके बली बनता है।

उस प्राणरूप शिशुको जाननेवाला पुरुष उन सात द्वेषी भ्रातृव्योंका अवरोध करता है। शिरमें स्थित जो सात प्राण विषयोपलब्धिके द्वार हैं, उनसे होनेवाले विषयसम्बन्धी राग, साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले भ्रातृव्य हैं। क्योंकि वे ही उसकी आत्मस्थ दृष्टिको विषयोन्मुख करते हैं, इसलिए वे द्वेष करनेवाले भ्रातृव्य हैं, कारण, वे प्रत्यगात्मदर्शन को रोकनेवाले हैं। कठोपनिषद्में भी कहा है—"स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है, इसलिए जीव बाह्य विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नहीं देखता।" सो जो कोई इस शिशुको जानता है यानी इनके यथार्थ स्वरूपका निश्चय करता है वह इन भ्रातृव्यों का विनाश कर देता है ॥ १ ॥

सात रुद्रादि देवता नेत्रस्थित प्राणकी सेवा करते हैं। इसीलिए वे अक्षीण हैं। प्राणकी अन्नभूत सातों इन्द्रियाँ निरन्तर प्राणकी उपासना करती हैं ऐसी भावनासे उपासना करनेवालेका अन्न कभी क्षीण नहीं होता, इसी बातको भगवती श्रुति स्पष्ट रूपसे कहती है, यथा—

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनꣳ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयाऽऽदित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

भावार्थ—उस प्राणकी ये सात अजय देवता स्तुति करते हैं—उनमेंसे जो ये नेत्रमें लाल रेखायें हैं उनके द्वारा रुद्र इस मध्यम प्राणके अनुगत हैं तथा जो नेत्रमें जल है, उसके द्वारा मेघ, जो पुतली है उसके द्वार सूर्य्य, जो कालिमा है उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्लता है उसके द्वारा इन्द्र अनुगत है। नीचेके पलक द्वारा पृथिवी एवं ऊपरके पलक द्वारा द्युलोक अनुगत है। जो इस प्रकार जानता है, उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता॥ २॥

वि० वि० भाष्य—इस लिङ्गात्मक प्राणकी ये सात अक्षितियाँ करणात्मक रूपसे उपासना करती हैं। वे अक्षितियाँ कौन-सी हैं सो बतलायी जाती हैं। उनमें ये जो नेत्रके भीतर लाल रेखाकी धारियाँ हैं, उन्हींके द्वारा रुद्र देवता मध्यम प्राणकी उपासना करते हैं और जो आँखमें जल है—धूमादिके संयोगवश नेत्रसे जलात्मक अश्रु गिरता है, इसलिए आँखमें जल रहता है, यह निश्चित है—उसके द्वारा पर्जन्य देवता नेत्रमें स्थित होकर प्राणकी उपासना करता है। वही अन्न होकर प्राणका अक्षिति कहलाता है। समयपर आवश्यकतानुसार जलके बरसनेसे प्रजावर्गको आनंद होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। जो नेत्रमें काली पुतली है, उसके द्वारा सूर्य भगवान् मध्यम प्राणकी उपासना करते हैं और जो नेत्रमें कृष्ण रूप है, उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्ल रूप है, उसके द्वारा इन्द्र उपासना करते हैं और नेत्रके नीचेकी पलकोंमें पृथिवी स्थित होकर उक्त उपासना करती है। जिस प्रकार पलक आँखसे नीचे है, उसी प्रकार पृथिवी भी नीचे है, अतः नीचे रहनेके कारण निचले पलकोंमें पृथिवीका रहना ठीक ही है। और नेत्रके ऊपरकी पलकोंमें द्यौ रहकर उक्त प्राणकी उपासना करती है, क्योंकि इन दोनोंमें ऊर्ध्वत्व समान है। ये सात देवगण अन्नभूत होकर प्राणकी निरन्तर उपासना करते हैं। इस प्रकार जो प्राणोपासना करता है उसके पास अन्नकी कभी कमी नहीं होती है॥ २॥

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्राह्मणा संविदानेति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति

प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पिछले मन्त्रमें कहा गया है कि जीवात्माके सात शत्रु हैं, उन्हींका व्याख्यान इस मन्त्रमें किया जाता है। चमस सोमरसके आधारभूत पात्रविशेषका नाम है, वह नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ होता है। यानी जिसका मुख नीचे है तथा पेंदा ऊपर है, ऐसा चमसके—यज्ञके कटोरेके समान मनुष्यका शिर है, उसमें अनेक प्रकारका विभववाला प्राण स्थित है। उसके किनारेपर सात प्राणयुक्त इन्द्रियाँ हैं और वेदसे संवाद करनेवाली आठवीं वाणी स्थित है। नीचे है मुखरूप बिल जिसमें, और ऊपर है पेंदा जिसमें, ऐसा यह चमसाकार मनुष्यका शिर है, क्योंकि यह मनुष्यका शिर नीचे छिद्रवाला तथा ऊपर पेंदेवाला यज्ञका कटोरा है। उसी शिरमें अनेक प्रकारका विभववाला प्राण स्थित है, वही सर्वशक्तिमान् विभववाला प्राण है, अतः प्राणको ही विश्वरूप यश कहते हैं। उसके समीप सात इन्द्रियाँ रहती हैं, इस प्रकार सात इन्द्रियाँ यानी दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका और एक जिह्वा प्राण ही हैं, अतएव मन्त्रने इसको प्राण कहा है और वेदसे संवाद करनेवाली आठवीं वाणी है। इस प्रकार मन्त्रने कहा है, क्योंकि आठवीं वाणी वेदके साथ सम्बन्ध रखती है ॥ ३ ॥

अब पूर्वोक्त श्रोत्रादिकोंमें विभागपूर्वक सप्तर्षिदृष्टि बतलाते हैं, यथा—

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वशिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ—ये दोनों कर्ण निश्चय करके गोतम और भरद्वाज हैं यानी दहिना कर्ण गोतम है और बायाँ कर्ण भरद्वाज है। ये दोनों नेत्र निश्चय करके विश्वामित्र और जमदग्नि हैं यानी दहिना नेत्र विश्वामित्र है तथा बायाँ नेत्र जमदग्नि है। ये दोनों नासिका निःसन्देह वसिष्ठ और कश्यप हैं, अर्थात् दहिनी नासिका वसिष्ठ है और बाईं नासिका कश्यप है। 'दक्षिण वाम' इस क्रममें प्रमाण नहीं है

इसलिए विपरीत भी हो सकता है, इस तात्पर्यसे श्रुतिमें समस्त तथा असमस्त भेदसे दो बार नाम लिया गया है। वाणी—वागिन्द्रिय ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रियके द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है, अतः यह प्रसिद्ध 'अत्ति' नामवाली है यानी अत्ता होनेके कारण यह अत्ति है, जो कि 'अत्ति' होते हुए ही परोक्ष रूपसे 'अत्रि' कही जाती है। जो उपासक इस प्रकार जानता है वह प्राणके इस सम्पूर्ण अन्नसमुदायका अत्ता—भक्षण करनेवाला होता है, और सब अन्न इसका भोज्य होता है यानी सब जगह वह भोक्ता ही होता है, कभी भोज्य नहीं होता है॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—जैसे खूँटेसे बँधा हुआ बछड़ा घास फूँसादि अपना उपभोज्य खाकर बली होता है वैसे ही यह प्राण शरीरसे बँधा हुआ नाना प्रकारके भोजन करके बली होता है। इस प्राणको सात अजय देवता—रुद्र, पर्जन्य, आदित्य, अग्नि, इन्द्र, पृथिवी तथा द्यौ—इसके निकट रहकर पूजते हैं और नेत्रादि सात इन्द्रियाँ (विषयोंको भोगनेवाली, अत एव जीवकी शत्रु) चमसाकार शिररूपी कटोरेके किनारे पर स्थित हैं, जिस शिरमें अनेक प्रकारके चमत्कारवाले प्राण स्थित हैं और वहीं वेदसे संवाद करनेवाली आठवीं वाणी भी स्थित है। इन सात इन्द्रियोंको ही गोतमादि सप्तर्षि भी कहा गया है और अन्तमें वागिन्द्रियका नाम अत्रि कहा गया है॥ ४॥

तृतीय ब्राह्मण

ऊपर यह कहा गया है कि प्राण ही सत्य हैं। जो प्राणोंकी उपनिषदें हैं, उनमें 'वे ये प्राण हैं' ऐसा कहकर ब्रह्मोपनिषद्के प्रसंगसे व्याख्या कर दी गई है। अब यह बतलाना है कि उनका स्वरूप क्या है तथा उनकी सत्यता किस प्रकार है? इसलिए शरीर एवं इन्द्रियरूप 'सत्य'संज्ञक पञ्चभूतोंके स्वरूपका निश्चय करनेके लिए तृतीय ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है, जिस उपाधिविशेषके निषेध द्वारा 'नेति नेति' इत्यादि रूपसे श्रुतिको ब्रह्मस्वरूपका निश्चय करना अभीष्ट है, यथा—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यं च॥ १॥

भावार्थ—ब्रह्मके दो रूप हैं—मूर्त तथा अमूर्त, मर्त्य तथा अमृत, स्थित तथा यत् (चर) और सत् तथा त्यत्॥ १॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्तिमान्, दूसरा अमूर्तिमान्, एक मरणधर्मी, दूसरा अमरणधर्मी, एक चल, दूसरा अचल, एक सत्—व्यक्त दूसरा त्यत्—अव्यक्त। कार्यरूपसे संसारके अथवा ब्रह्माण्डके जितने रूप हैं सब मूर्तिमान् हैं, इसलिए विनाशी हैं, किन्तु जो परमाणुरूपसे सृष्टिके नाश होनेपर स्थित रहते हैं, वे अमूर्तिमान् तथा अमरणधर्मा कहे जाते हैं। यही परमाणु, जब ईश्वर जगत्के रचनेकी इच्छा करता है, एक दूसरेसे मिलकर स्थूल गोलाकार 'लोक' आदिक बन जाते हैं और पुनः उन लोकोंमें ईश्वरकी प्रेरणासे चलनशक्ति होने लगती है, और उसके बाद मूर्तिमान् वृक्ष, कीड़े आदि जीव जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं।

पृथिवी आदि पाँच भूतोंसे जन्य शरीर, इन्द्रिय आदिसे संबद्ध, मूर्तामूर्तनामक वासनासे सहित, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसे समन्वित ब्रह्मका एक रूप है। यही सोपाधिक कहा जाता है और सोपाधिक ही समस्त व्यवहारका विषय है तथा कारणत्व, ज्ञातृत्व, प्रमाण-प्रमेयत्व, अधिष्ठातृदेवतात्व, अधिष्ठेय इन्द्रियादिमत्व, अन्तर्यामित्व, साक्षित्व, असर्वज्ञत्व इत्यादि सकल धर्म व्यवहारमें अप्रमेय ब्रह्ममें अविद्यासद्भाव दशामें प्रतीत होते हैं। वे सब सोपाधिक ब्रह्मके ही धर्म माने जाते हैं। ब्रह्मज्ञानके उत्पन्न होनेपर उक्त सब धर्मोंके साथ अविद्या भी निवृत्त हो जाती है, तब 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार ब्रह्म सकल धर्मातीत शुद्ध माना जाता है और उसीके ज्ञानसे मोक्ष होता है ॥ १ ॥

इस प्रकार मूर्त और अमूर्त ये चार विशेषणयुक्त हैं, उनमें कौन विशेषण मूर्तके हैं और कौनसे अमूर्तके, इसका तथा मूर्त रूपके रसका वर्णन करते हैं, यथा—

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

भावार्थ—जो वायु और आकाशसे भिन्न है वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है और यह सत् है। इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका, इस सत्का यह रस है, जो कि यह तपता है। यह सत्का ही रस है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—मूर्त और अमूर्तोंमें मूर्त यानी परस्पर मिलितावयव समुदाय—वायु और आकाशरूप—अमूर्तसे अतिरिक्त है। शेष पृथिवी, जल, तेज, ये तीन ही मूर्त—मर्त्य हैं, विनाशी हैं, क्योंकि वे स्थित हैं, अर्थात् परिच्छिन्न हैं।

यह सत् यानी विशेष्यमाण असाधारण धर्मोंवाला है, अतएव परिच्छिन्न है, परिच्छिन्न होनेके कारण मर्त्य है और इसीसे मूर्त है। अथवा मूर्त होनेके कारण मर्त्य है, स्थित है और स्थित होनेके कारण सत् है। अतएव इस मूर्तका, इस मर्त्यका इस स्थितका और इस सत्का अर्थात् इन चार विशेषणोंसे युक्त भूतत्रयका यह सार है। अमूर्तत्रयके कार्यवर्गोंमें आदित्य प्रधान है। 'य एव तपति' इसका अर्थ यह है कि भूतत्रयका सविता रस—सार है, इसलिए 'तपति'—मूर्त सविता ही संसारको प्रकाशित करता है। यद्यपि श्रुतिमें 'सतो ह्येष रसः' इस प्रकार कहा है तो भी उक्त मूर्तत्वादि तीन गुणोंका 'सत्' शब्द उपलक्षण है। जो मण्डलान्तर्गत आधिदैविक कारण है उसे आगे कहेंगे।

वे पृथिवी आदि परिच्छिन्न हैं, अन्य अर्थके साथ एक समयमें अधिकरणमें वे नहीं रह सकते, क्योंकि जिस स्थलमें जिस समयमें घट है, उस स्थलमें उसी समय दूसरे घटकी सत्ता नहीं रह सकती, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिए मूर्तोंका एकाधिकरणमें एक साथ रहनेमें विरोध है। अमूर्तकी अपेक्षा मूर्तका यह असाधारण धर्म है। अमूर्त वायु और आकाश संघटितावयव नहीं हैं, अतएव उनमें उक्त विरोध नहीं होता। मूर्तत्व, मर्त्यत्व, स्थितत्व और सत्व इन चारोंमें नियमेन सद्भाव ही रहता है, इसलिए इनमें परस्पर विशेष्य विशेषणभाव वक्ताकी इच्छापर निर्भर है, विषय स्वभावके अनुसार अन्यत्रके समान नियत नहीं है एवं कार्य कारणभाव भी परस्पर समुचित है। सर्वथा तीन भूत—मूर्तत्वादिचतुष्टय विशेषणसे विशिष्ट मूर्त—ब्रह्मके रूप हैं, इन चार विशेषणोंमें एकका ग्रहण करनेसे उससे भिन्न विशेषणत्रयका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि ये चारों परस्पर अव्यभिचरित हैं। अतएव भगवती श्रुतिने चारों विशेषणोंका अनुवाद कर इनमें सारभूत पदार्थका निर्णय किया है। तात्पर्य यह है कि उक्त चार विशेषणोंसे युक्त तीन भूतोंका कार्य्य सूर्यमण्डल है, एक एकका कार्य नहीं है, इस विशेष अर्थका बोधन करनेके लिए पुनः उक्त विशेषणोंका अनुवाद श्रुतिने किया है। उक्त चार गुणोंसे विशिष्ट तीन भूतोंका सार आदित्य है, क्योंकि 'यद्रोहितं तदग्नेः यच्छुक्लं रूपं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इत्यादि श्रुतिसे रोहित, शुक्ल और कृष्ण—ये तीनों असाधारण विशेषण तीनों भूतोंके हैं, उक्त तीन रूप आदित्यसे ही विभक्त होते हैं, इसलिए मधुविद्यामें 'रोहिताभी रश्मिनाडीभिः शुक्लाभिः कृष्णाभिः' इत्यादि विशेषण आदित्यकी रश्मियोंमें दिये गये हैं।

मूर्तके निरूपणके बाद अमूर्त पदार्थका निरूपण भगवती श्रुति करती है, यथा—

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं

तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो एष य एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—वायु और आकाश अमूर्त हैं, ये अमर धर्मवाले हैं, ये यत्—चल हैं तथा ये ही त्यत्—अव्यक्त हैं। इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस चलका और इस अव्यक्तका यह सार है, जो कि इस मण्डलमें पुरुष है। यह देवतासम्बन्धी दर्शन है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—अब इस मन्त्रमें ब्रह्मके अमूर्तिमान् रूपका वर्णन किया जाता है-पाँच महाभूतोंमेंसे तीन–तेज, जल और पृथिवी मूर्तिमान् हैं, जिनका वर्णन पूर्वोक्त मंत्रमें हो चुका है, शेष दो–वायु और आकाश अमूर्तिमान् हैं अर्थात् उन तीन भूतोंकी अपेक्षा ये दोनों अमरणधर्मी हैं, चलने फिरनेवाले हैं और अव्यक्त हैं। इन दोनोंका सार सूर्यमण्डलस्थ पुरुष है, यह देवतासम्बन्धी विज्ञान है।

जो अपरिच्छिन्न दो भूत—वायु और आकाश—हैं ये दोनों अमृत हैं, इनका किसीके साथ विरोध नहीं है, क्योंकि ये मूर्तके समान संघटित नहीं हैं, एक स्थलमें अन्यके साथ भी रहते हैं तथा अविनाशी और स्थितिसे विपरीत हैं, व्यापी और अपरिच्छिन्न हैं। जिस कारण अमूर्त अन्यसे अविभज्यमान है, इसलिए 'त्यत्' कहलाता है, त्यत् परोक्षको कहते हैं, वह अचाक्षुष है। अमूर्त, अमृत, यत् और त्यत् इन चार विशेषणोंसे विशिष्ट अमूर्तके रसभूत सूर्यमण्डलमें जो कारणात्मक पुरुष हिरण्यगर्भ है वही प्राण कहा जाता है, वह दो अमूर्तोंका सार है। पुरुषका सार ही अमूर्त है। हिरण्यगर्भरूप लिङ्गके आरम्भके लिए दो भूतोंकी अभिव्यक्ति है। अव्याकृत दो भूतोंका सार हिरण्यगर्भ है। सूर्यमण्डलस्थ पुरुष जो सूर्यमण्डलके समान दृष्टिगोचर नहीं होता, वही उक्त दो भूतोंका सार है। उस पुरुष और दो भूतोंमें अमूर्तत्वादि विशेषण–चतुष्टय—विशिष्ट साधर्म्य है, इसलिए 'त्यस्य एष रसः' इस प्रकार श्रुतिका कथन है। अथवा सूत्रात्मा लिङ्ग-शरीरके आरम्भके लिए ही तीन मूर्तोंको उपसर्जन कर दो अमूर्तोंकी सृष्टि परमात्माने की. अतः दो भूतोंका सार सूत्रात्मा है। जिस प्रकार मण्डल तीन मूर्तोंका सार है, इसमें हेतु मूर्तत्वादि चतुष्टयकी अनुवृत्ति है, उसी प्रकार लिङ्गात्मा दो भूतोंका सार है, इसमें उक्त अमूर्तत्वादि विशेषणचतुष्टय हेतु हैं ॥ ३ ॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर शरीरसम्बन्धी उपदेश कहा जाता है। जो प्राण और शरीरके भीतर आकाश है उससे जो भिन्न है, यही मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है। जो यह चक्षु है, वही इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका एवं इस सत्का सार है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—अब मूर्तामूर्तका अध्यात्मविभाग बतलाया जाता है—वह मूर्त क्या है ? जो वायु और वायुके विकारसे भिन्न है, जो शरीरस्थ आकाश तथा आकाशके विकारसे भिन्न पदार्थ है अर्थात् जो अग्नि, जल, पृथिवी है, वही मूर्तिमान् है, वही मरणधर्मा है, वही स्थायी है वही व्यक्त है। इनका जो सार है वही नेत्र है, यह नेत्र सत् यानी अग्नि, जल और पृथिवीका सार है।

'यही सत्का सार है' यह कथन सत् (तीनों भूतों) का चक्षुके मूर्तत्व एवं सारत्वमें हेतु प्रतिपादन करनेके लिए है। तात्पर्य यह है कि चक्षु मूर्त है, इसलिए उसको तीनों मूर्त भूतोंका कार्य होना उचित ही है, क्योंकि वह मूर्तके समान धर्मवाला है तथा देहके सम्पूर्ण अवयवोंमें प्रधान होनेके कारण वह आध्यात्मिक तीनों भूतोंका सार है ॥ ४ ॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥५॥

भावार्थ—अब अमूर्तका वर्णन करते हैं—प्राण तथा शरीरके भीतर जो आकाश है, वह अमूर्त है, यह अमरणधर्मी है, यह यत् है और त्यत् है। इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह रस है जो कि यह दहिने नेत्रमें पुरुष है, यही त्यत्—अव्यक्तका सार है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—इसके अनन्तर अमूर्तके विषयमें उपदेश किया जाता है। जो बचे हुए दो भूत, प्राण और शरीरान्तर्गत आकाश हैं तथा समस्त प्राण और

आकाशके भेद हैं वही यह अमरणधर्मी है, वही गमनशील है, वही अव्यक्त है, वही दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, अथवा दहिना नेत्रस्थ पुरुष आकाश और वायुका सार है।

'यह त्यत्का सार है' यह कथन पूर्ववत् विशेष रूपसे ग्रहण न होनेके कारण त्यत् अर्थात् अमूर्त दोनों भूतोंके दक्षिणनेत्रस्थित पुरुषके अमूर्तत्व और सारत्वमें ही हेतु प्रतिपादन करनेके लिए है॥ ५॥

सत्यशब्द—वाच्य एवं ब्रह्मके उपाधिभूत अध्यात्म तथा अधिदैव मूर्तामूर्तके विभागका कार्यकारण भेदसे विभाग किया गया, अब इस विख्यात पुरुष—जीवात्माके रूपको कहते हैं, यथा—

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥ ६॥

भावार्थ—इस प्रसिद्ध पुरुषका रूप ऐसा है जैसा हल्दीमें रँगा हुआ वस्त्र, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र, जैसा इन्द्रगोप—बीरबहूटी कीट, जैसी अग्निकी ज्वाला, जैसा श्वेत कमल तथा जैसी बिजलीकी चमक होती है। जो इस प्रकार जानता है, उसकी सम्पत्ति बिजलीकी चमकके समान यानी सब जगह एक साथ फैलनेवाली होती है। अब हे बालाकि, यहाँसे परमात्माके विषयमें उपदेश 'नेति नेति' करके आरम्भ करते हैं, क्योंकि इस उपदेशसे और कोई भी उपदेश उत्कृष्ट नहीं है। अब ब्रह्मके नामको कहते हैं—उसका नाम सत्य है। प्राण ही सत्य है॥ ६॥

वि० वि० भाष्य—इस इन्द्रियात्मा लिङ्गशरीररूप पुरुषके वासनामय, मूर्तामूर्त स्वरूपके विज्ञानमय संयोगसे उत्पन्न हुए, वस्त्र या भित्तिपर लिखे हुए चित्रके समान विचित्र तथा इंद्रजाल एवं मृगतृष्णाके समान सब प्रकारके व्यामोहके आश्रयभूत रूपका वर्णन करते हैं—हे सोम्य, कभी इस जीवात्माका स्वरूप हल्दीमें रंगे हुए कपड़ोंकी तरह हो जाता है, कभी कुछ सफेद भेड़के रोमकी तरह हो जाता है, कभी इन्द्रगोप नामक कीट (बीरबहूटी) की तरह

हो जाता है, कभी अग्निकी ज्वालाकी तरह उसका रूप हो जाता है, कभी श्वेत कमलकी तरह उसका रूप हो जाता है, कभी विद्युत्‌के प्रकाशकी तरह उसका रूप बन जाता है। अर्थात् जैसी इसकी उपाधि होती है वैसे ही यह आत्मा भी देख पड़ता है। जो पुरुष इस रहस्यको अच्छी तरह जानता है उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति विद्युत्‌के प्रकाशकी तरह चमकनेवाली होती है। हे बालाकि, जो कुछ अभी तक कहा गया है, वह प्रकृति और जीवके विषयमें कहा गया है, अब परमात्माके विषयमें उपदेश प्रारम्भ करते हैं—उस परमात्माका उपदेश 'नेति नेति' शब्दोंसे होता है, क्योंकि इस उपदेशसे बढ़कर दूसरा कोई भी उपदेश नहीं है, अतः 'नेति नेति' शब्दके द्वारा उसका उपदेश किया जाता है। हे बालाकि, जगत्‌के दो भाग हैं, मूर्तिमान् और अमूर्तिमान्, इन दोनोंके लिए दो नकार प्रयुक्त हैं। अर्थात् मूर्तिमान् वस्तुको देखकर शिष्यके प्रश्न करनेपर कि यह ब्रह्म है, गुरु कहता है—यह नहीं है, यह नहीं है। ज्यों ज्यों ब्रह्मके विषयमें शिष्य प्रश्न करता जाता है त्यों त्यों गुरु 'नेति नेति' करके उत्तर देता जाता है। जब सम्पूर्ण मूर्तिमान् विषय अर्थात् अग्नि, जल, पृथिवीकी सभी वस्तुओंकी समाप्ति हो जाती है, और जब शिष्य अमूर्तिमान् यानी वायु और आकाशके कार्योंके विषयमें प्रश्न करता है, तब गुरु फिर भी नेति नेति शब्दसे उसको उपदेश करता जाता है। जहाँ शिष्यका प्रश्न समाप्त हो जाता है, वहाँ दोनों यानी शिष्य और गुरु चुप हो जाते हैं, वहींपर शिष्यको ब्रह्मकी तरफ निर्देश करके गुरु बताता है कि यह ब्रह्म है। पुनः वहाँसे ही ऊपरको अर्थात् कारणके कार्यको बताता चला आता है कि यह भी ब्रह्म है, यह भी ब्रह्म है, क्योंकि कार्यमें कारण अनुगत रहता है, अथवा कार्य कारण एक रूप होते हैं। सब संसार ब्रह्मरूप ही है, इस प्रकार उपदेश पानेपर परमानन्द प्राप्त हो जाता है, तथा पुनः दोनोंका शिष्यत्व और गुरुत्वभाव नष्ट हो जाता है। हे बालाकि इस ब्रह्मका नाम सत्य है, जो बाह्य और आभ्यन्तर प्राण हैं उनका नाम भी सत्य है, उन प्राणोंका भी जो प्रेरक हो अर्थात् सत्ता देनेवाला हो, वही त्रिकालाबाधित सच्चिदानंदस्वरूप है, यही उसका नाम है।

प्रकृत मन्त्रमें उस निर्गुण परमात्माका वर्णन किया गया है जिसमें कि विज्ञान-वादी वैनाशिकोंको ऐसा भ्रम हो गया है कि बस इतना ही आत्मा है। नैयायिक और वैशेषिक ऐसा मानने लगे हैं कि यह वासनारूप ही पटके रूपके समान 'आत्मा' नामक द्रव्यका गुण है। तथा सांख्यवादियोंका मत है कि यह तीन गुणवाला स्वतन्त्र अन्तःकरण पुरुषार्थके हेतुसे आत्माके लिए प्रवृत्त होता है। किसीका मत है कि एक तो मूर्तामूर्त राशि है और दूसरी परमात्मसंज्ञक उत्तम राशि है तथा

अजातशत्रु द्वारा जगाये हुए कर्ता, भोक्ता, विज्ञानमयके साथ विद्या, कर्म और पूर्व प्रजाका जो समुदाय है, वह पूर्वोक्त दोनोंसे भिन्न तीसरी मध्यम राशि है। विद्या, पूर्व प्रज्ञा और कर्मका समुदाय प्रयोजक है तथा पूर्वोक्त मूर्तामूर्त भूतराशि एवं ज्ञान कर्मके साधन कार्यकारणसमूह प्रयोज्य हैं। इस प्रकार तीन राशिकी कल्पना कर लेनेके बाद वे तार्किकोंके साथ सन्धि कर लेते हैं और यह कर्मराशि लिङ्गदेहके आश्रित है, इस प्रकार कहकर पुनः उससे सांख्यसिद्धांतका मेल हो जानेके डरसे डरते हुए ऐसा कहने लगते हैं कि जैसे पुष्पके आश्रयमें रहनेवाला गन्ध, पुष्पके न रहनेपर भी तैलके आश्रित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण कर्मराशि लिङ्गदेहका वियोग होनेपर भी, परमात्माके एक देशको आश्रय करती है। परमात्माका वह एक देश दूसरे प्राप्त हुए उस गुणरूप कर्मके द्वारा निर्गुण होनेपर भी सगुण हो जाता है, तथा वह विज्ञानात्मा कर्ता भोक्ता ही बद्ध या मुक्त होता है, इस प्रकार वे वैशेषिकोंके चित्तका भी अनुसरण करते हैं। भूतराशिसे आनेवाली वह कर्मराशि स्वतः निर्गुण ही है, क्योंकि वह परमात्माका ही एक देश है। स्वयं उत्पन्न हुई अविद्या अनागन्तुक होनेपर भी (पृथिवीके धर्म) ऊसरके समान अनात्माका धर्म है।

इस तरह बहुतसे मत हैं परन्तु सिद्धान्तमें आत्मा स्वप्रकाश अतएव स्वयं सिद्ध है, इसलिए वह न कार्य है और न ज्ञेय, केवल अविद्योपस्थापित नामादिसे संसृष्ट होकर सबका प्रकाशक होता है। इसीसे दार्शनिकोंको आत्मतत्त्वके निर्णयमें अनेक प्रकारकी भूलें हुई हैं। केवल तर्कादि द्वारा आत्मतत्त्वका विवेचन जिन लोगोंने किया है, वे प्रायः आत्मतत्त्वका यथार्थ निर्णय नहीं कर पाये हैं। आत्मा आगमसे ही गम्य है, इसलिए आगम द्वारा ही उसका यथार्थ निर्णय हो सकता है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार मिश्रित अष्टधातुओंका विश्लेषण अभिज्ञ पुरुष ही प्रयोग द्वारा कर सकता है, अनभिज्ञ नहीं कर सकता, वैसे ही चिदचिन्मिश्रित शरीरादिमें चिदंश कौन है और अचिदंश कौन है और कितना है ? इत्यादिके निर्णयका उपाय आगम ही है, तर्कादि नहीं। धातुओंके विश्लेषणका उपाय नियत है, भेद इतना ही है कि वे भौतिक हैं, इसलिए उनके विश्लेषणके उपाय भी भौतिक ही हैं। चिदचिद् विभागके उपाय आध्यात्मिक हैं। आगमोक्त उपाय तथा महात्माओंके उपदेशपर जो विश्वास कर उसमें परायण होते हैं, वे ही उक्त विभागमें कुशल होते हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि बुद्धिका तत्त्वमें पक्षपात होता है, इसी क्षणमें उत्पन्न भी तत्त्व-बुद्धि दीर्घ कालोत्पन्न प्रबल अतत्त्वबुद्धिको समूल नष्ट करती है, अतएव भविष्यमें पुनः अतत्त्वबुद्धि द्वारा तत्त्वबुद्धिके तिरोभावकी शङ्का नहीं रह जाती।

आत्मा स्वप्रकाश है और बुद्धिका आत्मामें पक्षपात है, इसलिए 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वैतमात्रके निषेधपरक हैं अर्थात् द्वैतनिषेधमें ही उनका पर्यवसान है। आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध है ॥ ६ ॥

——❀❀❀——

चतुर्थ ब्राह्मण

'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्यसे परमात्माका ही उपासनाके लिए प्रतिपादन करना अभीष्ट है, क्योंकि वही अन्वेषणीय है। पूर्वोक्त तीन ब्राह्मणोंमें मूर्त, अमूर्त आदिके भेदसे समारोपित प्रपञ्चको ब्रह्मका रूप बतलाकर 'नेति नेति' इस वाक्यसे उसका निराकरण कर 'निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही मुक्तिकी कामनासे उपासनीय है' ऐसा कहा है। शाकल्यसे 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' अर्थात् मैं आपसे ब्रह्मका निरूपण करता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करके राजाने मूर्तामूर्तादि ब्रह्मरूपका जो निरूपण किया है, वह प्रतिज्ञाके विपरीत प्रतीत होता है, किन्तु दूसरा उपाय न देखकर राजाने उक्त रूपके प्रतिषेध द्वारा ही ब्रह्मका निर्देश किया है। इसमें विद्या ही साधन है और मुक्ति फल है। 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इत्यादि पहले स्पष्ट कह चुके हैं। इससे यह निश्चित हो चुका है कि प्रत्यगात्मा ही ब्रह्मविद्याका विषय है। अविद्याका विषय 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यादिसे भेददर्शन हो माना गया है। अतएव चतुर्वर्ण, चतुराश्रम आदिका विभाग, निमित्तभूत पाङ्क्त कर्म और साध्यसाधनलक्षण व्याकृताव्याकृतस्वभाव, नाम रूप कर्मात्मक संसारका 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इत्यादि वाक्यसे उपसंहार किया गया है। शास्त्रीय ज्ञान कर्मका उत्कर्ष हिरण्यगर्भलोककी प्राप्ति तक ही सीमित है और अशास्त्रीय स्वाभाविक ज्ञान कर्मका निष्कर्ष स्थावरान्त अधोभाव है, इत्यादि पहले निरूपित हो चुका है। इस अविद्याके विषय संसारसे जो विरक्त हैं, उन्हींका प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। समस्त अविद्याविषयका उपसंहार तृतीय ब्राह्मणमें हो चुका है। चतुर्थ ब्राह्मणमें 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' 'ब्रह्म ते ज्ञपयिष्यामि' इत्यादि वाक्योंसे सब विशेषोंसे शून्य अद्वय ब्रह्मका प्रस्ताव कर क्रिया, कारक, फल आदि सत्यशब्दवाच्य सम्पूर्ण द्वैतका 'नेति नेति' वाक्यसे प्रतिषेध कर ब्रह्म ही समझाया गया है। उसीके ज्ञानसे ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्वादि प्रत्ययकी निवृत्ति जिसे हो गई है उसे तत्सम्बन्धी प्रत्यय न रहनेके कारण स्वतः ही उसके कार्यभूत कर्म और कर्मके साधनोंका संन्यास

प्राप्त हो जाता है । इसलिए आत्मज्ञानके प्रसङ्गरूपसे संन्यासका विधान करनेके लिए यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है—

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्था-नादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ १ ॥

भावार्थ—एक समय राजा जनक तथा याज्ञवल्क्य ऋषि परस्पर बातचीत कर रहे थे, राजा जनकने याज्ञवल्क्य ऋषिसे कहा कि हे प्रभो, मैंने वैराग्यके स्वरूपको नहीं देखा है, उसका कैसा स्वरूप होता है, यह मैं देखना चाहता हूँ । याज्ञवल्क्य महर्षिने कहा —कल मैं तुमको वैराग्यका स्वरूप दिखा दूँगा । इस प्रकार कहकर ऋषि अपने घर चले आये और संन्यास लेनेका दृढ़ संकल्प कर अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयी-को संबोधित किया कि हे मैत्रेयि, मैं इस गृहस्थाश्रमको त्याग कर दूसरे आश्रममें जानेके लिए इच्छुक हूँ, अतः तेरी अनुमति चाहता हूँ । इसके सिवा (यह भी इच्छा है कि) इस अपनी दूसरी भार्या कात्यायनीके साथ तेरा अन्त यानी विच्छेद (बटवारा) भी कर दूँ । तात्पर्य यह है कि आपसमें झगड़ा न हो, अतः धनका बरा-बर बटवारा करके मैं चला जाऊँगा ॥ १ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ॥ २ ॥

भावार्थ—यह सुनकर मैत्रेयी बोली कि हे भगवन्, दैव इच्छासे यदि समुद्रसे घिरी हुई तथा धनसे पूर्ण सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उसके द्वारा तापत्रयसे छूट जाऊँगी ? यानी मुक्त हो जाऊँगी ? याज्ञवल्क्य महर्षिने उत्तर दिया कि नहीं । अर्थात् जैसे उत्तम सुख साधनवालोंका जीवन होता है वैसे ही तेरा भी जीवन हो जायगा, परन्तु धनसाध्य कर्मसे अमृतत्व—मोक्षकी तो मनसे भी आशा नहीं है ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस मैत्रेयीने कहा कि हे भगवन्, जिस धनसे मैं मुक्त नहीं

हो सकती उस धनसे क्या लाभ उठाऊँगी ? श्रीमान् जो कुछ केवल अमृतत्वका साधन जानते हों, उस अमृतत्वके साधनका ही मुझे उपदेश करें ॥ ३ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

भावार्थ—ऐसा सुनकर वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य महर्षि बोले कि मैत्रेयि, तुम मेरी पतिव्रता स्त्री हो, आओ, बैठो, तुम्हें अमृतत्व साधनका उपदेश देता हूँ, मेरे उपदेशवाक्योंका ध्यानपूर्वक श्रवण करो, तब कल्याण अवश्य होगा ॥ ४ ॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-

ध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—मैत्रेयी देवीने याज्ञवल्क्य महर्षिसे सविनय प्रार्थना की कि जिस साधनसे आप अपने आत्मसम्बन्धी ज्ञानरूपी धनको अपने साथ लिये जाते हैं, उसमें मुझको भी संमिलित कीजिये। यह सुनकर याज्ञवल्क्य महर्षि बड़े प्रसन्न हुए और अमृतत्वके साधन वैराग्यका उपदेश करनेकी इच्छासे स्त्री, पति एवं पुत्रादिसे, उनका त्याग करनेके निमित्त वैराग्यकी उत्पत्ति कराने लगे। उन्होंने कहा कि मैत्रेयि, पतिकी प्रीतिके लिए स्त्रीको पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पति स्त्रीको प्रिय होता है, अतः स्त्री अपने सुखके लिए ही पतिसे प्रेम करती है। एवं स्त्रीकी प्रीतिके लिए पतिको स्त्री प्रिय नहीं होती, किन्तु पतिको स्त्रीसे सुख होता है, इसलिए पति अपने सुखके लिए ही स्त्रीसे प्रेम करता है। एवं पुत्रप्रीतिके लिए पुत्र प्रिय नहीं होता है, किन्तु अपनी प्रीतिके लिए पुत्र प्रिय होता है। धनकी कामनाके लिए धन प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मकामनाके लिए धन प्रिय माना जाता है। एवं ब्रह्मकी कामनाके लिए ब्रह्म प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मकामनाके लिए ब्रह्म प्रिय होता है। क्षत्रियकी कामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, आत्मकामनाके लिए क्षत्रिय प्रिय होता है। लोककी कामनाके लिए लोक प्रिय नहीं होता, आत्मकामनाके लिए ही लोक प्रिय होता है। एवं देवताओंकी कामनाके लिए देवता प्रिय नहीं होते, आत्मकामनाके लिए ही देवता प्रिय माने जाते हैं। एवं भूतोंकी कामनाके लिए भूत प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामनाके लिए भूत प्रिय होते हैं। इस तरह सबकी कामनाके लिए सब प्रिय नहीं होते किन्तु आत्माकी कामनाके लिए सब प्रिय माने जाते हैं। इसलिए प्रिय मैत्रेयि, यह आत्मा ही दर्शनके योग्य है, यही गुरु और शास्त्र द्वारा सुनने योग्य है, यही विचारने योग्य है, यही निश्चय करने योग्य है। हे मैत्रेयि, आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, मननसे तथा विज्ञानसे यह सब प्रपञ्च विदित हो जाता है, अतः आत्मा को जानो, इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा। वही प्रिय है जिससे इस आत्माको आनन्द मिलता है, क्योंकि यह आत्मा आनन्दस्वरूप है। इससे अतिरिक्त कहीं आनन्द नहीं है, जो कुछ है वह आत्मा है ॥ ५ ॥

आत्मा ही सब कुछ किस प्रकार है, यह श्रुति बतलाती है—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परा-

दाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

भावार्थ—ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं जो लोकोंको आत्मासे भिन्न देखता है। देव और भूतगण उसे परास्त कर देते हैं, जो देवों और भूतगणोंको आत्मासे भिन्न देखता है। सभी उसको परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मासे भिन्न देखता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, भूतगण और ये सब जो कुछ भी हैं, सब आत्मा ही हैं ॥ ६ ॥

यहाँ तक 'श्रोतव्यः' इस वाक्यका तात्पर्यानुसारी विचार समाप्त हुआ। अनन्तर 'मन्तव्यः' इस मनन विद्याके विस्तारके लिए दुन्दुभि आदिका दृष्टान्त कहते हैं, यथा—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे बजाये जानेपर दुंदुभिसे (नगाड़ेसे) बाहर निकलनेवाले शब्दोंको कोई मनुष्य नहीं पकड़ सकता, वैसे ही आत्माको कोई बाहरसे नहीं पकड़ सकता। किन्तु जैसे दुन्दुभिके पकड़ लेनेसे अथवा दुन्दुभिके बजानेवालेको पकड़ लेनेसे शब्द पकड़ा जा सकता है, वैसे ही आत्माके समीप जो इन्द्रियसमूह है उसके रोकनेसे आत्माका ज्ञान हो सकता है ॥ ७ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नु-

याद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे बजाए गये शङ्खसे बाहर निकलते हुए शब्दोंको कोई ग्रहण नहीं कर सकता, वैसे ही इस आत्मासे निकले हुए शास्त्र आदिके ग्रहण करनेसे आत्माका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। किन्तु शङ्ख अथवा शङ्खके बजानेबाले का ग्रहण करनेसे शङ्खके शब्दका ग्रहण हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियादिकोंके ग्रहण कर लेनेसे उनके साथ जो आत्मा है उसका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ८ ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे बजती हुई वीणाके बाहर निकल रहे शब्दोंको अच्छी तरह ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता है, वैसे ही बाहरसे सुने गये उपदेशोंसे आत्माका ग्रहण नहीं होता है। किन्तु वीणा अथवा वीणाके बजानेवालेके ग्रहण करनेसे शब्दका ग्रहण हो जाता है। वैसे ही मन आदिक इन्द्रियोंके वशमें करनेसे आत्माका ज्ञान हो जाता है ॥ ९ ॥

उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्म ही रहता है, ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् नहीं है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे एक जगह रखी हुई गीली लकड़ियाँ जब जलाई जाती हैं, तब उनमेंसे नाना प्रकारके धूम तथा चिनगारियाँ आदि निकलती हैं। वैसे ही देश, काल और वस्तुरूप त्रिविध परिच्छेदोंसे शून्य, इस पारमार्थिक आत्मासे पुरुषके निश्वासके समान, प्रयत्नके विना ऋग्, यजुः, साम और अथर्व इन चार वेदोंके

मन्त्रोंका समूह, इतिहास यानी ब्राह्मण (जिसमें उर्वशी और पुरूरवाका संवाद आदि है), पुराण—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि, विद्या, उपनिषद्—'प्रियमित्येतदुपासीत' इत्यादि श्लोक यानी ब्राह्मणमन्त्र जो 'तदेते श्लोकाः' इत्यादिसे स्फुट हैं, सूत्र—वस्तुसंग्रह वाक्य, अनुव्याख्यान—वस्तुसंग्रह वाक्योंका विवरण, मन्त्रोंका विवरण; इत्यादि सब उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार कि मनुष्योंके वाक्य प्रयत्नपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं, वैसे परमात्माके वाक्य नहीं होते। ये वाक्य निश्वासके समान अनायास उत्पन्न हुए हैं ॥ १० ॥

जैसे स्थिति और सर्गमें ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी वस्तुकी सम्भावना नहीं है, वैसे ही प्रलयमें समझना चाहिए। इसी बातको कहते हैं—

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे नदी, बावड़ी, कूप, तड़ाग आदि विभिन्न नाम और रूपवाले जलोंका एक (अभिन्न) नाम रूप समुद्र ही है, वही सब जलोंका एकमात्र स्थान है, यानी सब जलोंकी समुद्रमें ही प्राप्ति हो जाती है। वैसे ही सब मृदु, कठिन, कर्कश, पिच्छिल आदि स्पर्शोंका त्वक् ही एक अयन है। त्वक् शब्दसे सब त्वग्विषय स्पर्शमात्र विवक्षित है। सब गन्धोंके रहनेकी एक जगह इसी प्रकार दोनों नासिका हैं। वैसे ही सब रसोंके रहनेकी एक जगह जिह्वा है। वैसे ही सब रूपोंके रहने की एक जगह नेत्र हैं, वैसे ही सब शब्दोंके रहनेकी एक जगह श्रोत्रेन्द्रिय है। वैसे ही सब संकल्पोंके रहनेकी एक जगह मन है। वैसे ही सब ज्ञानोंके रहनेकी एक जगह हृदय है। वैसे ही सब कर्मोंके रहनेकी

एक जगह दोनों हाथ हैं। वैसे ही सब आनन्दोंके रहनेकी एक जगह उपस्थ है। वैसे ही सब त्यागोंके रहनेकी एक जगह गुद-इन्द्रिय है। वैसे ही सब मार्गोंके रहनेकी जगह दोनों पाद हैं। वैसे ही सब वेदोंके रहनेकी एक जगह वाणी है। ऐसे ही हे मैत्रेयि, सबके रहनेका एक स्थान आत्मा है ॥ ११ ॥

यह प्रतिज्ञा की गई है कि 'यह जो कुछ है सब आत्मा है।' इसमें आत्मसामान्यत्व, आत्मजनितत्व और आत्मप्रलयत्व ये हेतु बतलाये हैं। इसलिए उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकालोंमें प्रज्ञानसे भिन्न किसी कि सत्ता नहीं है। ब्रह्म-वेत्ताओंका जो ब्रह्मविद्याजनित बुद्धिपूर्वक प्रलय होता है, वह आत्यन्तिक है, जो कि अविद्याके निरोध द्वारा होता है। उसीका निरूपण अब आरम्भ किया जाता है—

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात् यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

भावार्थ—सामुद्रिक नमकका ढेला अपने कारण समुद्रमें गिरकर जलरूपसे विलीन हो जाता है अर्थात् जो भूमिके तेजके योगसे कठिन हुआ था उस ढेलेका काठिन्य स्वकारण समुद्रजलके संपर्कसे हट जाता है। उस विलीन ढेलेको समुद्रजलसे पूर्ववत् निकालनेमें कोई समर्थ नहीं है। कितना भी कुशल पुरुष हो, वह पूर्व आकारवाले ढेलेको निकाल नहीं सकता। कारण यह है कि किसी भी प्रदेशके जलका ग्रहण कर आस्वादन करते हैं, उस जलमें नमकका स्वाद तो रहता है पर ढेला नहीं मिल सकता। जैसे यह दृष्टान्त है, वैसे ही मैत्रेयि जो यह परमात्मा नामक वस्तु है, इस महान् वस्तुसे अविद्या द्वारा परिच्छिन्न होकर कार्यकारणोपाधि सम्बन्धसे तुम खण्डभावको प्राप्त हुई हो। इसीसे जन्म मरण, भूख प्यास आदि संसारधर्मवती हुई हो। कार्यात्मक नाम रूपके सम्बन्धसे 'अहम्' ऐसा खिल्यभाव तुमको प्राप्त हुआ है। यह खिल्यभाव कार्यकारण शरीरेन्द्रियोपाधि संबन्धसे जनित भ्रान्ति द्वारा उत्पन्न हुआ है। इससे तुम अपनेको जो परिच्छिन्न और संसारधर्मविशिष्ट मानती हो, वह वस्तुतः भ्रान्तिसे ही। समुद्रस्थानीय अजर, अमर, अभय, समान, एकरस और शुद्ध प्रज्ञानघनमें सैन्धवघन

(नमकका ढेला) के समान लीन होनेपर, अर्थात् खिल्यभावके निवृत्त होनेपर या अविद्याकृत भेदभावका समूल नाश होनेपर यही एक अद्वैत, सबसे महत्तर, तीनों कालोंमें एक रूपसे रहता है। वह महान् ब्रह्म पारमार्थिक है, उसका अन्त नहीं है किन्तु सबके अन्तका वही साक्षी है, अतएव अपार है, विज्ञानघनरूप है। यह जो कार्यकरणभूत शरीरेन्द्रियादि नाम रूपात्मक प्रपञ्च जलके फेन या बुद्बुदके समान प्रतीत होता है, वह परमात्माका ही स्वच्छ सलिलस्वरूप है। जैसे फेनादि जलसे अतिरिक्त नहीं हैं किन्तु अतिरिक्तसे प्रतीत होते हैं, वैसे ही शरीर आदि आत्मस्वरूपमें प्रतीत होते हैं। जिन पदार्थोंका प्रज्ञानघन आत्मामें परमार्थविवेक या ज्ञानसे नदी-समुद्रके समान प्रविलायन कहा गया है, वे इन्हीं हेतुभूत सत्यशब्दवाच्य भूतोंसे सैन्धवखिल्यवत् उत्पन्न होकर उसीमें नष्ट हो जाते हैं। देहेन्द्रियभावसे मुक्त होनेपर इनकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। मैत्रेयि, ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ। इस प्रकार याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १२ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्य महर्षिके वचनको सुनकर मैत्रेयी बोली कि मृत्युके बाद इस जीवात्माका कोई नाम नहीं रह जाता है, यह सुनकर मैं बड़ी भ्रान्तिको प्राप्त हुई हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि आपने मुझे भ्रममें डाल दिया है। तब याज्ञवल्क्य महर्षि बोले कि हे मैत्रेयि, इस प्रकार मत कहो, जो कुछ मैंने तुमसे कहा, वह ठीक कहा है, मेरा उपदेश भ्रमसे निकालनेके लिए है न कि भ्रममें डालनेके लिए। जो कुछ मैंने तुमसे कहा है, वह तुम्हारे पूर्ण ज्ञानके लिए कहा है। अर्थात् मेरे कथनका तात्पर्य यह है कि आत्माका जो अविद्या द्वारा प्रस्तुत किया हुआ देहेन्द्रियसम्बन्धी खिल्यभाव है, उसका विद्या द्वारा नाश कर दिये जानेपर उस खिल्यभावके कारण पड़ी हुई जो शरीरादिसम्बन्धिनी अन्यत्व-दर्शन-रूपा विशेष संज्ञा है, वह इसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार जलादि आधार-का नाश हो जाने पर चन्द्रिकाका प्रतिबिम्ब और उससे होनेवाले प्रकाशादिका नाश हो जाता है। किन्तु वास्तविक चन्द्रमा तथा सूर्यादिके स्वरूपका नाश नहीं होता, वैसे ही असंसारी ब्रह्मके स्वरूप विज्ञानघनका भी नाश नहीं होता है। वही सम्पूर्ण जगत्का आत्मा है, भूतोंका नाश होनेपर भी परमार्थतः उसका नाश नहीं होता ॥१३॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरᳬ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कᳬ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं विजानीयाद्येनेदᳬ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥

भावार्थ—जिस अवस्थामें द्वैतके समान प्रतीत होता है, उस अवस्थामें परमात्मासे भिन्न शरीरादिउपाधिक जीव अपनी इन्द्रियोंसे घ्राणयोग्य गन्धका आघ्राण करता है, अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यका अभिवादन करता है, अन्यका मनन करता है और अन्यको जानता है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्थामें आत्मैकत्व अज्ञात रहता है, उसी अवस्थामें भ्रमसे सद्वितीयके समान होता है तथा उसी अवस्थामें घ्राता घ्राणसे घ्रातव्य गन्धका ग्रहण करता है, वहीं पर कर्तृकर्मादि भेदबुद्धि होती है। जिससे अविद्योपहित आत्मा अपने रूपको नहीं देखता। किन्तु जहाँ ब्रह्मविद्यासे अविद्या नाशको प्राप्त हो गई है, वहाँ आत्मासे अन्य वस्तुका अभाव हो जाता है। जहाँ इस ब्रह्मवेत्ताके सम्पूर्ण नाम रूपादि आत्मामें ही प्रविलीन हो जाते हैं, सब आत्मा ही हो जाते हैं, वहाँ किस इन्द्रियसे किस घ्रातव्य पदार्थको कौन सूँघे ? किसके द्वारा किसे देखे ? किसके द्वारा किसे सुने ? किसके द्वारा किसका अभिवादन करे ? किसके द्वारा किसका मनन करे तथा किसके द्वारा किसे जाने ? जिसके द्वारा इन सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? हे मैत्रेयी, विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ? ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्य ऋषिकी दो स्त्रियाँ थीं, एकका नाम मैत्रेयी था, दूसरीका नाम कात्यायनी। जब याज्ञवल्क्य वनमें जाने लगे, तब उन्होंने मैत्रेयीसे कहा कि मैं संन्यास आश्रममें जानेवाला हूँ, चाहता हूँ कि धनमें कात्यायनीके साथ तेरा बटवारा कर दूँ। मैत्रेयीने कहा कि क्या इस धनसे किसी प्रकार मैं अमर हो सकती हूँ ? याज्ञवल्क्यने कहा कि नहीं, इससे अमर होना बिलकुल असंभव है। तब मैत्रेयीने कहा—जिससे मैं अमर नहीं हो सकती हूँ उसे लेकर क्या करूँगी ?

आप जो कुछ अमर होनेका साधन जानते हैं, उसका ही मुझे उपदेश करें। यह सुनकर याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हुए और उसे धन्यवाद देकर कहने लगे—

हे मैत्रेयी, सांसारिक सकल पदार्थ अपने लिए प्रिय होते हैं। इसलिए आत्माका ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए, इस श्रवणादिसे ही सब कुछ जाना जा सकता है। क्योंकि सब कुछ आत्मासे ही उत्पन्न होता है, आत्मामें ही लीन होता है और स्थिति कालमें भी आत्मस्वरूप ही है। आत्माको छोड़कर उपलब्ध न होनेके कारण सब कुछ आत्मा ही है। इस प्रकार ऋषिने सबकी आत्मस्वरूपताके ग्रहणको दुन्दुभि, शङ्ख और वीणाका दृष्टान्त देकर बतलाया कि आत्मा वैसे ही सबका आश्रय है, जैसे समस्त जलोंका समुद्र, समस्त स्पर्शोंकी त्वचा एक अयन है। जब शास्त्र और गुरुके उपदेश द्वारा प्राप्त ब्रह्मविद्यासे आत्मखिल्य भावके हेतुभूत कार्य-करणात्मक विषयाकारोंमें परिणत भूत नदी-समुद्रन्यायसे नष्ट हो जाते हैं, तब सलिल फेन बुदबुद्के समान उनका नाश होनेपर खिल्यभाव भी नष्ट हो जाता है। जैसे प्रतिबिम्बके हेतु जल, रक्तभावके हेतु जपाकुसुम आदिके हटानेपर सूर्यका प्रतिबिम्ब और स्फटिकका रक्तभाव नष्ट हो जाता है, वैसे ही उक्त प्रतिबिम्बभूत जीव ब्रह्मरूपसे अवस्थित हो जाता है। उस कैवल्यमें विशेष संज्ञा नहीं रहती, शरीरे-न्द्रियादिसे रहितकी विशेष संज्ञा हो ही नहीं सकती। अतः यह मेरा है, मैं अमुकका पुत्र हूँ, मेरा धन है, मैं सुखी, दुःखी हूँ इत्यादि सब अविद्याकृत हैं, अतएव वे अविद्यासद्भाव तक ही रहते हैं। जब अविद्या ब्रह्मविद्यासे निवृत्त हो जाती है तब विशेष संज्ञा कैसे हो? क्योंकि निमित्तके अभावसे नैमित्तिकका अभाव न्यायसिद्ध है। उस समय ब्रह्मवेत्ता चैतन्यस्वभाव रहता है।

इस प्रकार बोध कराये जानेपर मैत्रेयीने कहा कि इस कथनसे आपने मुझे मोहमें डाल दिया। तब याज्ञवल्क्यने कहा कि मैं मोहका उपदेश नहीं कर रहा हूँ, यह कथन तो अविनाशी परमात्माका विज्ञान करानेके लिए पर्याप्त है, क्योंकि व्यवहार द्वैत में है, परमार्थतः ब्रह्म व्यवहारातीत है। तात्पर्य यह है कि जैसे सुषुप्ति अवस्था-में सकल व्यवहारोंकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही मुक्ति दशामें भी व्यवहारोंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए अज्ञानदशामें ही क्रिया कारक फलका व्यवहार होता है, ब्रह्मवेत्तामें उक्त व्यवहार नहीं हो सकता। उसके कारणके अभावसे सब कुछ आत्मा ही हो गये हैं, अतः उससे व्यतिरिक्त कारक क्रिया या उसका फल कुछ भी नहीं है। यहाँ इस बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि अनात्मपदार्थ यदि वास्तविक होते, तो ब्रह्मज्ञान होनेपर वे आत्मा कैसे हो जाते? यह तो निश्चय

है कि घट, पट ये दोनों पदार्थ परस्पर भिन्न हैं, कोई भी कितना ही निपुण कारीगर क्यों न हो, दोनों को एक नहीं कर सकता । फिर श्रुति ब्रह्मज्ञान होनेपर अखिल जगत्को ब्रह्मस्वरूप बतलाती है । श्रुतिमें अविश्वास करनेका भी कोई कारण नहीं है। इस अर्थकी उपपत्ति श्रुति स्वयं करती है । इससे यह सिद्ध होता है कि संसार अज्ञानजनित है । जब तक अज्ञान है, तब तक अनेक अनात्मपदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। ज्ञान होनेसे अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जाती है और परमार्थ अद्वैत ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि परमार्थतः आत्माका एकत्वप्रत्यय होनेपर क्रिया कारक फल किसीका प्रत्यय नहीं हो सकता। ब्रह्मवेत्ताके प्रति क्रिया और उसके साधनकी अत्यन्त निवृत्ति ही सिद्ध होती है । अतः हे मैत्रेयि, आत्माका ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन करो, इसीसे तुम्हारे सकल अभीष्टकी सिद्धि होगी ॥ १४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

पहले केवल कर्मनिरपेक्ष मोक्षका साधन वर्णन करनेके लिए 'मैत्रेयी-ब्राह्मण' का आरम्भ किया गया था । मोक्षका साधन आत्मज्ञान है, जो सर्वसंन्यास-रूप अङ्गसे विशिष्ट है। आत्माका ज्ञान होनेपर यह समस्त जगत् ज्ञात हो जाता है। आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इस लिए यही दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय है तथा ध्येय है। इस तरह उसके साक्षात्कारके उपाय बतलाये गये हैं। उसे गुरु और आगमसे सुनना चाहिए, तर्कसे मनन करना चाहिए, यहाँ पर तर्क यह कहा गया है कि यह समस्त जगत् आत्मा ही है। इसकी पुष्टिके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ करते हैं। अथवा 'यह सब आत्मा ही है' ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी, उसमें आत्मासे उत्पत्ति तथा उसीमें स्थिति और लय होनारूप हेतु बतलाकर अब इस शास्त्रप्रधान मधु-ब्राह्मण द्वारा प्रतिज्ञा किये हुए उसी अर्थका पुनः निगमन किया जाता है। भाव यह है कि इस ब्राह्मणमें पूर्ववर्ती दोनों अध्यायोंके अर्थका उपसंहार किया जाता है, यथा—

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चा-यमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १ ॥

भावार्थ—यह प्रसिद्ध पृथिवी सब भूतोंका मधु है, यानी ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंका मधुकार्य है। जैसे मधु कार्य है, वैसे पृथिवी भी कार्य है। जैसे एक मधुका छत्ता अनेक मधुमक्खियों द्वारा निर्मित है, वैसे ही सब भूत पृथिवीके मधु हैं। इस पृथिवीमें जो यह प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है और हृदयमें जो यह शरीरउपाधिवाला प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है यही वह है जिसके विषयमें प्रतिज्ञा की गई है कि यह जो कुछ है सब आत्मा है। मैत्रेयीको जो अमृतत्वका साधन बतलाया गया था वह यह आत्मविज्ञान अमृत है। जिससे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या ब्रह्मविद्या इस नामसे कही जाती है। यही सर्व है, क्योंकि ब्रह्मका ज्ञान होनेसे इसकी सर्वरूपता हो जाती है ॥ १ ॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाँ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मँ रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥ २ ॥

भावार्थ—ये जल सब भूतोंके मधु हैं और इन जलोंके सब भूत मधु हैं। जो जलमें यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और यह अध्यात्म (शरीरके अन्तर्गत) वीर्यसम्बन्धी प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है. यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ २ ॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह अग्नि सब भूतोंका मधु है और इस अग्निके सब भूत मधु हैं। जो यह अग्निमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है तथा जो शरीरमें वाणीमय प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि

भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद्ँ सर्वम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह वायु सब भूतोंका मधु है और सब भूत इस वायुके मधु हैं। जो यह इस वायुमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है तथा जो यह अध्यात्म प्राण प्रकाशस्वरूप, अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। अध्यात्म प्राण भूतोंके शरीरका आरम्भक होनेसे उपकारक है, इसलिए उसमें मधुत्व है। तदन्तगत तेजोमयादिमें भी करणरूपसे उपकारकत्व होनेसे मधुत्व है ॥ ४ ॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद्ँ सर्वम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह आदित्य सब भूतोंका मधु है तथा इस आदित्यके सब भूत मधु हैं। जो यह इस आदित्यमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, तथा जो यह अध्यात्म चाक्षुष प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाँ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मँ श्रोत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद्ँ सर्वम् ॥६॥

भावार्थ—ये दिशायें सब भूतोंकी मधु हैं तथा इन दिशाओंके सब भूत मधु हैं। जो यह इन दिशाओंमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है। प्रतिश्रवण वेलामें जो सन्निहित पुरुष है, वह प्रातिश्रुत्क है। श्रोत्र आकाशात्मक है, इसलिए वह सदा सन्निहित रहता है ॥ ६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह चन्द्रमा सब भूतोंका मधु है और इस चन्द्रमाके सब भूत मधु हैं। जो यह इस चन्द्रमामें तेजोमय, प्रकाशस्वरूप, मनःसंबन्धी अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ७ ॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह विद्युत् सब भूतोंकी मधु है तथा सब भूत इस विद्युत्के मधु हैं। जो यह इस विद्युत्में प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है तथा जो यह त्वचाके तेजमें रहनेवाला अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह है, जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ८ ॥

अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ९ ॥

भावार्थ—यह मेघ सब भूतोंका मधु है तथा इस मेघके सब भूत मधु हैं। जो यह इस मेघमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है तथा जो यह विशेष रूपसे स्वरमें रहनेवाला, अतएव स्वरसम्बन्धी अध्यात्म प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि

भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१०॥

भावार्थ—यह आकाश सब भूतोंका मधु है, तथा सब भूत इस आकाशके मधु हैं। जो यह इस आकाशमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म हृदयाकाश प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ १० ॥

पृथिवीसे लेकर आकाश पर्यन्त भूतगण और देवगण कार्यकारण—सङ्घात्मा होते हुए परस्पर उपकारकत्व रूपसे मधु होते हैं। प्रत्येक शरीरियोंके लिए यह कहा गया है। जिसके द्वारा शरीरियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले भूतगण तथा देवगण परस्पर उपकारक होते हैं, उसको समझाना है. इसलिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धर्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ११ ॥

भावार्थ—यह धर्म सब भूतोंका मधु है और इस धर्मके सब भूत मधु हैं। जो यह इस धर्ममें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—यद्यपि धर्म अप्रत्यक्ष है, परन्तु धर्मका व्याख्यान श्रुति और स्मृतियोंमें किया गया है। मनुष्योंका नियन्ता क्षत्रिय राजा है और राजाका भी नियन्ता धर्म है। एवं जगद्वैचित्र्यका आदि कारण धर्म ही है, पृथिव्यादि परिणामका हेतु और प्राणियोंसे अनुष्ठीयमान भी धर्म है। इस कारणसे यहाँ शास्त्र तथा आचाररूप सत्य और धर्मका अभेदरूपसे निर्देश किया गया है। किन्तु एक होनेपर भी यहाँ भेदेन निर्देशका तात्पर्य यह है कि दृष्ट रूपसे तथा अदृष्ट रूपसे कार्योंका आरम्भक होनेके कारण धर्म दो रूपसे कार्यका कारण है, इस लिए दो रूपोंसे उसका निर्देश किया गया है। जो अदृष्ट

(अपूर्व) नामक धर्म है वह सामान्य और विशेष दो रूपोंसे कार्योंका आरम्भक होता है। वह सामान्य रूपसे पृथिव्यादिका प्रयोजक होता है और विशेष रूपसे शरीरेन्द्रियादिका ॥ ११ ॥

इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाऽयमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाऽयमध्यात्मꣳ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—यह सत्य सब भूतोंका मधु है तथा इस सत्यके सब भूत मधु हैं। जो यह इस सत्यमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सत्यसंबन्धी प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—दृष्ट आचाररूपसे अनुष्ठीयमान आचार भी धर्म ही है। इसमें—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एवञ्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिरेव च ॥

इत्यादि वचन प्रमाण हैं। धर्म दो प्रकारका है, एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य धर्म पृथिवी आदिमें कारणरूपसे अनुगत है और विशेष धर्म शरीर-इन्द्रियादिके समूहमें अनुगत है ॥ १२ ॥

इदं मानुषꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाऽयमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १३ ॥

भावार्थ—यह मनुष्यजाति सब भूतोंका मधु है तथा इस मनुष्यजातिके सब भूत मधु हैं। यह जो इस मनुष्य जातिमें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ १३ ॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा सब भूतोंका मधु है तथा इस आत्माके सब भूत मधु हैं। जो यह इस आत्मामें प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा प्रकाशस्वरूप अमृतमय पुरुष है, यही वह है, जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब है ॥ १४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो कार्य-करणसंघात मनुष्यादि जातिविशिष्ट है, वह सब भूतोंका मधु है। शंका—यह तो शारीर शब्दसे निर्दिष्ट है, अतः पृथिवीका पर्याय ही है। समाधान—पार्थिव अंशका ही वहाँ ग्रहण है, यहाँ तो अध्यात्म, अधिभूत आदि सब विशेषोंसे रहित, सकल भूत तथा देवगणसे विशिष्ट कार्यकरणसंघातरूप सर्वात्मा 'सोऽमात्मा' कहा गया है। इस आत्मामें तेजोमय, अमृतमय, अमूर्त, रस एवं सर्वात्मक पुरुषका निर्देश है। एक देशसे जो पृथिव्यादि निर्दिष्ट हैं, उनका यहाँपर अध्यात्मविशेषका अभाव होनेसे निर्देश नहीं करते हैं। जो परिशिष्ट विज्ञानमय आत्मा है, जिसके लिए देहलिङ्गसंघात है, वही 'यश्चायमात्मा' कहा जाता है ॥ १४ ॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

भावार्थ—यह परमात्मा सब भूतोंका अधिपति है तथा सब प्राणियोंमें राजा—प्रकाशस्वरूप है। जैसे रथके पहियेमें सब अरे समर्पित रहते हैं, वैसे ही इस आत्मामें सब भूत, सब देव, सब लोक, सब प्राण तथा ये सभी आत्मा समर्पित हैं ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्रमें वह आत्मा बतलाया गया है जिससे कोई पूर्व और पर नहीं है, अतएव यह मध्य भी नहीं है। इस तरहका जो सब उपाधियोंसे शून्य, अन्तर्बाह्यशून्य, पूर्ण, प्रज्ञानघन, अजन्मा, अजर, अमर, अभय, अचल, नेतिनेति, अस्थूल, असूक्ष्म प्रत्यगात्मा है. उसीका दृष्टान्तके साथ व्याख्यान करते हैं। उस आत्मामें अविद्याकी निवृत्ति होनेपर नमकके दृष्टान्तके अनुसार विज्ञानात्मा का प्रवेश होता है। तब उस ब्रह्मीभूत पुरुषके लिए सब कुछ आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है। जैसे भ्रमदशामें रज्जूमें सर्पकी प्रतीति होती है किन्तु रज्जूका साक्षात्कार होनेपर सर्पकी सत्ता रज्जूसे अतिरिक्त प्रतीत नहीं होती। वैसे ही पुरुषको ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्ता प्रतीत नहीं होती। उस समय वह पुरुष भी सब भूतोंका अधिपति तथा सबमें प्रकाश-स्वरूप हो जाता है। ब्रह्मवेत्तामें उक्त विशेषण जीवन्मुक्ति दशाके तात्पर्यसे है। उस दशामें प्रारब्ध--कर्मवश विक्षेपकी अनुवृत्ति रहती है, इसलिए उसमें वह विशेषण हो सकता है। ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर अप्रतिबद्ध स्व-स्वरूपका भान होता है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी राजाके समान सुशोभित होता है। अज्ञानके नाशमें हेतु 'अहं ब्रह्माऽस्मि' ऐसा विज्ञान है। आत्मा यद्यपि स्वयंप्रकाश है, तो भी अविद्यासे उसका स्वयंप्रकाशत्व तिरोहित रहता है। अविद्यानिवर्तक उक्त ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति द्वारा आत्माका प्रकाश प्रकट हो जाता है, अतः वह राजाके समान शोभित होता है। जो देही अपनी अविद्याके कारण तत्त्वज्ञानसे पहले संसारीके समान था, वस्तुतः उस समयमें भी वह संसारी नहीं है, किन्तु अपनेको संसारीके समान अज्ञानसे मानता है। जैसे मलिन दर्पणमें मुख देखनेसे अपना मुख मलिन सा प्रतीत होता है और अज्ञानी पुरुष उस मालिन्यको वस्तुतः अपने मुखमें समझकर दुःखी होता है। फिर विवेक होनेपर यह समझता है कि मालिन्य दर्पणगत है, मुखगत नहीं है। वैसे ही संसारी पुरुष मनोगत सुख दुःख आदिको आत्मगत मानकर संसारीके समान होता है। वही पुरुष विद्या होनेपर यानी 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस बोधके होनेपर ब्रह्म हो जाता है, इसलिए सब जगत् उसमें अर्पित यानी स्थित है। इसी अर्थको स्फुट करनेके लिए श्रुति यह दृष्टान्त देती है, जैसे—रथके पहियेमें एक नाभि होती है, उसके बीचमें छिद्र रहता है और उसमें धुरी रहती है। नेमि ऊपरका चक्का कहलाता है। नाभि और नेमिके बीचमें छोटे-छोटे काष्ठके टुकड़े लगे रहते हैं वे 'अरा' कहलाते हैं। जैसे अरे रथकी नाभिमें लगे रहते हैं, वैसे ही इस परमात्मामें ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त

सब भूत, सब अग्नि आदि देवता, सब भूआदि लोक, सब इन्द्रियाँ तथा सब जीव अर्पित यानी आश्रित हैं। अर्थात् कोई परमात्माके आधार विना रह नहीं सकता, इसीसे सबकी उत्पत्ति है, इसीमें सबका लय है, इसीमें सबकी स्थिति है। ऐसा यह परमात्मा सबका आत्मा है, हे मैत्रेयि, यही तुम्हारा स्वरूप है ॥ १५ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

भावार्थ—हे मैत्रेयि, निश्चय करके मैं उस मधु ब्रह्मविद्याको कहता हूँ—जिसको अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषिने अश्विनीकुमारोंके प्रति कहा था। दध्यङ् ऋषिने उनसे इस प्रकार कहा कि हे अश्विनीकुमारो, तुम दोनोंके प्रति इस ब्रह्मविद्याको तुम्हारे लाभके लिए इस प्रकार स्पष्ट प्रकाश करूँगा, जैसे बिजली वृष्टिके आनेको सूचित करती है। इसके अनन्तर उस उग्र कर्मका अनुभव करते हुए अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषिने घोड़ेके सिरसे ब्रह्मविद्याका उपदेश किया ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—एक समय देवताओंके वैद्य दोनों अश्विनीकुमार अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषिके पास गये और सविनय यह प्रार्थना की—हे प्रभो, हम लोगोंके प्रति आप कृपा करके ब्रह्मविद्याका उपदेश करें। ऋषिने कहा कि मैं उपदेश करनेको तो तैयार हूँ किन्तु मुझको इन्द्रका भय है। क्योंकि उसने कहा है कि यदि तुम कभी ब्रह्मविद्याका उपदेश किसीको करोगे तो तुम्हारा सिर मैं काट डालूँगा। अतः यदि मैंने तुमको उपदेश किया तो वह मेरा सिर अवश्य काट डालेगा। अश्विनीकुमारोंने ऋषिको आश्वासन देकर कहा कि आप न घबड़ाइए। जब आप हम दोनोंको शिष्य बनायेंगे, तो हम आपका सिर काटकर दूसरी जगह छिपाकर रख देंगे, उसके अनन्तर घोड़ेका सिर लाकर आपके धड़से जोड़ देंगे। उपदेश देनेपर जब इन्द्र आपका सिर काट देगा, तब जो सिर अन्यत्र छिपाकर रखा रहेगा, उसे हम पुनः आपके धड़से जोड़ देंगे। ऋषिने यह बात मान ली और दोनोंको शिष्य बना लिया। शिष्योंने गुरुका सिर काटकर दूसरी जगह रख दिया, उसके स्थानपर घोड़ेका सिर जोड़ दिया गया। घोड़ेके सिर से उन दोनोंको ऋषिने उक्त विद्याका उपदेश दिया। जब इन्द्रको यह हाल मालूम हुआ तब

उसने आकर अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार दध्यङ् ऋषिके घोड़ेवाले सिरको काट दिया। पुनः अश्विनीकुमारोंने सुरक्षित सिरको लाकर धड़से जोड़ दिया। इस आख्यायिकासे ब्रह्मविद्याका महत्त्व दिखाया गया है ॥ १६ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳ शिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ १७ ॥

भावार्थ—उस मधुका अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषिने अश्विनीकुमारोंके प्रति उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) ने कहा कि हे अश्विनीकुमारो, तुम दोनों अथर्ववेदी दध्यङ्के लिए घोड़ेका सिर लाये। उसने सत्यका पालन करते हुए तुम्हें त्वाष्ट्र (सूर्यसम्बन्धी) मधुका उपदेश किया तथा हे दस्रो (शत्रुहिंसको), जो आत्मज्ञानसम्बन्धी कक्ष्य (गोप्य) मधु था वह भी तुमसे कहा ॥ १७ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जिस मधु नामक ब्रह्मविद्याको अश्विनीकुमारोंके लिए अथर्ववेदी दध्यङ ऋषिने उपदेश किया। उसी ब्रह्मविद्याके उपदेशको सुनकर एक ऋषि मन्त्रद्रष्टाने अश्विनीकुमारोंसे इस प्रकार कहा—हे अश्विनीकुमारो, ब्राह्मणका सिर छिन्न होनेपर तुमने अतिक्रूर कर्म करते हुए घोड़ेका सिर काटकर उसे ब्राह्मणके धड़में लगा दिया। उस अथर्वाने आप दोनोंको मधुविद्याका उपदेश दिया, जिसने पहले प्रतिज्ञा की थी कि यह मैं तुमसे कहूँगा। उस ऋषिने जीवनसंशयमें आरूढ़ होकर भी पूर्वप्रतिज्ञात सत्यके परिपालनकी कामनासे ऐसा किया। यह इस बातका सूचक है कि जीवनसे भी सत्यधर्मका पालन गुरुतर है। उसने जिस मधुका उपदेश किया उसका नाम है त्वाष्ट्र मधु । त्वष्टा नाम आदित्यका है, तत्सम्बन्धी यज्ञका छिन्न सिर सूर्य हुआ, उसके जोड़नेके लिए जो प्रवर्ग्य कर्म किया गया, उसका अङ्गभूत विज्ञान त्वाष्ट्र मधु है। यज्ञके शिरश्छेदनके प्रतिसन्धानादिका जो सम्बन्धदर्शन है, वही त्वाष्ट्र मधु है। हे शत्रुओंके हिंसको, उन्होंने तुम्हें केवल कर्मसम्बन्धी त्वाष्ट्र मधुका ही उपदेश नहीं किया, अपि तु जो चिकित्साशास्त्रसम्बन्धी ज्ञान है तथा जो गोप्य परमात्मसम्बन्धी रहस्यभूत मधुविज्ञान है उसका भी उपदेश तुम्हारे लिए किया। इस मन्त्रसे यह प्रकट होता है कि दध्यङ् ऋषिसे चिकित्साशास्त्र और आत्मज्ञान अश्विनीकुमारोंको मिले हैं ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥ १८ ॥

भावार्थ—इस मधु–ब्रह्मविद्याका अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषिने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया । इसे देखते हुए मन्त्रद्रष्टाने कहा—परमात्माने दो पैरोंवाले शरीर बनाये तथा चार पैरोंवाले शरीर बनाये । पहले वह पुरुष पक्षी होकर शरीरोंमें प्रविष्ट हो गया । वह पुरुष सब पुरों (शरीरों) में पुरिशय है । ऐसा कुछ भी नहीं है जो पुरुषसे आच्छादित न हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है जिसमें पुरुषका प्रवेश न हुआ हो, यानी जो पुरुषसे व्याप्त न हो ॥ १८ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—याज्ञवल्क्य महर्षि कहते हैं कि हे मैत्रेयी, उसी मधुनामक ब्रह्मविद्याका उपदेश अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषिने अश्विनीकुमारोंको किया था । इसके अनुसार परमात्माने दो पैरवाले पक्षियों तथा मनुष्योंके शरीरोंको और चार पैरवाले पशुओंके शरीरोंको बनाया । उसी परमात्माने आरम्भमें लिङ्गशरीर होकर पुरुष यानी पुरमें रहनेवाला, इस प्रकारका अर्थग्राही नाम धारण करते हुए प्रवेश किया । परमात्मा सब शरीरोंमें सोनेवाला पुरुष है, इसी पुरुषके द्वारा सब कुछ ढका हुआ है, अर्थात् इसी पुरुषके द्वारा समस्त चराचर ब्रह्माण्ड व्याप्त है । इसीके द्वारा कुछ भी अननुप्रवेशित नहीं है अर्थात् सब कुछ प्रवेशित है या सबमें यह व्याप्त है । हे मैत्रेयि, जो कुछ दृष्टिगोचर है वह सब ब्रह्मरूप ही है ॥ १८ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपꣳ रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥१९॥

भावार्थ—इस मधुनामक ब्रह्मविद्याका अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषिने अश्विनीकुमारोंके प्रति उपदेश किया। यह देखते हुए एक ऋषिने कहा कि वह रूप रूपके प्रति प्रतिरूप हो गया। ईश्वर मायासे अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है। शरीररथमें जुड़े हुए इसके इन्द्रियरूप घोड़े सौ और दस हैं। यह परमेश्वर ही हरि यानी इन्द्रियरूप अश्व है, यही दस, सहस्र, अनेक और अनन्त है। यह ब्रह्म अपूर्व यानी कारणरहित, अनपर अर्थात् कार्यरहित, अनन्तर यानी विजातीय द्रव्यसे रहित तथा अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदान्तोंका अनुशासन अर्थात् उपदेश है॥ १९॥

वि० वि० भाष्य—'वह परमात्मा रूप रूपके प्रति प्रतिरूप हो गया' इसका तात्पर्य यह है कि प्रति उपाधिमें उसका रूपान्तर प्रतिबिम्ब हुआ। जैसे एक ही मुखका मणि, दर्पण, कृपाण आदि उपाधिके भेदसे अनेक प्रकारका प्रतिबिम्ब होता है, क्योंकि उपाधियोंके अनुरूप प्रतिबिम्बभेद लोकमें दृष्ट है एवं देव, असुर, मनुष्य, अश्व आदि उपाधिभेदसे उनके अनुरूप एकरस आत्माका प्रतिबिम्ब होता है। अथवा प्रतिरूपका अर्थ अनुरूप है। जिस संस्थानके माता और पिता होते हैं तदनुरूप ही पुत्र होता है, यह नहीं देखा जाता कि माता और पिता चतुष्पाद हों और उनकी सन्तान द्विपाद हो। यदि अपूर्वके विपर्यय से कहीं ऐसा हो भी, तो वह जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि सृष्टिनियमके विपरीत है। वही परमेश्वर नाम और रूपका व्याकरण करता हुआ रूप रूपके प्रति प्रतिरूप हुआ। उसका प्रतिरूपको प्राप्त होना इसलिए हुआ है कि वह अपने नाम रूपको प्रकट करे, क्योंकि यदि नाम रूपोंकी अभिव्यक्ति न होती तो इस आत्मा का प्रज्ञानघनसंज्ञक निरुपाधिक रूप प्रकट नहीं हो सकता था। किन्तु जिस समय कार्यकारण-भावसे नाम रूपोंकी अभिव्यक्ति होती है, तभी इसका रूप प्रकट होता है। इन्द्र—परमेश्वर मायासे (अज्ञानसे) अथवा नाम-रूपकृत मिथ्याभिमानसे, न कि परमार्थतः, बहुरूप कहा जाता है। यानी एक प्रज्ञानघन पुरुष अविद्याजनित प्रज्ञाओंसे बहुविध कहा जाता है। वास्तवमें वह एक ही है। जिस प्रकार रथमें जुते घोड़े रथको अपने नेत्रके सामनेकी तरफ ले जाते हैं, उसी प्रकार इस प्रत्यगात्मा अर्थात् जीवको शरीरमें लगी हुई, विषय हरण करनेवाली इन्द्रियाँ भी विषयकी तरफ ले जाती हैं। वे इन्द्रियाँ एक सहस्र हैं, दस सहस्र हैं, बहुत हैं, असंख्य हैं, यानी जितनी वे हैं उतना ही यह प्रत्यगात्मा भी दिखलाई देता है। यही प्रत्यगात्मा व्यापक ब्रह्म है, यही अद्वितीय है, यही सब व्यवधानोंसे रहित है, यही प्रत्यगात्मा सबका अनुभवी है। हे मैत्रेयि, यही सब वेदान्तोंका उपदेश है॥१९॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशायें, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्यजाति तथा परिच्छिन्न बुद्धि; ये भूतोंके कार्य हैं तथा इनका कार्य सब भूत हैं। इस पृथिवीमें जो प्रकाशस्वरूप, अमरधर्मी पुरुष है, वही हृदयस्थ, शरीर उपाधिवाला, प्रकाशस्वरूप, अमरधर्मी पुरुष है, यानी दोनों एक ही हैं और जो हृदयस्थ पुरुष है यही अमर है, यही ब्रह्म है, यही सर्वशक्तिमान् है, यही सब भूतोंका अधिपति है। यही समस्त प्राणियोंमें प्रकाशस्वरूप है, इसीसे उत्पत्ति, इसीमें स्थिति तथा इसीमें लय होता है। अतः जो श्रुति और आचार्यके दिखाये हुए मार्गका अनुसरण करनेवाले हैं, वे ही अविद्याका पार पाते हैं और वे ही इस अगाध मोहसमुद्रसे तर जाते हैं। दूसरे लोग, जो बुद्धिकुशलताका अनुसरण करनेवाले हैं, उसे पार नहीं कर सकते।

जिसके विषयमें मैत्रेयीने अपने पतिसे पूछा था कि 'आप जो भी अमृतत्वका साधन जानते हों वही मेरे प्रति कहिये' वह अमृतत्वकी साधनभूत ब्रह्मविद्या समाप्त हो गई। इस ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए आगे कही जानेवाली आख्यायिका प्रस्तुत की जाती है, उस आख्यायिकाके तात्पर्यको संक्षेपसे प्रकाशित करनेके लिए ये दो मन्त्र हैं। इन्हींके द्वारा स्तुत होनेके कारण ब्रह्मविद्याका अमृतत्व एवं सर्व प्राप्तिका साधनत्व प्रकट किया गया है। जैसे उदय होनेवाला सूर्य रात्रिके अन्धकारको दूर कर देता है, उसी प्रकार उदय होनेवाली विद्या अविद्याका नाश कर देती है। इसके सिवा उस ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की गई है कि जो विद्या इन्द्रसे सुरक्षित होनेके कारण देवताओंके लिए भी दुष्प्राप्य हो रही थी, वह विद्या देववैद्य अश्विनीकुमारोंको भी बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुई। उन्होंने ब्राह्मणका सिर काटकर उसपर घोड़ेका सिर लगाया और जब उसे इन्द्रने काट दिया तो पुनः उसका असली सिर जोड़कर फिर उस सिरसे ही कहे जानेपर समग्र ब्रह्मविद्याका श्रवण किया। इसलिए उससे बढ़कर कोई अन्य पुरुषार्थका साधन न कभी हुआ है और न होगा ही, वर्तमानमें तो हो ही कैसे सकता है? अतः उससे बढ़कर उसकी स्तुति नहीं हो सकती है।

ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की जाती है—यह लोकमें प्रसिद्ध है कि समस्त पुरुषार्थोंका साधन कर्म ही है, वह कर्म धनसाध्य है, अतः उससे अमृतत्वकी आशा भी नहीं है। यह अमृतत्व तो कर्मकी अपेक्षासे रहित केवल आत्मविद्याके द्वारा ही प्राप्त होता है, अतः इससे बढ़कर कोई और पुरुषार्थका साधन नहीं है। इसके सिवा ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की गई है—सारा ही लोक द्वन्द्वोंमें रमण करनेवाला है, जैसा कि 'वह विराट् पुरुष अकेला होनेके कारण रममाण नहीं

हुआ' 'इसीसे अकेला पुरुष रमण नहीं करता' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य साधारण लोकके सदृश होते हुए भी आत्मज्ञानके बलसे स्त्री, पुत्र एवं धन आदि संसार की आसक्तिको छोड़कर ज्ञानतृप्त हो आत्मामें प्रेम करनेवाले हो गये थे।

इसके सिवा ब्रह्मविद्याकी इस प्रकार भी स्तुति की गई है—क्योंकि संसार-मार्गसे निवृत्त होते हुए भी याज्ञवल्क्यजीने अपनी भार्याको प्रेमके कारण ही इसका उपदेश किया था, जैसा कि "तू प्रिय भाषण करती है, अतः आ, बैठ जा" इस विशेष कथनरूप प्रमाणसे ज्ञात होता है। इस विद्यासे प्राप्य परमात्मा नाम रूपात्मक अन्तर्बाह्य भावसे देह और इन्द्रियरूपमें स्थित है, उसीसे समस्त प्रपञ्च व्याप्त है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उससे व्याप्त न हो, वह मायासे अनेकरूप है पर वस्तुतः एक है। वह प्रत्यगात्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, जाननेवाला, सबको अच्छी तरहसे अनुभव करनेवाला है। यही संपूर्ण वेदान्तोंका उपसंहारभूत अर्थ है। अतः आत्माका ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। इसीसे परमपद प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि आत्मा ही अमृत और अभय है॥ १९॥

षष्ठ ब्राह्मण

इस ब्राह्मणमें मधुविद्याकी सम्प्रदायपरम्परा बतलायी जाती है—

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳ सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवा-

पायनः कौशिकाय नेः कौशिकाय निः ॥ २ ॥ घृतकौशिका-द्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चा-सुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भार-द्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद् विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादा-भूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳ-सन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

भावार्थ—अब मधुकाण्डका वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे इस विद्याको प्राप्त किया। गौतमने आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने शाण्डिल्यसे और आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने गौतमसे, गौतमने सैतव और प्राचीनयोग्यसे, सैतव और प्राचीनयोग्यने पाराशर्यसे, पाराशर्यने भारद्वाजसे, भारद्वाजने भारद्वाजसे और गौतमसे, गौतमने भारद्वाजसे, भारद्वाजने पाराशर्यसे, पाराशर्यने बैजवापायनसे, बैजवापायनने कौशिकायनिसे, इस विद्याको प्राप्त किया। कौशिकायनिने घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे,

पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजन्धनिसे, औपजन्धनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमार हारितसे, कुमार हारितने गालवसे, गालवने विदर्भी कौडिन्यसे, विदर्भी कौडिन्यने वत्सनपात् बाभ्रवसे, वत्सनपात् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने मृत्युप्राध्वंसनसे, मृत्यु-प्राध्वंसनने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे और परमेष्ठीने ब्रह्मासे इस विद्याको प्राप्त किया है। ब्रह्मा स्वयंभू है, ब्रह्माको नमस्कार है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्मविद्यार्थक मधुकाण्डका वंश ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए कहा जाता है। यह मन्त्र स्वाध्याय और जपके लिए है। यह वंश यानी बाँसके समान है। जिस प्रकार बाँसमें पोर होते हैं तथा वह प्रति पोरसे भिन्न होता है, उसी प्रकार अग्रभागसे लेकर मूलप्राप्ति पर्यन्त यह वंश है। आचार्य परम्परा-क्रम वंश कहलाता है। परमेष्ठी और ब्रह्मा एक ही अर्थके वाचक हैं, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए परमेष्ठी शब्दका यहाँ विराट् यह अर्थ किया है। ब्रह्मासे (हिरण्यगर्भसे) पूर्व आचार्यपरम्परा नहीं है, क्योंकि जो ब्रह्मा है वह तो नित्य और स्वयम्भू है, उस स्वयम्भू ब्रह्माको नमस्कार है।

यहाँ शंका होती है कि यदि हिरण्यगर्भसे आचार्यपरम्परा नहीं है तो हिरण्य-गर्भको विद्याप्राप्ति कैसे हुई? यद्यपि ब्रह्मस्वरूप ही वेद हैं और ब्रह्मके नित्य होनेसे उसको कारणकी अपेक्षा नहीं है, तो भी ज्ञानार्थ अध्यापककी आवश्यकता है। इसका समाधान यह है—पूर्व जन्ममें अधीत वेदका ईश्वरके अनुग्रहसे कल्पके आदिमें आविर्भूत ब्रह्माकी बुद्धिमें अपने तपःप्रभावसे स्वयं भान हुआ। जैसे सुप्त-प्रबुद्धको पूर्वभात विषयोंका भान होता है, वैसे ही हिरण्यगर्भको वेदोंका स्वतः भान हो गया, इसलिए उसको अध्यापककी आवश्यकता नहीं हुई ॥ १—३ ॥

द्वितीय अध्याय और षष्ठ ब्राह्मण समाप्त।

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

अब 'जनको ह वैदेहः' इत्यादि याज्ञवल्कीय काण्ड आरम्भ किया जाता है। गत मधुकाण्डसे इसकी समानार्थता होनेपर भी युक्तिप्रधान होनेके कारण इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं है, क्योंकि मधुकाण्ड शास्त्रप्रधान है। जब शास्त्र और युक्ति दोनों ही आत्मैकत्व प्रदर्शित करनेके लिए प्रवृत्त हों तो वे उसका हथेली पर रखे हुए बिल्वफलके समान साक्षात्कार करा सकती हैं। 'श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये' ऐसा पहले कहा गया है, इसलिए शास्त्रतात्पर्यको ही परीक्षापूर्वक निश्चय करनेके लिए यह युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्ड आरम्भ किया जाता है। यहाँ जो आख्यायिका है, वह विज्ञानकी स्तुतिके लिए और उसके उपायका विधान करनेके लिए है। दान इसका प्रसिद्ध उपाय है और शास्त्रोंमें भी विद्वानोंने इसे ही देखा है, क्योंकि दानसे प्राणी अपने प्रति विनीत हो जाते हैं। यहाँ बहुतसे सुवर्ण और सहस्र गौओंका दान देखा जाता है, इसलिए यहाँ शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय दूसरा होनेपर भी यह आख्यायिका विद्याप्राप्तिके उपायभूत दानको प्रदर्शित करनेके लिए आरम्भ की गई है।

इसके सिवा किसी विद्यामें निष्णात पुरुषोंका संग तथा उनके साथ वाद करना भी तर्कशास्त्रमें विद्याप्राप्तिका उपाय देखा गया है और वह वाद इस अध्यायमें बड़ी प्रौढ़िके साथ दिखाया गया है। विद्वानोंके संगसे प्रज्ञाकी वृद्धि होती है—यह तो प्रत्यक्ष ही है, इसलिए यह आख्यायिका विद्या प्राप्तिका उपाय प्रदर्शित करनेके लिए ही है। यथा—

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जन-

कस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणाना-मनूचानतम इति स ह गवाꣳ सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्ग्योराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध विदेह देशके राजा जनकने बहुदक्षिणासम्बन्धी यज्ञ किया। उसमें कुरु और पञ्चाल देशोंके परमप्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मण इकट्ठे हुए। तब राजा जनकको यह जाननेकी तीव्र इच्छा हुई कि इन उपस्थित मान्य ब्राह्मणोंमें कौन-सा अति ब्रह्मवेत्ता है ? ऐसा विचार करके उसने, जिनके प्रत्येक सींगोंमें दस दस पाद सुवर्ण बँधा हुआ था, ऐसी एक हजार गौओंको गोशालामें एकत्र करवाया ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—विदेह देशमें जनक नामक राजा था। उसने बहु-दक्षिण नामक यागसे, अथवा अश्वमेध यागसे (अश्वमेधमें दक्षिणा बहुत दी जाती है) यज्ञ किया। उस यज्ञमें पञ्चाल और कुरुक्षेत्र देशके ब्राह्मण एकत्रित हुए, उस सभामें महान् विद्वत्समुदायको देखकर यजमान जनककी यह जाननेकी तीव्र इच्छा हुई कि इस विद्वत्समूहमें सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता कौन है, जो मुझको उपदेश देनेके लिए योग्य हो ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर उक्त निश्चयपर पहुँचनेके लिए राजाने आदेश देकर एक हजार गौओंको एकत्र किया और दस दस पाद सोना प्रत्येक गौके सींगोंमें बँधवाया ॥ १ ॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञ-वल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयꣳ स्म इति तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २ ॥

भावार्थ—इस प्रकार सुवर्णयुक्त एक हजार गौओंको एकत्रित कर राजा बोला

कि माननीय पूज्य ब्राह्मणो, आप लोगोंमें से जो सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता हो वह इन गौओंको अपने घर ले जाय। इतना कहकर राजा जनक चुप हो गया। यह सुनकर उन ब्राह्मणोंमेंसे किसीको साहस न हुआ कि उन गौओंको अपने घर ले जाय। कारण कि 'मैं सबसे अधिक ब्रह्मवेत्ता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करनेका साहस किसीमें न था। ब्राह्मणोंको असमर्थ देखकर याज्ञवल्क्यने अपने प्रिय शिष्य सामश्रवासे कहा कि हे सोम्य, तू इन गौओंको मेरे घर ले जा। ऐसा सुनकर वह उन सब गौओंको लेकर याज्ञवल्क्यके घर चला। यह देखकर समस्त ब्राह्मण क्रुद्ध हो सहसा बोल उठे कि यह याज्ञवल्क्य हम लोगोंमें अपनेको सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता कैसे कह सकता है ? तब यजमान जनकका एक अश्वल नामक होता, जो ब्रह्मिष्ठ राजा के यहाँ रहनेसे निडर तथा प्रगल्भ हो गया था, उसने याज्ञवल्क्यसे पूछा कि याज्ञवल्क्य, क्या तू ही सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता है ? याज्ञवल्क्यने कहा—ब्रह्मिष्ठको हम नमस्कार करते हैं, इस समय तो हम गौओंकी इच्छावाले हैं। यह सुन अश्वलने उससे प्रश्न करनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्य महर्षिका शिष्य सामश्रवा सामवेद गान करनेमें बड़ा निपुण था, उसको सामश्रवा सम्बोधन करनेका कारण यही था कि यह शिष्य याज्ञवल्क्यजीसे सामवेदका श्रवण (अध्ययन) करता था। साम ऋग्वेदमें अध्यारूढ होकर गान किया जाता है, ऋषि स्वयं यजुर्वेदी हैं तथा अथर्ववेद इन वेदोंके ही अन्तर्भूत है। अतः इस कथनसे याज्ञवल्क्य चारों वेदोंके ज्ञाता सिद्ध होते हैं। ऐसे याज्ञवल्क्यके ऊपर जब अश्वलने क्रुद्ध होकर कहा कि क्या तू ही सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता है ? तब याज्ञवल्क्यने कहा—हे होता अश्वल, मैं अपनेको ऐसा नहीं समझता हूँ. मैं ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंका दास हूँ, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। मैंने अपनेको गौओंकी इच्छासे युक्त और आप लोगोंको गौओंकी कामनासे रहित पाकर गौओंको अपने घर ले जानेके लिए शिष्योंसे कहा है। पर यह बात अश्वलको न जँची, क्योंकि राजाके उक्त पणसे (बाजीसे) उनकी ब्रह्मिष्ठकी प्रतिज्ञा इतर लोगोंके मनमें क्षोभका कारण हुई। अतएव अश्वलने उनसे प्रश्न करनेका निश्चय कर लिया ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तꣳ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत

ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य जनकके यज्ञमें गोदान ले रहे हैं, अन्य ऋषि इसका विरोध कर रहे हैं

જ્ઞાનિયોમાં શ્રેષ્ઠ યાજ્ઞવલ્ક્ય જનકના યજ્ઞમાં ગોદાન લઈ રહ્યા છે, અન્ય ઋષિ તેનો વિરોધ કરી રહ્યા છે.

इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस प्रकार निश्चय कर अश्वलने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य, जो यह सब मृत्युसे ग्रस्त हैं तथा मृत्युसे ही वशीकृत हुए हैं, उस मृत्युकी व्याप्तिका यजमान किस साधनसे अतिक्रमण कर सकता है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—वह यजमान होता ऋत्विक्रूप अग्निद्वारा तथा वाणीद्वारा मृत्युव्याप्तिका अतिक्रमण कर सकता है। वाणी ही यज्ञका होता है, जो यह वाणी है, वही अग्नि है, वह होता है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—अश्वल के कहनेका भाव यह है कि यज्ञमें जो कुछ पदार्थ दिखाई देता है वह सब मृत्युसे ग्रसित है, ऐसी दशामें किस साधनके द्वारा यजमान मृत्युसे छुटकारा पा सकता है, अर्थात् अहोरात्ररूप पाशका उल्लङ्घन कर सकता है ? इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने यही समझाया कि होतानामक ऋत्विक्की सहायतासे यजमान मुक्त हो जाता है, वह होता अग्निरूप है। अग्निसे तात्पर्य वाक्यसे है अर्थात् जब होता शुद्ध वाणीसे उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरोंके साथ वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करता है तब देवगण प्रसन्न होकर यजमानको स्वर्गमें ले जाते हैं। अतः वाणी ही यज्ञका होता है वही अग्नि है और वही मुक्तिका साधन है, अतएव वही अतिमुक्ति कही जाती है ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुनः अश्वलने कहा—हे याज्ञवल्क्य, जो यह सब दिन तथा रात्रिसे व्याप्त हैं, वे सब दिन तथा रात्रिके वशमें हैं। तब किस साधनसे यजमान दिन रातके पाशका उल्लंघन कर सकता है ? इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि ऋत्विक् तथा नेत्ररूप सूर्यके द्वारा। अध्वर्यु यज्ञका नेत्र है। इसलिए जो यह नेत्र है, वह यह सूर्य है तथा वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रथम प्रश्नका समुचित उत्तर पानेसे अश्वल कुछ संतुष्ट हुआ, आगे उसने पुनः प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य, संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं सब दिन तथा रात्रिसे गृहीत हैं, ऐसी दशामें किस यत्न द्वारा यजमान दिन रात्रिके पाशको उल्लंघन करके मुक्त हो सकता है ? इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि अध्वर्युनामक ऋत्विक्की सहायतासे यजमान दिन रात्रिके पाशसे छुटकारा पा सकता है। अध्वर्युका तात्पर्य चक्षु और आदित्य है, जिस समय यजमान चक्षुके द्वारा अच्छी तरह सविधि यज्ञ करता है उस समय आदित्यदेव अपनी रश्मियों द्वारा उस यजमानको ब्रह्मलोकमें ले जाकर आवागमनसे मुक्त कर देते हैं। अतः यजमानका शुद्ध नेत्र ही अध्वर्यु है, वही मुक्तिका साधन है, इसीलिए वह अतिमुक्ति भी कहा जाता है ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद्ँ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तँ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुनः अश्वलने इस प्रकार कहा कि हे याज्ञवल्क्य, ये सब शुक्ल तथा कृष्णपक्षसे ग्रस्त हैं और सब शुक्ल तथा कृष्णपक्षसे वशीकृत हुए हैं, तब यजमान किस साधनके द्वारा शुक्ल तथा कृष्णपक्षके पाशको उल्लंघन करके मुक्त हो सकता है ? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि उद्गाता ऋत्विक् द्वारा तथा वायुरूप प्राणद्वारा मुक्त हो सकता है। उद्गाता यज्ञका प्राण है तथा जो यह प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—संसारमें समस्त पदार्थ शुक्ल तथा कृष्णपक्षोंसे व्याप्त हैं, ऐसी दशामें किस यत्नके द्वारा शुक्ल-कृष्णपक्षकी व्याप्तिसे यजमान मुक्त हो सकता है ? इस अश्वलके प्रश्नपर याज्ञवल्क्य महर्षिने समझाया कि उद्गाता नामक ऋत्विक्की सहायतासे यजमान दोनों पक्षोंकी व्याप्तिसे छूट जाता है, प्रकृतमें मनुष्यसंबन्धी उद्गातासे तात्पर्य नहीं है किन्तु घ्राणवायु तथा बाह्यवायुसे है। यह घ्राणवायु ही प्राणवायु है, यही उद्गाता है, यही बाह्यवायु है, यही प्राण है, प्राणको ही इन्द्रियाँ भी कहते हैं। प्रत्येक इन्द्रियको निर्मल करना ही परम साधन है, जब इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं तब इनकी सहायतासे यजमानका कल्याण होता है ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥ ६ ॥

भावार्थ—पुनः अश्वल होताने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य, जो यह आकाश है वह आलम्मनरहित सा दिखाई देता है, इसलिए यजमान किस आधारसे स्वर्गलोकको प्राप्त होता है ? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि ब्रह्मा ऋत्विक्के द्वारा तथा मनरूप चन्द्रमा द्वारा। ब्रह्मा यज्ञका मन है तथा जो यह मन है, वही यह चन्द्रमा है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। इस प्रकार जानकर यजमान अतिमोक्ष अर्थात् तापत्रयसे छूट जाता है। अब आगे पुरुषार्थनिमित्तक सम्पत्तियाँ कही जाती हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—यह आकाश निरालम्ब सा प्रतीत होता है, और स्वर्गलोक इससे आगे है, ऐसी अवस्थामें यजमान किसकी सहायतासे स्वर्गलोकको प्राप्त होता है ? इस प्रश्नके समाधानमें ऋषिने कहा कि ब्रह्मासे तात्पर्य मनरूपी चन्द्रमा से है, यजमानका कल्याण केवल शुद्ध मनके द्वारा ही हो सकता है, यही मन यज्ञका ब्रह्मा है। अतः जो यह मन है वही चन्द्रमा है, वही ब्रह्मा है, वह चन्द्रमा ही मुक्तिका साधन है। इसलिए शुद्ध मन ही यजमानको चन्द्रलोकमें पहुँचाकर उसको अत्यन्त सुखी बनाता है ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुनः अश्वलने कहा कि हे याज्ञवल्क्य, आज कितनी ऋचाओंसे होता इस यज्ञमें शंसन करेगा ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—तीन ऋचाओंसे। अश्वल—'वे तीन कौनसी हैं ?' याज्ञवल्क्य—'पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या।'

अश्वल—'इनसे यजमान किसको जीतता है ?' याज्ञवल्क्य—जितने इस जगत्‌में प्राण धारण करनेवाले हैं, उन सबको जीत लेता है ॥ ७ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—अश्वलने पुनः प्रश्न किया कि कितनी ऋचाओंके द्वारा आज यह होता प्रस्तुत यज्ञमें हवनादि कार्य करेगा ? उत्तरमें याज्ञवल्क्यने तीन ऋचा बतलाईं, पहली पुरोनुवाक्या है, दूसरी याज्या है, तीसरी शस्या है। अर्थात् जो ऋचा कार्यारम्भके पहले पढ़ी जाती हैं, वे पुरोनुवाक्या हैं, और जो ऋचा प्रत्येक विधिमें पढ़ी जाती हैं वे याज्या कही जाती हैं और जो अन्तमें स्तुतिके निमित्त बहुतसी ऋचा पढ़ी जाती हैं, वे शस्या कहलाती हैं। उन्हीं सब ऋचाओंको पढ़कर होता प्रस्तुत यज्ञ करता है। इसका यह फल है कि संसारमें जितने प्राणी हैं वे सब यजमानको उपलब्ध होते हैं ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुनः अश्वलने कहा कि हे याज्ञवल्क्य, आज यह अध्वर्यु इस यज्ञमें कितनी आहुतियोंसे होम करेगा ? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि तीन आहुतियोंसे होम करेगा। वे तीन कौन आहुतियाँ हैं ? इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्य महर्षि कहते हैं कि पहली आहुति वे हैं जो अग्निकुण्डमें डालनेपर ऊपरको प्रज्वलित होती हैं, जैसे समिध् और घृतकी आहुतियाँ। दूसरी वे हैं जो अग्निकुण्डमें डालनेपर अत्यन्त शब्द करती हैं, जैसे मांसादिकी आहुतियाँ। तीसरी वे हैं जो अग्निकुण्डमें डालनेपर नीचे पृथिवीपर जाकर लीन हो जाती हैं, जैसे दुग्ध और सोमकी आहुतियाँ। इसपर अश्वलने पूछा कि इस प्रकार सम्पन्न की हुई उन आहुतियोंसे यजमान किस वस्तुका जय करता है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि जो आहुतियाँ ऊपरको प्रज्वलित होती हैं उनके द्वारा यजमान देवलोकका जय करता है। क्योंकि

देवलोक प्रकाशवान् है, अतः देवलोककी प्राप्ति प्रज्वलित आहुतियोंके द्वारा कही गई है। जो आहुतियाँ अत्यन्त शब्द करती हैं, उनके द्वारा यजमान पितृलोकका जय करता है, क्योंकि पितृलोकमें पितरलोग सुखके कारण उन्मत्त होकर शब्द करते हैं। अतः पितृलोककी प्राप्ति शब्द करती हुई आहुतियोंके द्वारा कही गई है। जो आहुतियाँ नीचे पृथिवीपर जाकर लीन हो जाती हैं, उनके द्वारा यजमान मनुष्यलोकका जय करता है। क्योंकि मनुष्यलोक नीचे है, अतः इसकी प्राप्ति उन आहुतियोंके द्वारा कही गई है जो नीचेको जाती हैं ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

भावार्थ—पुनः अश्वलने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य, आज यह ब्रह्मा दक्षिणदिशामें बैठकर कितने देवताओंसे यज्ञकी रक्षा करता है? इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि एकके द्वारा। तब अश्वलने पूछा कि वह एक देवता कौन है? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि वह मन है। मन यद्यपि एक है किन्तु उसकी वृत्तियाँ अनन्त हैं, अतः मनःसम्बन्धसे विश्वेदेव भी अनन्त हैं। इस प्रकार मनके द्वारा यजमान अनन्त लोकोंको जीत लेता है ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकँ शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

भावार्थ—पुनः अश्वलने इस प्रकार पूछा कि हे याज्ञवल्क्य, आज यह उद्गाता इस यज्ञमें ऋग्वेद और सामवेदकी कितनी ऋचाओंसे स्तुति करेगा? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि तीन ऋचाओंसे। तब पुनः उसने पूछा कि वे तीन ऋचाएँ

कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि पुरोनुवाक्या पहली ऋचा है, दूसरी याज्या ऋचा है और तीसरी शस्या ऋचा है। पुनः उसने प्रश्न किया कि कौनसी वे ऋचा हैं, जो अध्यात्मविद्यासे सम्बन्ध रखती हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि प्राण ही पुरोनुवाक्या ऋचा है, अपान याज्या ऋचा है और व्यान शस्या ऋचा है। पुनः अश्वलने पूछा कि उन तीन ऋचाओंसे यजमान किसको जीतता है ? इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि पुरोनुवाक्या ऋचाके द्वारा यजमान पृथिवीलोकको जीतता है, याज्या ऋचाके द्वारा अन्तरिक्ष लोकको जीतता है और शस्या ऋचाके द्वारा स्वर्गलोकको जीतता है। इसके बाद होता अश्वल चुप हो गया ॥ १० ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस खण्डके सातवें मन्त्रमें जो यह कहा गया है कि यह जो प्राणिसमुदाय है, उसके ऊपर यजमान विजय प्राप्त करता है, वह किस समानतासे कहा है—यह बतलाते हैं। इस प्रकरण द्वारा यह बतलाया जाता है कि प्राण ही पुरोनुवाक्या है, क्योंकि 'प' शब्दमें इन दोनोंकी समानता है। अपान याज्या है, क्योंकि आनन्तर्यमें दोनोंकी समानता है। अर्थात् जैसे अपान प्राणके अनन्तर है वैसे ही याज्या ऋचाएँ पुरोनुवाक्या ऋचाओंके अनन्तर हैं। इसके सिवा देवगण दी हुई हविको अपानसे ही ग्रहण करते हैं, तथा प्रदान ही याग है, इसलिए अपान याज्या ऋचा है। व्यान शस्या है, जैसा कि 'प्राण अपान व्यापार न करता हुआ ऋचाओंका उच्चारण करता है" इस दूसरी श्रुतिसे कहा गया है। इन ऋचाओंसे वह जिन्हें जीतता है उनके बारेमें कुछ कहा जाता है—लोकोंमें पृथिवीलोक पहले है तथा ऋचाओंमें पुरोनुवाक्या ऋचाएँ पहले हैं। इस तरह 'प्रथमत्व' रूप सम्बन्धकी दोनोंमें समानता होनेसे पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकको ही जीतता है। मध्यमत्वमें समानता होनेसे याज्यासे अन्तरिक्षलोकपर जय प्राप्त करता है और ऊर्ध्वत्वमें समानता होनेसे स्वर्गलोक पर विजय प्राप्त करता है। तब उस अपने प्रश्नके निर्णयसे अश्वल यह समझकर कि यह याज्ञवल्क्य हमारे वशका नहीं है, शान्त हो गया। प्रमाणसे पदार्थका प्रतिपादन करनेके बाद उसकी उपकारक युक्तिकी अपेक्षा होती है। युक्ति स्वयं प्रमाण नहीं है, कारण कि व्यवस्थापक प्रमाण होता है। इसलिए आगमप्रधान मधुकाण्डका पहले तथा युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्डका उसके पश्चात् आरम्भ करना ठीक ही है। इस अध्यायमें नौ ब्राह्मण हैं, इन ब्राह्मणोंका क्रमशः अर्थ यह है कि पहले ब्राह्मणमें मृत्युका अतिक्रमण, दूसरेमें मृत्युका निर्णय, तीसरेमें संसारव्याप्ति तथा चौथेमें आत्माका निर्णय, पञ्चममें आत्मामें ब्रह्मस्वरूपता, छठेमें ब्रह्मकार्यवाद, सातवेंमें कारणकी व्यवस्था, आठवेंमें ब्रह्मतत्त्वका निरूपण और

नवममें संक्षेप तथा विस्तारसे देवताओंका निरूपण। इसके बाद सब अधिकारियोंके लिए सगुण और निर्गुण ब्रह्मनिरूपण किया गया है। यानी जो सगुण ब्रह्मोपासनाके अधिकारी हैं, उनके लिए सगुण ब्रह्मका निरूपण किया गया है और जो निर्गुण ब्रह्मोपासनाके अधिकारी हैं, उनके लिए निर्गुण ब्रह्मका निरूपण किया गया है।

दान, तत्त्वज्ञानियोंका संग तथा उनका संवाद—ये तीनों विद्याप्राप्तिके उपाय हैं, यह इस आख्यानसे सूचित होता है। सहिरण्य हजारों गोदान, जनकसभामें अनेक ब्रह्मज्ञानियोंका समागम और उनके साथ याज्ञवल्क्यका संवाद—ये सब विद्याप्राप्तिके उपाय हैं। इस आख्यायिका में इन सबकी सूचना स्पष्टरूपसे की गई है॥ १०॥
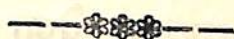
द्वितीय ब्राह्मण

पिछले ब्राह्मणमें कहा गया है कि याज्ञवल्क्य विद्याके प्रकर्षसे पूजाके भागी हुए, उनकी पूजाका कारण विद्या है। जिससे सब पूज्य होते हैं वह विद्या धन्य है, अतः उसकी प्राप्तिके लिए पूर्ण श्रम करना चाहिए। पहले कालरूप तथा कर्मरूप मृत्युसे अतिमुक्तिकी व्याख्या की गयी है। अब प्रश्न यह है कि मृत्यु क्या है? नैसर्गिक अनादिसिद्ध अज्ञानके द्वारा विषयादिमें आसङ्गास्पद तथा अध्यात्म और अधिभूत विषयोंसे परिच्छिन्न ग्रह, अतिग्रह लक्षणवाला मृत्यु है, उस मृत्युसे अतिमुक्त हुए पुरुषके अग्नि-आदित्यादि रूपोंका व्याख्यान उद्गीथप्रकरणमें किया गया है। अश्वलके प्रश्नमें उसीके अन्तर्वर्ती किसी विशेषका वर्णन है। यह विशेष ज्ञान-सहित कर्मोंका फल है। इस साध्य साधनरूप संसारसे मोक्ष पाना चाहिए, अतः यहाँ बन्धरूप मृत्युका स्वरूप कहते हैं, यथा—

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति॥१॥

भावार्थ—इसके अनन्तर याज्ञवल्क्यसे जारत्कारव आर्तभागने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य, कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं? याज्ञवल्क्यने कहा—आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं। पुनः आर्तभागने पूछा कि जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौनसे हैं॥ १॥

ये जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह बतलाये गये हैं, इनमें से नियमसे किन्हें ग्रहण करना चाहिए ? इसपर याज्ञवल्क्य घ्राणादि इन्द्रियोंका ग्रहत्व और गन्धादि विषयोंका अतिग्रहत्व आठ मन्त्रोंके द्वारा बतलाते हैं, यथा—

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनाऽतिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २ ॥ वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥ जिह्वा वै ग्रहः स रसेनाऽतिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥ ४ ॥ चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणाऽतिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥ श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनाऽतिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति ॥ ६ ॥ मनो वै ग्रहः स कामेनाऽतिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७ ॥ हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याᳬ हि कर्म करोति ॥ ८ ॥ त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनाऽतिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्राण ही ग्रह है, वह अपानरूप ग्रहसे गृहीत है, क्योंकि प्राणीमात्र अपानसे यानी घ्राणसे ही सूँघता है। वाणी ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रहसे गृहीत है, क्योंकि प्राणीमात्र वाणीसे ही नामोंका उच्चारण करता है। रसना ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रहसे गृहीत है, क्योंकि प्राणीमात्र रसनासे ही रसोंको विशेष रूपसे अनुभव करता है। नेत्र ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रहसे गृहीत है, क्योंकि प्राणीमात्र नेत्रसे ही रूपोंको देखता है। कर्ण ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रहसे गृहीत है, क्योंकि प्राणीमात्र कर्णसे ही शब्दोंको सुनता है। मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रहसे गृहीत है, क्योंकि प्राणीमात्र मनसे ही कामोंकी इच्छा करता है। हस्त ही ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं, क्योंकि प्राणीमात्र हस्तसे ही कर्म करता है। त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप ग्रहसे गृहीत है, क्योंकि प्राणीमात्र त्वचासे ही स्पर्शोंको जानता है। इस तरह ये आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—ग्रह और अतिग्रहका विवरण यह है कि आठ ग्रहोंमेंसे पहला ग्रह घ्राणेन्द्रिय है, इसका विषय सुगन्ध तथा दुर्गन्ध अतिग्रह हैं, अतः वह विषयरूप अतिग्रहसे गृहीत है । क्योंकि अपानवायुसे घ्राणेन्द्रिय अनेक प्रकारके गन्धोंको ग्रहण करता है । याज्ञवल्क्यके कहनेका तात्पर्य यह है कि आठ ग्रह यानी इन्द्रियाँ हैं, और आठ ही अतिग्रह हैं यानी विषय हैं । विषय इन्द्रियोंको अतिक्रमण कर लेते हैं, अतः इन्द्रियोंकी अपेक्षा विषय बलवान् होते हैं, इसीलिए विषयोंका नाम अतिग्रह है । इसी प्रकार वागिन्द्रिय ग्रह है, वह वागिन्द्रिय वाणी और नामरूप अतिग्रह से गृहीत है । क्योंकि जितने नाम हैं वे सब वाणीके प्रकाशक हैं, और वाणी वागिन्द्रियकी प्रकाशिका है । विना नामके वाणीकी सिद्धि नहीं हो सकती है, यह घट है, यह पट है, यह ब्रह्म है, यह संसार है, इन सबकी सिद्धि नामके द्वारा ही हो सकती है । यदि नाम न हो तो किसी पदार्थकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती, और यदि वाणी न हो तो वागिन्द्रियकी सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः वागिन्द्रियसे वाणी श्रेष्ठ है, वाणीसे नाम श्रेष्ठ है । वागिन्द्रियको ग्रह (बन्धक) इस कारण कहा है कि वह पुरुषोंको बाँधती है, क्योंकि जगत्में असत्य अधिक कहा जाता है, यदि वागिन्द्रियसे सत्य अधिक कहा जाय तो वही वागिन्द्रिय उस कहनेवालेकी मुक्तिका कारण हो सकती है । प्रकृतमें संसारके व्यवहारकी अधिकताके कारण वागिन्द्रियको ग्रह कहा है । शेष मन्त्रोंका अर्थ इसीके समान है । इस तरह ये त्वक् पर्यन्त आठ ग्रह हैं और स्पर्श पर्यन्त आठ अतिग्रह हैं ॥ २–९ ॥

ग्रह तथा अतिग्रहका प्रसङ्ग समाप्त हो जानेपर फिर आर्तभागने पूछा, यथा—

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्न-मप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

भावार्थ—हे याज्ञवल्क्य, यह जो कुछ है सब मृत्युका भक्ष्य है, सो वह देवता कौन है जिसका भक्ष्य मृत्यु है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि अग्नि ही मृत्यु है, वह जलका भक्ष्य है । इस प्रकारके ज्ञानसे पुनः मृत्युका पराजय होता है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—जरत्कारुके पुत्र आर्तभागने देखा कि याज्ञवल्क्यका उत्तर समुचित है, तब पुनः उसने इस प्रकार प्रश्न किया कि जो यह सब दृष्ट अदृष्ट अथवा मूर्त अमूर्त अथवा स्थूल सूक्ष्म दिखाई देता है, वह सब ग्रह और अतिग्रहरूप

मृत्युका खाद्य है, तब वह कौन सा देवता है जिसका खाद्य ग्रह और अतिग्रहरूप मृत्यु है ? इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि वह देवता अग्नि है, वह अग्नि जलका खाद्य है। जो मनुष्य इस विज्ञानको जानता है वह मृत्युपर विजय प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्यने जो इस प्रकार दृष्टान्त देकर मृत्युका मृत्यु बताया, उससे उनका तात्पर्य यह है कि जगत्‌में जितने पदार्थ हैं सब मृत्युसे ग्रसित हैं। जो मृत्युसे ग्रसित नहीं है उसका अन्वेषण करना समुचित है, वही आत्मज्ञानका साधन है, ऐसा आत्मज्ञान ईश्वरका साक्षात् कराता है और तभी पुरुष सब दुःखोंसे छुटकारा पाता है ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते॥११॥

भावार्थ—आर्तभागने पुनः कहा कि हे याज्ञवल्क्य, जिस समय यह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है, उस समय इसके प्राणोंका उत्क्रमण होता है या नहीं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि नहीं, वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं । ऐसा ज्ञानी पुरुष ऊपरको श्वास लेने लगता है। पुनः खरखराहटका शब्द करने लगता है, वायुसे धौंकनीके समान फूल जाता है यानी वायुको भीतर खींचता है और वायुसे पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—आर्तभागका प्रश्न था कि परमात्मदर्शनस्वरूप पर मृत्युसे मृत्युका भक्षण होनेपर जो मुक्त विद्वान् पुरुष है, वह जब मरता है तब वासनारूपसे उसके भीतर स्थित वाणी आदि ग्रह और नाम आदि अतिग्रहोंका ब्रह्मवेत्तासे उत्क्रमण होता है या नहीं ? याज्ञवल्क्यने इसका 'नहीं' कहकर उत्तर दिया कि वे यहीं परमात्माके साथ एकीभूत हो जाते हैं । विद्वान्‌के कार्य करण (शरीर इन्द्रिय) आदि स्वकारण परब्रह्मतत्त्वमें लीन हो जाते हैं। जिस प्रकार समुद्रमें तरङ्गें लीन हो जाती हैं इसी प्रकार 'इस सर्वद्रष्टाकी सोलह कलाएँ (एकादश इन्द्रियाँ और पाँच प्राण मिलकर सोलह) पुरुषको प्राप्त होकर अस्त हो जाती हैं। शंका—यदि प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, तो वह मरा हुआ कैसे कहा जाता है ? समाधान—वह निश्चेष्ट, कर चरण आदिके व्यापारसे शून्य हो जाता है, इसलिए मरता ही है। किन्तु प्राणोंका उत्क्रमणरूप जो मरण है, वह नहीं होता, क्योंकि बन्धका नाश होनेपर मुक्तका कहीं गमन नहीं होता। वह आत्मज्ञानी धौंकनीके समान शरीरको बाह्य वायुसे भरता है और इस प्रकार मरा हुआ निश्चेष्ट पड़ा रहता है। यद्यपि वस्तुतः

आत्मा मरता नहीं और शरीर अचेतन ही है, तो भी जिस प्राणादिके संयोगसे शरीरमें कर चरण आदिके व्यापार होते हैं, उस प्राणादिका त्याग करनेसे शरीर उस प्रकारके व्यापार से शून्य हो जाता है। इसलिए शरीरमें ही मुख्य मरणका व्यवहार है और उस शरीरके सम्बन्धसे आत्मामें मरणव्यवहार गौण है ॥ ११ ॥

मुक्त पुरुषके प्राण ब्रह्ममें लीन होते हैं या काम, कर्म आदि भी? यदि प्राण ही लीन होते हैं तो उनके प्रयोजक काम आदिके रहनेपर, पुनः प्राणोंका प्रसङ्ग प्राप्त होगा, इससे मुक्ति नहीं हो सकेगी। इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए अग्रिम प्रश्न होता है, यथा—

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥

भावार्थ—आर्तभागने पुनः याज्ञवल्क्यसे कहा—हे याज्ञवल्क्य, जिस कालमें यह पुरुष मृत्युको प्राप्त होता है, उस कालमें इसे कौन नहीं छोड़ता? इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि नाम नहीं छोड़ता, नाम अनन्त ही हैं, विश्वेदेव भी अनन्त ही हैं, इस आनन्त्यदर्शनके द्वारा वह अनन्त लोकोंके ऊपर विजय प्राप्त करता है ॥१२॥

वि० वि० भाष्य—आर्तभागके प्रश्नके समाधानमें ऋषिका आशय यह है कि मुक्त प्राणी श्रेष्ठ कर्मोंकी प्रसिद्धिसे अर्जित अपने नामको छोड़ जाता है। जिस प्रकार पाणिनि ऋषिकी बनाई हुई अष्टाध्यायीके पठन पाठनका प्रचार रहनेसे पाणिनिका नाम अभी तक चला आता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके मरनेके बाद उसका नाम बना रहता है। अतः नाम अनन्त हैं, लोक भी अनन्त हैं और उनके अभिमानी देवता भी अनन्त हैं, इसलिए वह विद्वान् जिसने अनेक शुभ कार्योंके द्वारा अनेक नाम अपने पीछे छोड़े हैं, उनके द्वारा अनेक देवताओंके अविनाशी लोकोंको वह प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

अब यह निश्चय करनेके लिए कि वह ग्रह अतिग्रहरूप बन्धन किसकी प्रेरणासे प्राप्त होते हैं, भगवती श्रुति कहती हैं, यथा—

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्नि वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं

पृथिवीᳪ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशᳪ सतुः कर्म हैव तत्प्रशशᳪ सतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥

भावार्थ—पुनः आर्तभागने इस प्रकार कहा—हे याज्ञवल्क्य, जब इस मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें लीन हो जाती है तथा प्राण वायुमें, नेत्र सूर्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें, शरीर पृथिवीमें, हृदयाकाश भूताकाशमें, लोम ओषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें तथा लोहित और वीर्य जलमें जा मिलते हैं, तब यह पुरुष किस आधार पर स्थित रहता है ? इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा—हे सोम्य आर्तभाग, तुम मेरी ओर अपना हाथ बढ़ाओ, तब हम तुम दोनों ही इस प्रश्नका उत्तर जानेंगे, यह प्रश्न जनसमुदायमें निश्चय होने योग्य नहीं है। तब उन दोनोंने एकान्त स्थानमें जाकर विचार किया। जो कुछ उन दोनोंने कहा वह कर्मको ही कहा और इसके बाद जो कुछ प्रशंसा की वह कर्मकी ही प्रशंसा की। वह यह कि मनुष्य पुण्यकर्मसे पुण्यवान् होता है तथा पापकर्मसे पापी होता है। यह सब सुनकर जारत्कारव आर्त-भाग चुप हो गया॥ १३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—आर्तभागने अति कठिन प्रश्न किये थे, किन्तु उनका समुचित उत्तर सुनकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसका अन्तिम प्रश्न यह था कि जिस कालमें इस सम्यक् ज्ञानहीन, हाथ आदि अवयवोंवाले मरे हुए पुरुषकी सभी इन्द्रियशक्तियाँ एवं सभी शरीरके भौतिक अंग उपांग अपने उत्पत्तिस्थान मूल-कारणोंमें विलीन हो जाते हैं, तब यह पुरुष कहाँ और किस आधारपर रहता है ? याज्ञवल्क्यने उससे कहा कि इस प्रश्नका उत्तर जनसमूहमें देना उचित नहीं है, चलो, इस प्रश्नके विषयमें जो कुछ विचारणीय है उसका हम तुम दोनों एकान्तमें विचार करेंगे। इस प्रश्नके उत्तरको इस सभामें कोई नहीं समझेगा, इसलिए सभाके बीचमें उसका कहना ठीक नहीं। फिर वे दोनों एकान्तमें जाकर विचार करने लगे, अन्तमें ऐसा निश्चय हुआ कि कर्म ही श्रेष्ठ है, कर्मके ही आश्रयपर पुरुषकी स्थिति

है। जब तक पुरुष कर्म करता रहेगा, तब तक वह बना रहेगा, उसकी मुक्ति नहीं होगी। पुण्यजनक कर्मसे प्राणी पुण्ययोनियुक्त होता है और उससे विपरीत पापजनक कर्मसे पापयोनियुक्त होता है। इस प्रकार प्रश्नोंका निर्णय हो जानेपर याज्ञवल्क्यको शास्त्रार्थके द्वारा स्वसिद्धान्तसे विचलित करना अशक्य समझकर जरत्कारुका पुत्र आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥
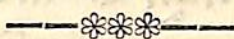
तृतीय ब्राह्मण
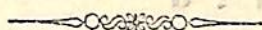
ग्रह अतिग्रहरूप बन्धनका वर्णन पहले किया गया। जिस बन्धनसे मुक्त हुआ पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है तथा जिससे बद्ध होनेपर संसारको प्राप्त होता है, वही मृत्यु है। उससे मुक्त होना संभव है, क्योंकि उस मृत्युका भी कोई मृत्यु है। जो मुक्त है उसका कहीं गमन नहीं होता, क्योंकि वह तो दीपनिर्वाणके समान सबका उच्छेद कर केवल नाम मात्र अवशिष्ट रह जाता है, इस प्रकार निश्चय किया जा चुका है। कर्मका क्षय हो जानेपर बाकी सबका उच्छेद होकर जो नाममात्र शेष रहता है उसे मोक्ष कहते हैं। वह कर्म पुण्य और पापसंज्ञावाला है, उसमें स्वभावतः ही दुःखकी अधिकता है, क्योंकि इसके बलसे ही नरक, तिर्यक्, पशु, मनुष्य, देव आदि स्थावर जंगम योनियोंमें पुनः पुनः जन्म तथा मरणको प्राप्त होता हुआ पुरुष सुख दुःख अनुभव करता है। किन्तु यहाँ श्रुति 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' इस वाक्यसे प्रतिपादित जो शास्त्रीय मार्ग है, उसीमें आदर करती है। पुण्यकर्म समस्त पुरुषार्थोंका साधक है—ऐसा समस्त श्रुति स्मृतियोंका सिद्धान्त भी देखा जाता है। इसलिए पुरुषार्थ होनेके कारण मोक्षका भी उस पुण्यकर्मसे साध्य होना प्राप्त होता है। जितनी जितनी पुण्यकी उत्कृष्टता होती है, उतनी उतनी ही फलकी उत्कृष्टता प्राप्त होती है। अतः ऐसी आशंका हो सकती है कि उत्तम पुण्योत्कर्षसे मोक्ष प्राप्त होगा, सो इसकी निवृत्ति करनी चाहिए। कोई भी ज्ञान सहित प्रकृष्ट कर्म हो उसकी तो इतनी (संसारमात्र) ही गति है, क्योंकि कर्म और उसके फलके आश्रय व्याकृत नाम रूप ही हैं। जो किसीका कार्य नहीं है, उस नित्य, अव्याकृतधर्मा, नामरूपरहित, क्रिया कारक फल स्वभावहीन मोक्षमें कर्मका कोई व्यापार नहीं हो सकता। जहाँ व्यापार है, वहाँ संसार ही है—इस बातको प्रदर्शित करनेके लिए ही यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है, यथा—

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति

होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षित अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद लाह्यायनि भुज्युने ऐसा प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य, मैं व्रताचरण करता हुआ और मद्र देशमें विचरता हुआ कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर पहुँचा। उसकी कन्या गन्धर्वसे गृहीत थी यानी उसको गन्धर्वकी बाधा थी। मैंने उस गन्धर्वसे पूछा—तू कौन है ? उसने ऐसा कहा कि मैं आङ्गिरस सुधन्वा हूँ । जब उस गन्धर्वसे लोकोंके अन्तको पूछा गया और उससे कहा कि परिक्षित वंशके लोग कहाँ थे ? परिक्षित वंशके लोग कहाँ गये ? तब उसने सब वृतान्त कहा । अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि हे याज्ञवल्क्य, परिक्षित वंशके लोग कहाँ गये॥ १॥

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्यने कहा कि उस गन्धर्वने निश्चय ही आपसे यह कहा था कि वे पारिक्षित वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेध यज्ञके करनेवाले जाते हैं। पुनः भुज्युने कहा कि अच्छा तो अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे

भुज्यु, सूर्यका रथ एक दिन रातमें जितने विस्तीर्ण देशमें जाता है उसका बत्तीसगुना यह लोक है. जहाँ वैराज शरीर है और जिसमें प्राणियोंके कर्मफलका उपभोग होता है। उसके ऊपर अन्तरिक्ष लोक है, उस लोकके चारों तरफ द्विगुण परिमाणवाला पृथिवीलोक है, उस पृथिवीके चारों तरफ द्विगुण परिमाणयुक्त समुद्र विद्यमान है। उन दोनों यानी अन्तरिक्ष तथा पृथिवीलोकके मध्यमें आकाश व्याप्त है, वह इतना सूक्ष्म है जितना छुरेका अग्रभाग और मक्खीका पंख होता है। ऐसे अति सूक्ष्म तथा दुर्विज्ञेय देशमें इन्द्र—परमात्माने पक्षीके आकारमें होकर उन पारिक्षितोंको वायु–अभिमानी देवताके सुपुर्द किया और उस वायुने उन्हें अपनेमें स्थापित कर अर्थात् अपने स्वरूपभूत कर वहाँ पहुँचा दिया जहाँ अश्वमेधकर्ता रहते थे । ऐसा उत्तर देकर याज्ञवल्क्य महर्षिने वायुकी प्रशंसा की, क्योंकि सारा ब्रह्माण्ड और उसके भीतर सारी सृष्टि, व्यष्टि और समष्टि वायुसे व्याप्त है। जो विद्वान् पुरुष वायुको इस प्रकार जानता है और उसकी उपासना करता है वह समष्टि व्यष्टि भावसे अपने स्वरूपभूत वायुको ही प्राप्त होता है। वह पुनः मृत्युको जीत लेता है अर्थात् एक बार मरकर फिर नहीं मरता, यानी अजर, अमर हो जाता है। तब अपने प्रश्नका निर्णय हो जानेसे लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—यज्ञोंमें सबसे बड़ा अश्वमेधयज्ञ है। क्षत्रिय सम्राट् ही इस यज्ञमें अधिकारी है, दूसरा नहीं। अन्य जातिके सम्राटोंका उसमें अधिकार नहीं है। उस यज्ञमें प्राणोपासनाका भी विधान है। उपासना और यज्ञ दोनोंको एक साथ करनेसे अधिक फल होता है। जो उक्त कर्मके अधिकारी नहीं हैं और उसके फलकी अभिलाषा करते हैं, उनके लिए केवल उपासना मात्रका विधान है। यह उपासना बड़ी है, इसलिए इसका नाम महोपासना है। इस महोपासनाका फल हिरण्यगर्भ-स्वरूप होना श्रुतियोंसे स्पष्ट है। यह फल भी संसार ही है । संसारका वास्तविक लक्षण जनन–मरणशीलत्व है। हिरण्यगर्भ भी 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' 'ब्रह्मणो वर्षशतमायुः' इत्यादि शास्त्रसे जनन–मरणशील है । अतः वह भी संसार ही है, नित्य नहीं है। यह समझकर याज्ञवल्क्यसे भुज्यु ऋषि संसृतिकी अवधि पूछता है। भुज्युको यह अभिमान था कि संसारकी अवधिका ज्ञान गन्धर्व द्वारा मुझे ही हुआ है, याज्ञवल्क्य इस विषयमें कोर हैं, अतः इस प्रश्नसे याज्ञवल्क्यका पराजय अवश्य होगा । इसलिए भुज्युने याज्ञवल्क्यसे अवधिविषयक प्रश्न किया । किंतु उनके उत्तरसे भुज्युको पूर्ण विश्वास हो गया और उसका यह अभिमान निवृत्त हो गया कि भुवन परिमाणका ज्ञान उक्त गन्धर्व द्वारा मुझको है, दूसरेको नहीं।

इस प्रकरणका भाव यह है कि जिस जन्मप्रयोजक कर्मराशिसे मुक्त होनेपर पुरुष मोक्ष पाता है और जिससे बद्ध होकर संसारी होता है, वही मृत्यु है। मुक्तकी गति कहीं नहीं होती। सबका नाश हो जाता है, पर वह केवल नाममात्र अवशिष्ट रहता है। जैसे कि दीपकके बुझनेपर आलोक आदि कुछ अवशिष्ट नहीं रहता, केवल नाममात्र शेष रह जाता है। इस विषयमें संसारियोंका और तत्त्वज्ञानियोंका शरीर, इन्द्रियादिके साथ संबन्ध समान है। केवल भेद इतना है कि तत्त्वज्ञानियोंको शरीर, इन्द्रिय आदिका कभी ग्रहण नहीं करना पड़ता और संसारियोंको पुनः पुनः शरीरेन्द्रियोंका ग्रहण करना पड़ता है। वही कर्म शरीर आदिके ग्रहणका प्रयोजक है, यह विचारपूर्वक निश्चित हुआ ।

जिस कर्मका क्षय होनेपर नाममात्र अवशेष रहता है और सर्वोत्साद मोक्ष होता है, वह कर्म दो प्रकारका है—एक पुण्य और दूसरा पाप। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादि वाक्यसे पुण्यसे पुण्य योनि और पापसे पाप योनि प्राप्त होती है, यह योनिभेदका भी निश्चय हो चुका। इन्हीं दोसे संसार बना है, इस विषयमें यह निश्चय हुआ कि प्राणी स्थावर जङ्गम आदि स्वभावतः दुःखमय तिर्यक् प्रेत आदि योनियोंमें पुनः पुनः उत्पन्न होकर मरता है। मोक्ष कर्मका व्यापार नहीं है, जहाँ तक व्यापार है, वहाँ तक संसार ही है। जो कोई यह कहते हैं कि विद्यासहित फलेच्छाशून्य कर्म अन्य कार्यका भी आरम्भक होता है, अर्थात् जैसे केवल विष और दही मृत्यु तथा ज्वरादिके कारण होते हैं किन्तु औषधविशेष और शर्कराके साथ सेवन किये जानेपर वे ही आरोग्यवर्धक हो जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि केवल कर्म बन्धनका कारण है, तथापि निष्काम और ज्ञानके सहित होनेपर वही मुक्तिका कारण हो जाता है। सो ठीक नहीं है, कारण कि मोक्ष साध्य (कार्य) नहीं है। वह यदि साध्य हो तो उसे ज्ञानसमुच्चित कर्मसे साध्य कह सकते हैं। वस्तुतः बन्धनाश ही मोक्ष है, कार्य नहीं। बन्धन वास्तवमें अविद्या है, यह कह चुके हैं। अविद्याका कर्मसे नाश नहीं हो सकता। कर्मकी शक्ति उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कार और विकार इन चार विषयोंमें ही देखी गई है, अन्यत्र नहीं। यानी उत्पादन करने, प्राप्ति करने, विकृत करने और संस्कृत करनेकी शक्ति कर्ममें देखी गई है, मोक्ष इन चारोंमें कोई भी नहीं हो सकता। अविद्यामात्र व्यवहित शुद्धात्मस्वरूप मोक्ष है। शंका—यदि आत्मस्वरूपमोक्ष नित्य है तो संसारदशामें क्यों नहीं प्रतीत होता? समाधान—वह अविद्यासे आच्छादित है, इसलिए आवरण निवृत्तिके अनन्तर प्रतीत होता है।

यहाँ तक यह निश्चित हुआ कि मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है, अतः ऊपर जो कर्मके विषयमें विष, दधिका दृष्टान्त दिया है सो ठीक नहीं। क्योंकि मन्त्र एवं शर्करादि युक्त विष, दधि आदि तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके विषय हैं, इसलिए उनके विषयमें वैसा कहनेमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु जो विषय सर्वथा शब्दसे ही जाना जा सकता है, उसके विषयमें उस अर्थका प्रतिपादन करनेवाला कोई वाक्य न होनेके कारण उसका विष एवं दधि आदिसे साधर्म्य कल्पित नहीं किया जा सकता। जो विषय प्रमाणान्तरसे विरुद्ध है, उसमें श्रुति प्रामाण्यकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसे कोई कहे कि अग्नि शीतल होता है और भिगो देता है, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध है। इसलिए यदि कोई ऐसा वाक्य हो तो वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः यह सिद्ध हुआ कि कर्मोंका फल मोक्ष नहीं है, इसलिए कर्मफलोंका संसारप्रदत्व प्रदर्शन इस ब्राह्मणमें स्पष्ट रूपसे किया गया है॥ १–२॥

चतुर्थ ब्राह्मण

अज्ञानके ध्वंसक ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ है। अज्ञान युक्त आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका आरोप कर ग्रह-अतिग्रहस्वरूप बन्धसे आत्मा बद्ध होता है, अतएव विविध शुभाशुभ योनिमें विविध दुःख आदिको भोगनेके लिए उत्पन्न होकर मरता है, वही बद्ध है। संसारीको ही कर्मफल प्राप्त होता है, यह सब पहले कह चुके। प्रमाताका जो साक्षी है और आत्मामें जो संसारको अध्यस्त मानता है, वही मुमुक्षु 'त्वं' पदार्थ ह, उसीका निरूपण करनेके लिए इस प्रसंगको आरम्भ करते हैं, यथा—

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः॥ १॥

भावार्थ—पुनः याज्ञवल्क्यसे उषस्त चाक्रायण ब्राह्मणने पूछा—कि हे याज्ञवल्क्य, जो साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है तथा जो सबके अभ्यन्तर हैं, उसका व्याख्यान मेरे प्रति कीजिए। यह सुनकर याज्ञवल्क्य महर्षिने उत्तर दिया कि हे उषस्त, तेरा हृदयगत आत्मा ही सब में बिराजमान है। इस उत्तरसे संतुष्ट न होकर उषस्तने पुनः पूछा कि हे याज्ञवल्क्य, वह कौनसा आत्मा सर्वान्तर है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे उषस्त, जो प्राणवायुसे चेष्टा करता है वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो अपानवायुसे अपानक्रिया करता है वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो व्यानवायुसे व्यानक्रिया करता है वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो उदानवायुसे उदानक्रिया करता है वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है। यह तेरा आत्मा सबके अभ्यन्तर स्थित है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—मुमुक्षुके यह कहनेपर कि पहला जो पिण्ड है, उसके भीतर इन्द्रियसंघातरूप लिङ्गदेह है, तीसरा वह है जिसके विषयमें संदेह है। इनमें तुम किसे मेरा सर्वान्तरात्मा बतलाना चाहते हो ? ऐसा प्रश्न करनेपर याज्ञवल्क्यने कहा कि जिसके द्वारा प्राण चेष्टायुक्त होता है, वह विज्ञानमय, कार्यकरणसंघातरूप तेरा आत्मा है। शेष वाक्यका अर्थ इसीके समान है। तात्पर्य यह है कि काष्ठ यन्त्रके समान देहेन्द्रियसंघातमें होनेवाली प्राणनआदि समस्त चेष्टाएँ जिसके द्वारा की जाती हैं वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जिस प्रकार किसी चेतन अधिष्ठाताकी प्रेरणाके बिना लकड़ीका यन्त्र हिल नहीं सकता, उसी प्रकार इस स्थूल शरीरकी प्राणनादि चेष्टा भी चेतन आत्माके विना नहीं हो सकतीं। इसलिए यह अपनेसे भिन्न विज्ञानमय आत्मासे अधिष्ठित होकर काष्ठयन्त्रके समान प्राणनादि चेष्टा करता है। अतः जो इससे चेष्टा कराता है, वह कार्यकरणसंघातसे विलक्षण तेरा सर्वान्तरात्मा है॥ १॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञा-

तारं विजानीया । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥ २ ॥

भावार्थ—चाक्रायण उषस्तने कहा—जैसे कोई कहे कि यह चलनेवाला बैल है, यह दौड़नेवाला अश्व है, वैसे ही तुम्हारा यह कथन है। इसलिए जो भी साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म तथा सर्वान्तर आत्मा है, उसे तुम स्पष्ट रूपसे बतलाओ। वह कौन सा सर्वान्तर आत्मा है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि तुम दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकते, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकते, मतिके मन्ताको मनन नहीं कर सकते, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकते। तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे अन्य नश्वर है। इसके बाद उषस्त शान्त हो गया ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यके प्रति उषस्तका आक्षेप यह था कि जैसे कोई प्रथम और ही प्रतिज्ञा कर पुनः विपरीत भाषण करे, यानी पहले ऐसी प्रतिज्ञा करके कि तुम्हें प्रत्यक्ष गौ और अश्व दिखलाऊँगा, पुनः चसना आदि देखकर कहे कि जो चलती है वह गौ है और जो दौड़ता है वह अश्व है, वैसे ही इस ब्रह्मका तुम प्राणनादि लिङ्गों द्वारा व्यपदेश कर रहे हो। इसलिए तुम गौओंकी तृष्णाके कारण ब्रह्मवेत्ता होनेका बहाना छोड़कर जो साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है तथा जो सर्वान्तर, आत्मा है, उसे स्पष्टतया बतलाओ। इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि मैंने पहले प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारा आत्मा ऐसे लक्षणोंवाला है, उस प्रतिज्ञाका मैं अनुसरण कर ही रहा हूँ, मैंने जैसा कहा है वह वैसा ही है। तुमने जो कहा कि उस आत्माको घटादिके समान हमारे नेत्रोंका विषय कर दो, वह असम्भव है। क्योंकि हे उषस्त, दर्शनशक्तिके द्रष्टाको तुम गौ अश्वादिके समान नहीं देख सकते, अर्थात् जिस शक्तिसे दर्शनशक्ति अपने सामनेके पदार्थोंको देखती है उस अपने पीछे स्थित हुई शक्तिको वह दर्शनशक्ति नहीं देख सकती है। इसी प्रकार जो श्रवणशक्तिका श्रोता है उसको तुम नहीं सुन सकते हो। अर्थात् जिस शक्तिसे श्रवणशक्ति बाह्य पदार्थोंके शब्दोंको सुनती है उस शक्तिको श्रवणशक्ति नहीं सुन सकती है। मनशक्तिके मन्ताका तुम मनन नहीं कर सकते हो, यानी जिस शक्तिके द्वारा मन मनन करता है उस शक्तिका मननशक्ति मनन नहीं कर सकती है। विज्ञानशक्तिके विज्ञाताको तुम नहीं जान सकते हो, अर्थात् उस शक्तिको विज्ञानशक्ति नहीं जान सकती है। जो दृष्टिका द्रष्टा है, श्रुतिका श्रोता है, मतिका मन्ता है, विज्ञप्तिका विज्ञाता है, वही तुम्हारा आत्मा है,

वही सबके अन्दर विराजमान है। इस आत्मविज्ञानसे भिन्न जो पदार्थ हैं, वे सब विनाशी हैं, यह सुनकर उषस्त चुप हो गया ॥ २ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

अब सकारण बन्धनसे मुक्त होनेके साधनरूप संन्यास सहित तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन करना है, इसलिए कहोलके प्रश्न रूपसे पञ्चम ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है, यथा—

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्यु-मत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद कुषीतकके पुत्र कहोलने प्रश्न करते हुए इस प्रकार सम्बोधन किया, हे याज्ञवल्क्य ! जो निश्चय ही साक्षात् और प्रत्यक्ष ब्रह्म है तथा जो आत्मा सबका आभ्यन्तर है उस आत्माको मेरे प्रति कहिये। याज्ञवल्क्यने कहा कि हे कहोल ! यही हृदयस्थ तेरा आत्मा सर्वान्तर्यामी है। पुनः कहोलने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! वह कौन सा आत्मा सर्वान्तर्यामी है ? याज्ञवल्क्यने कहा कि जो आत्मा क्षुधा पिपासा, शोक मोह जरा मृत्युका उल्लंघन करके विद्यमान है वही तेरा आत्मा

है। वही सबके अभ्यन्तरमें विराजमान है। निश्चय करके इसी आत्माको जानकर और पुत्रकी इच्छासे, वित्तकी इच्छासे तथा लोककी इच्छासे छुटकारा पाकर ब्राह्मण भिक्षाचर्याके साथ विचरते हैं। जो पुत्रकी इच्छा है, वही निश्चय करके वित्तकी इच्छा है, वही लोककी इच्छा है, ये दोनों निकृष्ट इच्छाएँ एक दूसरेके बाद अवश्य होती है। इसलिये ब्राह्मण पाण्डित्य (आत्मज्ञान) का पूर्णतया सम्पादन कर आत्मज्ञानरूप बलसे स्थित रहनेकी इच्छा करे। पुनः बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया प्राप्त कर वह मुनि होता है तथा अमौन (ज्ञान, विज्ञान) और मौन (मनन वृत्ति) का पूर्णतया सम्पादन करके ब्राह्मण कृतकृत्य होता है। वह ब्राह्मण जिस किसी साधनसे हो, उसीके द्वारा ऐसा ब्रह्मवेत्ता होता हैं। इस लिये और सब साधन दुःखरूप हैं, अर्थात् स्वप्न, माया और मरुमरीचिकाके जलके समान असार हैं, केवल आत्मा ही नित्यमुक्त है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य महर्षिसे उत्तर पानेके बाद कुशीतकका पुत्र कहोल चुप हो गया॥ १॥

वि० वि० भाष्य—जल से अतिरिक्त फेन, बुद्बुद् आदि, मृत्तिकासे अतिरिक्त घट, शराव आदि विकार नहीं हैं, किन्तु कार्यकरणसंघात अविद्यामय होने से तन्मात्र ही हैं। अविद्या की निवृत्ति विद्या से होती है, अतः पहिले अविद्या की प्रतीति होनेपर भी उसकी निवृत्तिके बाद कुछ भी नहीं रहता। जिस समय श्रुत्यनुसारी परमार्थ दृष्टिसे विचार करनेपर मृदादि विकार मृत्तिकासे अन्य नहीं है, यह निश्चय होता है, तब 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों से परमार्थतत्त्वका ज्ञान होता है। ब्रह्मस्वरूप स्वाभाविक अविद्यासे रज्जू, शुक्ति तथा गगनके समान अपने स्वरूपसे विद्यमान तथा किसी वस्तुस्वभावसे सर्वथा अस्पष्ट होने पर भी जिस समय नाम-रूपप्रयुक्त शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधियोंसे विवेक बुद्धि द्वारा निश्चित नहीं होता, प्रत्युत उसमें नाम, रूप आदि दृष्टि ही होती है, उस समय अन्यवस्तु के अस्तित्व का व्यवहार होता है। यह भेदकृत मिथ्या व्यवहार है, किसीकी दृष्टिमें ब्रह्मतत्त्वसे अतिरिक्त वस्तु है और किसीकी दृष्टिमें नहीं है। परमार्थवादी विद्वान् श्रुतिके अनुसार वस्तुतत्त्वका है या नहीं, तब यही निश्चय करते हैं कि अद्वितीय एक ब्रह्म सम्पूर्ण व्यवहारोंसे शून्य है। इस प्रकार अधिकारीके भेदसे दोनों व्यवहार होते हैं, इनमें कुछ विरोध नहीं है व्यवहारदृष्टिके आश्रयसे भेदका मिथ्याव्यवहार और तत्त्वदृष्टिसे अनात्मविषयक शास्त्रीय व्यवहार होता है, इस प्रकार उभयविध व्यवहार सिद्ध होता है। परमार्थ—निश्चयकी दशामें दूसरी वस्तुकी सत्ता नहीं मानी जाती, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि

श्रुतिके अनुसार अद्वितीय ब्रह्मही केवल है, दूसरा नहीं। संसारदशामें अज्ञानियोंको क्रिया 'कारक' फल आदिका जो व्यवहार होता है, वह नहीं है ऐसा नहीं कह सकते। ज्ञान और अज्ञानकी अपेक्षासे सब शास्त्रीय व्यवहार और लौकिक व्यवहार होता है। इस प्रकार प्रकृतमें किसी विरोधकी भी शङ्का नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें आत्मस्वरूपकी जिज्ञासाको शान्त करनेके लिए ही याज्ञवल्क्यने बतलाया है कि क्षुधा पिपासादिसे रहित आत्मा सर्वान्तर है। जिस प्रकार अविवेकियोंको आकाशके तलमें मलिनता प्रतीत होती है; किन्तु आकाश मलिनतासे रहित है, क्योंकि वास्तवमें मलका आकाशमें स्पर्शही नहीं है। उसीप्रकार मूढबुद्धियोंको आत्मा क्षुधा पिपासासे युक्त प्रतीयमान होता है; किन्तु उनसे आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वभावसेही उनसे असंसृष्ट है। इस अर्थको श्रुति भी दृढ़ करती है—'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इत्यादि। यह संसार उस आत्माको अपना तत्त्व मानकर अर्थात् 'मैं परब्रह्म हूँ' 'सदा संसार से मुक्त तथा नित्यतृप्त हूँ' ऐसा समझकर ब्राह्मण एषणात्रयसे पुत्रकी अभिलाषा, धनकी अभिलाषा और यशकी अभिलाषसे विमुख हो सन्यास ग्रहण करते हैं। ऐसा उत्तर पाकर कहोल चुप होगया ॥ १ ॥

—※※※—

षष्ठ ब्राह्मण

प्रथम 'ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है' तथा 'सर्वान्तरात्मा है' ऐसा कहा गया है। उस सर्वान्तरात्माके स्वरूपज्ञानके लिए शाकल्यब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है। पृथिवीसे लेकर आकाशपर्यन्त जो भूत हैं, वे सब अपने कारणमें बाह्यान्तर भावसे अवस्थित हैं. उनमें जो जो बाह्य हैं, परिज्ञानपूर्वक उनको हटाकर आत्मज्ञानके अभिलाषीको सर्वान्तर तथा संसारधर्मोंसे रहित आत्माका दर्शन कराना है। इस आशयसे 'अथ हैनम्' इत्यादि मन्त्र आरम्भ किया जाता है—

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद ँ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु

खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु-गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्र-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गा-र्गीति कस्मिन्नुखलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥

भावार्थ—अब वचक्नु की पुत्री गार्गीने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य, जो ये भूःआदि सब लोक वा पदार्थ जलमें ओत और प्रोत हैं, वह जल किसमें ओत प्रोत है ? यह मेरा प्रश्न है।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, यह सब जल अपने कारण वायुमें ओत प्रोत है।

गार्गी—वह वायु किसमें ओत प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, अन्तरिक्ष लोकमें।

गार्गी—वे अन्तरिक्षलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, गन्धर्वलोकमें।

गार्गी—वे गन्धर्वलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, आदित्यलोकमें।

गार्गी—वे आदित्यलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, चन्द्रलोकमें।

गार्गी—वे चन्द्रलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, नक्षत्रलोकमें।

गार्गी—वे नक्षत्रलोक किसमें ओत प्रोत हैं ।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, देवलोकमें ।

गार्गी—वे देवलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, इन्द्रलोकमें ।

गार्गी—वे इन्द्रलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, प्रजापतिलोकमें ।

गार्गी—वे प्रजापतिलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, ब्रह्मलोकमें ।

गार्गी—वे ब्रह्मलोक किसमें ओत प्रोत हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर न देकर याज्ञवल्क्य बोले कि हे गार्गि, इस प्रकार अति-प्रश्नोंको न पूछ, इस प्रकार प्रश्न करनेपर तेरा मस्तक गिर पड़ेगा । सुन, सब लोक लोकान्तरोंका एकमात्र आधार ब्रह्म किसीके आश्रित नहीं है, प्रत्युत उसीमें सब पदार्थ ओत प्रोत हैं । अतः हे गार्गि, मैं फिर कहता हूँ कि तू केवल शास्त्रसे जानने योग्य ब्रह्मको तर्क द्वारा जाननेकी इच्छा मत कर । यह सुन गार्गी चुप हो गयी ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—कहोलके बाद अब ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी गार्गी याज्ञवल्क्य महर्षिसे प्रश्न करनेको उद्यत हुई । यह देखा गया है कि जो कार्य परिमित तथा स्थूल है वह अपरिच्छिन्न सूक्ष्म कारणसे व्याप्त रहता है । इसलिए जिस प्रकार पृथिवी जलसे व्याप्त है, उसी प्रकार पूर्व पूर्व पदार्थका व्यापक उत्तर-उत्तर पदार्थ होना चाहिए । यही सर्वान्तर्व्यापी आत्मापर्यन्त प्रश्न हैं । यहाँपर पाँचों भूत परस्पर मिश्रित हैं और वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म, व्यापक तथा कारणरूपसे व्यवस्थित हैं । किन्तु परमात्मा के अतिरिक्त उससे उत्तर कोई वस्तु ही नहीं है । इसीलिए श्रुतिने ब्रह्मको सत्यका सत्य कहा है । लोग पाँच भूतोंको भी सत्य समझते हैं, किन्तु श्रुति उनको सत्य नहीं मानती, उनका भी सत्य आत्मा ही है । आत्मव्यतिरिक्त वस्तुमात्र अज्ञानकल्पित और असत्य है, परमार्थसत्य परमात्मा ही है । इसी प्रकार जल भी कार्य, स्थूल और परिच्छिन्न है, इसलिए उसको भी कहीं ओत प्रोत अवश्य होना चाहिए । इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रश्न समझने चाहिएँ । जल को कहा गया कि वह वायु में ओत प्रोत हैं । ओतप्रोत शब्दों का अर्थ यह है कि दीर्घ तन्तुओंमें पट 'ओत' कहा जाता है और तिर्यक् तन्तुओंमें 'प्रोत' कहा जाता है, अन्तर्व्याप्ति 'ओत' शब्दका अर्थ है, और बहिर्व्याप्ति 'प्रोत' शब्दका अर्थ है । गार्गीका सबसे अन्तिम प्रश्न आनुमानिक हुआ है, इसलिए ऋषिने कहा कि जिस ब्रह्मदेवता-

के विषयमें तुम प्रश्न करती हो वह अनतिप्रश्न्य है अर्थात् केवल अनुभवसे जाना जा सकता है, अतः उसके विषयमें प्रश्न इस प्रकारसे नहीं करना चाहिए। इस प्रकारके प्रश्नोत्तर अनुमेय विषयमें ही हो सकते हैं, उससे अतिरिक्तमें नहीं। उसके बाद वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी ॥ १ ॥

——❀❀❀——

सप्तम ब्राह्मण

ब्रह्म सबके अन्तर्गत है। उसके निर्णयके लिए अनुमानसे ज्ञातव्य समस्त कार्योंका निर्णय करके अब आगमसे ज्ञातव्य सूत्र तथा अन्तर्यामीके निर्णयके लिए सप्तम ब्राह्मणका आरम्भ है। जिन सूत्र तथा अन्तर्यामीको अनुमान द्वारा जाननेके लिए गार्गीने प्रश्न किया था और सिर गिरनेका भय दिखलाकर ऋषिने जिन्हें रोक दिया था, तर्क का त्याग कर उन्हीं विषयोंको आगम द्वारा जाननेके लिए उद्दालकने इस ब्राह्मणमें प्रश्न किया है। यथा—

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्याऽऽसीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेद-

वित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥ १ ॥

भावार्थ—गार्गीके चुप होनेपर अरुणके पुत्र उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे पूछा, वह बोला कि हे याज्ञवल्क्य, हम लोग कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर यज्ञशास्त्रको पढ़ते हुए मद्र देशमें रहते थे। उसकी स्त्री गन्धर्वगृहीत थी। हम लोगोंने उस गन्धर्व से पूछा कि तू कौन है? तब गन्धर्व बोला कि मैं कबन्ध नामक अथर्वाका पुत्र हूँ। इसके बाद उस गन्धर्वने कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल और उसके याज्ञिकोंसे पूछा कि हे काप्य, क्या तू उस सूत्र को जानता है जिससे यह लोक, परलोक और समस्त प्राणी ग्रथित हैं? तब उस काप्य पतञ्चलने कहा कि भगवन्, मैं उसे नहीं जानता। उसने फिर कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिकोंसे पूछा कि हे काप्य, क्या तू उस अन्तर्यामीको जानता है, जो इस लोक, परलोक तथा समस्त प्राणियोंको नियन्त्रित करता है? उस पतञ्चल काप्यने कहा कि हे पूज्य, मैं उसे नहीं जानता। उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे फिर कहा कि हे काप्य, जो कोई उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता है, वह लोकवेत्ता है, वह देववेत्ता है, वह वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है और वह सर्ववेत्ता है। इसके बाद जो कुछ गन्धर्वने उन लोगोंसे कहा, उसे मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य, यदि तुम उस सूत्रको तथा उस अन्तर्यामीको नहीं जानते हुए ब्राह्मणोंकी गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा। यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गौतम, मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ। तब गौतमने कहा—हे याज्ञवल्क्य, इस प्रकार तो कोई भी कह सकता है कि मैं जानता हूँ, यदि वास्तवमें तुम जानते हो तो जैसा हो वैसा कहो ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जब याज्ञवल्क्यको दुर्धर्ष और अजेय विद्वान् पाकर प्रश्न करनेसे गार्गी उपरत होगयी, तब उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न करना आरम्भ किया। देशमें एक समय मैं मद्रदेशमें कपि नामक गोत्रमें उत्पन्न हुए पतञ्चल नामक विद्वान्के घरमें यज्ञशास्त्रका अध्ययन करते हुए निवास करता था। पत-

ञ्चलकी भार्या गन्धर्वसे गृहीत थी, हम सबने गन्धर्वसे उसका परिचय पूछा, बात-चीतके बीच गन्धर्वने काप्यसे कई प्रश्न किये, जिनका वह नकारात्मक उत्तर ही देता गया। तब उस काप्य तथा यज्ञशास्त्रके अध्ययन करनेवाले हम लोगोंसे गन्धर्वने कहा कि जो कोई उस सूत्रको तथा उस अन्तर्यामीको भलिभाँति जानता है, वही ब्रह्मवित्। वही भूः, भुवः, स्वः लोकवित्, वही अग्नि, सूर्य आदि देववित्, वही ऋग्, यजुः, साम, अथर्व वेदवित्, वही भूतवित्, वही आत्मवित्, तथा वह सर्ववित् कहलाता है। इस प्रकार अन्तर्यामीके विज्ञानकी स्तुति होनेपर उसके ज्ञानकी प्राप्तिके लिये लुब्ध काप्य तथा हमलोग भी संमुख स्थित हुए। इसके बाद गन्धर्वने कहा कि जब आप लोग उस सूत्र तथा अन्तर्यामीको नहीं जानते हैं, तब अध्यापक वृत्ति किस प्रकार करते हैं? इसपर पतञ्चल और हम लोगोंने कहा—यदि आप उस सूत्रको और अन्तर्यामीको जानते हैं तो कृपया उसका उपदेश करें। यह सुन उस गन्धर्वने हम लोगोंको सूत्र और अन्तर्यामीके विषयमें उपदेश दिया। क्योंकि मैं उस गन्धर्वके द्वारा सूत्र और अन्तर्यामीका ज्ञान पा चुका हूँ, इसलिये यदि आप उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जानते हुए ब्रह्मवेत्ताओंके निमित्त आई हुई गौओंको उन ब्रह्मज्ञोंका निरादर करके ले जाते हैं तो आपका मस्तक अवश्य गिर जायेगा। उद्दालकके इस प्रकार कहने पर याज्ञवल्क्यजी सावधान होकर बोले कि मैं जानता हूँ,। गन्धर्वने जो कुछ कहा है यानी जिस अन्तर्यामीको गन्धर्वसे आपलोगोंने जाना है, उसको हम जानते हैं। इस प्रकार कहनेपर गौतम बोले कि प्राकृत मनुष्य उस अन्तर्यामीको कैसे जानेगा जिसको कि भाग्यवश हम लोगोंने गन्धर्वसे जाना है? 'हम जानते हैं' इस प्रकार आप आत्मश्लाघा कर रहे हैं। केवल गर्जनसे काम नहीं चलेगा यदि आप जानते हैं तो उस विषयको कहें॥ १॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतमसूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति॥ २॥

भावार्थ—उस याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गौतम ! निःसंदेह वह सूत्र वायु है, हे गौतम ! वायुरूप सूत्र करके ही यहलोक, परलोक और सब प्राण ग्रथित हैं। हे गौतम ! अतएव मृत पुरुषके शरीरको देखकर मनुष्य कहते हैं कि इसके अङ्ग ढीले हो गये हैं, क्योंकि हे गौतम ! वायुरूप सूत्र करके सब अङ्ग ग्रथित होते हैं। यह सुनकर गौतमने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह विज्ञान ऐसा ही है जैसा आप कहते हैं। अब आप अन्तर्यामीको कहें ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यजी बोले कि हे गौतम ! वायुही वह सूत्र है दूसरा नहीं। वह वायु आकाशके समान अतिसूक्ष्म पृथिवी आदिका धारयिता है। सत्रह प्रकारके लिङ्ग उसीके स्वरूप हैं, वही प्राणियोंके कर्म और वासनाका आश्रय है, वही भावी सृष्टिका कारण, नर्म और वासनाका आधार है। एवं उसीके समुद्र-की तरंगोंके समान उच्छ्वास मरुद्गण हैं। यही वायुका तत्व सूत्र कहा जाता है। हे गौतम ! वायुरूप सूत्र करके ही यहलोक, परलोक और सब पदार्थ ग्रथित हैं। लोकमें भी ऐसीही प्रसिद्धि है कि वायु सूत्र है। वायु रूप सूत्रसे सब वस्तुयें अपने-अपने स्थानमें स्थित हैं। हे गौतम ! मरे हुए पुरुषके शरीरको देखकर लोग ऐसा कहते हैं कि इसके सब अङ्ग ऐसे ढीले पड़गये हैं, जैसे सूतमें गुंथी हुई मणियाँ सूत्रके टूट जानेपर सब बिखर जाती हैं। वैसेही वायुरूपी सूत्रमें मणि आदिके समान सब अङ्ग गुँथे हैं। सूतके टूटनेपर जैसे मणियाँ अलग अलग हो जाती हैं, वैसेही वायुरूप सूत्रके अपगमसे सब अङ्गोंका पतन होना ठीक ही है। इसलिये हे गौतम ! वायुरूप सूत्रसे सब गुथे हुए हैं। यह सुनकर उद्दालकने कहा कि हाँ, ऐसा ही है, हे याज्ञवल्क्य ! आपने सूत्रका यथार्थ रूपसे प्रतिपादन किया यानी आपने जो उत्तर दिया है सो बहुतही ठीक है। एक प्रश्नका उत्तर तो हो गया। अब कृपा करके सूत्रान्तर्गत और सूत्रके नियन्ता अन्तर्यामी विषयक दूसरे प्रश्नका भी उत्तर दें ? ॥ २ ॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽ-न्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पृथिवीके भीतर पृथिवीमें रहनेवाला है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है। जिसका शरीर पृथिवी है, जो पृथिवीके भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरण धर्म रहित है ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥४॥

भावार्थ—जो जलके भीतर जलमें रहनेवाला है, जिसको जल नहीं जानता है, जिसका शरीर जल है। जो जलके भीतर रहकर जलको नियमन करता है। वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो अग्निके भीतर अग्निमें रहने वाला है, जिसको अग्नि नहीं जानता है। जिसका शरीर अग्नि है, जो अग्निके भीतर रहकर अग्निको नियमित करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो अन्तरिक्ष (आकाश) के भीतर अन्तरिक्षमें रहनेवाला है, जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता है। जिसका शरीर अन्तरिक्ष है। जो अन्तरिक्षके भीतर रहकर अन्तरिक्षका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ ६ ॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मन्तर्याम्यमृतः ॥७॥

भावार्थ—जो वायुके भीतर वायुमें रहनेवाला है, जिसको वायु नहीं जानता है, जिसका शरीर वायु है। जो वायुके भीतर रहकर वायुका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो द्युलोकके भीतर द्युलोकमें रहनेवाला है, जिसको द्युलोक नहीं

जानता, जिसका शरीर द्युलोक है। जो द्युलोकके भीतर रहकर द्युलोकका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरण रहित है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो आदित्यके भीतर आदित्यमें रहनेवाला है जिसको आदित्य नहीं जानता है जिसका शरीर आदित्य है, जो आदित्यके भीतर रहकर आदित्यका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥

भावार्थ—जो दिशाओंके भीतर दिशाओंमें रहनेवाला है, जिसको दिशायें नहीं जानती हैं, जिसका शरीर दिशायें हैं। जो दिशाओंके भीतर रहकर दिशाओंका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो-यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो चन्द्रमा तथा ताराओंके भीतर चन्द्रमा तथा ताराओं में रहने वाला है, जिसको चन्द्रमा तथा तारायें नहीं जानती हैं, जिसका शरीर चन्द्रमा तथा तारायें हैं। जो चन्द्रमा तथा दिशाओंके भीतर रहकर चन्द्रमा तथा दिशाओं-को नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो आकाशके भीतर आकाशमें रहनेवाला है, जिसको आकाश नहीं जानता है, जिसका शरीर आकाश है। जो आकाशके भीतर रहकर आकाश-का नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो अन्धकारके भीतर अन्धकारमें रहनेवाला है, जिसको अन्धकार नहीं जानता है, जिसका शरीर अन्धकार है, जो अन्धकारके भीतर रहकर अन्धकारका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो तेजके भीतर तेजमें रहनेवाला है, जिसको तेज नहीं जानता है, जिसका शरीर तेज है, जो तेजके भीतर रहकर तेजका नियमन करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ १४ ॥

दूसरे मंत्र से चौदहवें मंत्र तक का साथ—

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गौतम ! जो पृथिवीमें रहता हुआ वर्तमान है वही अन्तर्यामी है, इसपर गौतमने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! पृथिवी में तो सब पदार्थ रहते हैं, क्या सभी अन्तर्यामी हैं ? याज्ञवल्क्य महर्षिने उत्तर दिया कि हे गौतम ! ऐसा नहीं जो पृथिवीके अन्तर है, जो पृथिवीके बाहर है, जो पृथिवी के ऊपर है, जो पृथिवीके नीचे है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है, जो पृथिवीको जानते हैं, जिसका शरीर पृथिवी है' अर्थात् पृथिवी देवताका जो शरीर है, वही जिसका शरीर है, दूसरा शरीर अन्तर्यामीका नहीं है। यहाँ शरीर ग्रहण उपलक्षण है—इन्द्रियाँ भी वे ही हैं यानी पृथिवी देवताके जो कारण हैं वे ही अन्तर्यामी के हैं। पृथिवी देवताके स्वकर्म प्रयुक्त ही कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रियाँ) हैं। पृथिवी देवताके देह और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति-निवृत्ति साक्षिमात्र ईश्वरके सानिध्यसे

नियमानुसार हुआ करती है। जो ऐसा नारायण संज्ञक पृथिवीके बाहर भीतर रहकर पृथिवीको उसके व्यापारमें नियुक्त करता है तथा जो विनाश रहित है, निर्विकार है और जो तुम्हारा, हमारा समस्त प्राणियोंका आत्मा हैं, हे गौतम? वही अन्तर्यामी है।

तीसरे मन्त्रसे चौदह मन्त्रों तकके भावार्थमें जो यह अर्थ किया गया है कि "जो पृथिवीके भीतर पृथिवीमें रहनेवाला है" इसका क्या अभिप्राय है ? कहते हैं "जो पृथिवीमें स्थिर होकर पृथिवीका अन्तरात्मा है" यह अर्थ जानना इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंमें भी—"जो जलके भीतर जलमें रहनेवाला है" 'जो अग्निके भीतर अग्निमें रहनेवाला है' ऐसा समझलेना। यहाँ 'अन्तर' शब्दका अर्थ 'अन्तरात्मा' है

यदि इन प्रकृत मन्त्रोंका हमारे कथनानुसार अर्थ कर लिया जाय तो स्पष्ट बोध हो जायगा, जैसे—(तीसरे मन्त्रका अर्थ)

जो पृथिवीमें रहता हुआ भी पृथिवीसे अन्तर अर्थात् बाहर विद्यमान है, जिस को पृथिवी नहीं जानती है। जिसका शरीर पृथिवी है। जो आभ्यन्तर और बाहिर स्थित होकर पृथिवीको शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है वही अन्तर्यामी है।

अर्थात् जो पृथिवीके भीतर ही नहीं, किन्तु पृथिवीके ऊपर यानी चारों तरफ है। जिसके विषयमें पृथिवी यह नहीं जानती कि मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है। जिसकी महिमा पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, तारों आकाश, तम और तेज आदिकों से बढ़कर है। वही अन्तर्यामी है।

शेष मन्त्रोंका व्याख्यान इसीके समान है। इस प्रकार यह अन्तर्यामी विषयक अधिदैवत दर्शन है ॥ १४ ॥

इसके आगे आदीभूत दर्शन कहते हैं—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

भावार्थ—सब भूतोंके भीतर सब भूतोंमें रहनेवाला है, जिसको सब भूत नहीं जानते हैं, सब भूत जिसके शरीर हैं और जो सब भूतोंके भीतर रहकर सब भूतोंको नियमित करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है। यह अधिभूत दर्शन है, अब अध्यात्म दर्शन कहा जाता है ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो प्राणके भीतर प्राणमें रहनेवाला है, जिसको प्राण नहीं जानता है, प्राण जिसका शरीर है और जो प्राणके भीतर रहकर प्राणका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ १६ ॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाच मन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १७ ॥

भावार्थ—जो वाणीके भीतर वाणीमें रहनेवाला है, जिसको वाणी नहीं जानती है, वाणी जिसका शरीर है और जो वाणीके भीतर रहकर वाणीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधम रहित है ॥ १७ ॥

यश्चक्षुंषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो नेत्रके भीतर नेत्रमें रहनेवाला है, जिसको नेत्र नहीं जानता है, नेत्र जिसका शरीर है और जो नेत्रके भीतर रहकर नेत्रको नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ १८ ॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो श्रोत्रके भीतर श्रोत्रमें रहनेवाला है, जिसको श्रोत्र नहीं जानता है, श्रोत्र जिसका शरीर है और श्रोत्रके भीतर रहकर श्रोत्रको नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ १९ ॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य

मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ २० ॥

भावार्थ—जो मनके भीतर मनमें रहनेवाला है, जिसको मन नहीं जानता है, मन जिसका शरीर है और जो मनके भीतर रहकर मनका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरण धर्म रहित है ॥ २० ॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्यष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २१ ॥

वि० वि० भाष्य—जो त्वक्के भीतर त्वक्में रहनेवाला है, जिसको त्वक् नही जानती जिसका शरीर है और जो त्वक्के भीतर रहकर त्वक्को नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणघर्म रहित है ॥ २१ ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥

भावार्थ—जो विज्ञानके भीतर विज्ञानमें रहनेवाला है, जिसको विज्ञान नहीं जानता है, विज्ञान जिसका शरीर है और जो विज्ञानके भीतर रहकर विज्ञानका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है ॥ २२ ॥

यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यꣳ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो वीर्यके भीतर वीर्यमें रहनेवाला है, जिसको वीर्य नहीं जानता है, वीर्य जिसका शरीर है और जो वीर्यके भीतर रहकर वीर्यका नियमन करता है,

वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा मरणधर्म रहित है। वह दिखाई न देनेवाला किन्तु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला, किन्तु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला, किन्तु मनन करनेवाला है और अविज्ञात होता हुआ विज्ञाता है। इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है, इससे अन्य कोई श्रोता नहीं है, इससे अन्य कोई मन्ता नहीं है तथा इससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं है। यही तुम्हारा अविनाशी आत्मा अन्तर्यामी है। इससे अन्य सब विनाशी हैं इसके बाद अरुण का पुत्र उद्दालक चुप हो गया ॥ २३ ॥

पन्द्रहवें मंत्रसे तेईसवें मंत्रका एक साथ—

वि० वि० भाष्य—'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' इस पन्द्रहवें मंत्र से अधिभूत दर्शन कहा गया है, अब इसके आगे शेष मंत्रोंसे अध्यात्म दर्शन कहा जाता है—जो प्राणवायु सहित घ्राणेन्द्रियमें, वाणीमें, नेत्रमें, श्रोत्रमें, मनमें, त्वचामें बुद्धिमें तथा वीर्य–प्रजननेन्द्रियमें रहनेवाला है; किन्तु पृथिव्यादिके अधिष्ठातृ देव बड़े प्रभावशाली होने पर भी मनुष्यादिके सदृश अपने भीतर रहनेवाले अपने नियामक अन्तर्यामीको नहीं जानते, क्योंकि वह किसीकी नेत्रदृष्टिका विषयी भूत नहीं है, किन्तु स्वयं नेत्रमें सन्निहित होने के कारण दर्शन स्वरूप है, इसलिए द्रष्टा है। इसी तरह वह किसीके भी श्रोत्रकी विषयताको अप्राप्त है, किन्तु स्वयं जिसकी श्रवणशक्ति लुप्त नहीं होती–ऐसा है। और समस्त श्रोत्रोंमें सन्निहित होनेके कारण श्रोता है। इसी प्रकार वह मनके संकल्पोंकी विषयताको अप्राप्त है, क्योंकि सबलोग देखे–सुने पदार्थोंका ही संकल्प करते हैं, इसीलिए अदृष्ट तथा अश्रुत होनेके कारण ही वह अमृत है और मनन शक्ति लुप्त न होने से तथा समस्त मनों में सन्निहित होनेके कारण वह मन्ता है। इसीप्रकार रूपादि अथवा सुखादिके सदृश निश्चयकी विषयता को अप्राप्त है, किन्तु स्वयं जिसकी विज्ञानशक्ति लुप्त नहीं है—एवं बुद्धिमें सन्निहित होनेके कारणविज्ञाता है। यहाँ जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, इत्यादि कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि जिनका नियमन किया जाता है, वे विज्ञाता भिन्न हैं और उनका नियमन करनेवाला अन्तर्यामी उनसे भिन्न है। उनके भिन्नत्वकी शंकाको दूर करनेके लिए यह कहा जाता है कि इस अन्तर्यामी से अतिरिक्त कोई श्रोता, मन्ता विज्ञाता नहीं है। जो दिखाई न देनेवाला किन्तु देखने-वाला है। सुनायी न देनेवाला किन्तु सुननेवाला है। मननका अविषय किन्तु मनन करनेवाला है, स्वयं अविज्ञात किन्तु सबका विज्ञाता है तथा समस्त संसार धर्मोंसे

शून्य एवं सम्पूर्ण संसारियोंके कर्म फलोंका विभाग करनेवाला है। वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इस ईश्वर आत्मासे अतिरिक्त और सब विनाशी हैं। तब यह सुन अरुणका पुत्र उद्दालक चुप हो गया ॥ १५—२३ ॥

—❀❀❀—

अष्टम ब्राह्मण

पूर्व ब्राह्मणमें जिस सूत्र और अन्तर्यामीका निरूपण किया गया है, वह सोपाधिक होनेसे हेयपक्षमें ही है, इसलिए उसके ज्ञानसे पुरुषार्थका लाभ नहीं हो सकता, पुरुषार्थ लाभ तो क्षुधादि रहित निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्मज्ञानसे ही होगा, अतः उसके निरुपणके लिए अष्टम ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है—

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

भावार्थ—पुनः वाचक्नवीने कहा कि हे माननीय पूज्य विद्वद्गण ! अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछूँगी। यदि याज्ञवल्क्य मेरे उन दो प्रश्नोका उत्तर अच्छी तरहसे दे देंगे, तो आप लोगोंमेंसे कोई भी विद्वान् ब्रह्मज्ञान विषयक वादमें उनको जीत नहीं सकेगा। इस प्रकार कहनेपर ब्राह्मणोंने अनुमति देते हुए कहा कि हे गार्गि ! पूछ ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पहिले याज्ञवल्क्यने पुनः प्रश्नके विषयमें शिरपतनका भय दिखलाकर गार्गीको विरत किया था, इसीलिए अरुणपुत्र उद्दालकके चुप होने पर पूर्वोक्त भयसे मौन हुई वचक्नुकी कन्या वह प्रसिद्धा गार्गी बोली कि हे परमपूज्य ब्रह्मवेत्ताओं ! यदि आप लोगोंकी आज्ञा हो तो मैं इस याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न पूछूँ ? यदि ये उन मेरे दोनों प्रश्नोंका समुचित उत्तर दे देंगे तो मुझे निश्चय हो जायेगा कि आप लोगोंमेंसे कोईभी ब्रह्मवादी ब्रह्मवादके विषयमें किसी प्रकार इनका विजेता न होगा, ऐसा कहनेपर सब ब्राह्मण प्रसन्न होकर बोले कि हे गार्गि ! तू अपनी इच्छानुसार याज्ञवल्क्यसे प्रश्न अवश्य कर, तात्पर्य यह है कि—इसी अध्यायके षष्ठ
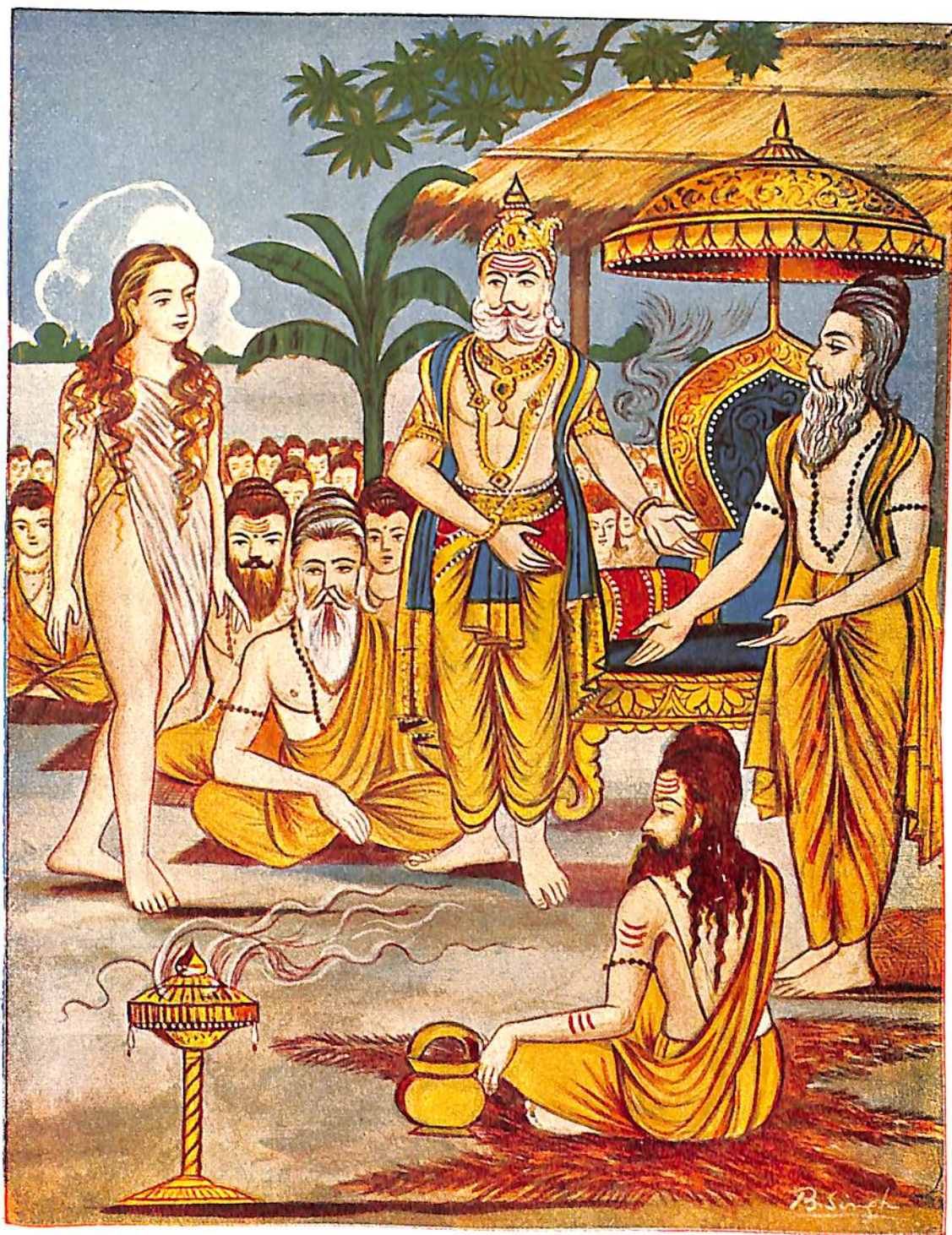
जनकसभामें याज्ञवल्क्यके साथ शास्त्रार्थके लिए गार्गीका आगमन।

જનકસભામાં યાજ્ઞવલ્કયની સાંમે શાસ્ત્રાર્થ માટે ગાર્ગીનું આગમન.

ब्राह्मणमें गार्गीका ही प्रश्न है, वहाँ वह चुपहो गई थी। यदि ऐसा है तो फिर वह क्यों प्रश्न करनेके लिए उद्यत होती है ?। इसका उत्तर यह है कि वहाँ याज्ञवल्क्यके कोपके भयसे (तेरा सिर गिर जायगा इस कथनके भयसे) यद्यपि गार्गीने प्रश्न करना छोड़ दिया था। यह तो हुआ था, पर उसे सन्तोष नहीं हो सका था। अब उसने पुनः प्रश्न करनेका अवसर देखा। पर बात यह है कि सभामें जब कि उसे एक बार प्रश्न करने का अवसर दे दिया गया है तो फिर मौका कैसे दिया जासकेगा ?। इसी बातको मनमें सोचकर वह ब्राह्मणोंसे जो उस समय सभामें उपस्थित थे तथा विद्वानोंसे अनुमति लेती है ॥ १ ॥

विद्वान् ब्राह्मण उसे अनुमति देते हैं कि तूँ पूछ सकती है।

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह बोली, हेयाज्ञवल्क्य ! जैसे काशी या विदेहवासी कोई वीर-वंशोत्पन्न ज्यारहित धनुष पर डोरी यानी रस्सी चढ़ाकर रिपुओंको अत्यन्त पीड़ा देनेमें समर्थ तीक्ष्णाग्र बाणोंको हाथमें लेकर उपस्थित हो। वैसेही मैं आपके सामने दो प्रश्नों को लेकर उपस्थित हूँ, आप उन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये। इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गार्गि ! पूछ ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर याज्ञवल्क्यके प्रति वह गार्गी बोली, मैं आपसे दो प्रश्न करूँगी, वे दोनों प्रश्न दुस्तर हैं, यह सूचन करनेके लिये दृष्टान्त पूर्वक दोनों प्रश्नोंको कहती है—हेयाज्ञवल्क्य ! जैसे काशी या विदेहके शूरवंशी राजा प्रत्यञ्चा हीन धनुष पर डोरी चढ़ा करके शत्रुके हननके लिये उपस्थित हों, वैसे ही मैं शरस्थानापन्न उन दोनों प्रश्नोंके साथ आपके सामने आपके पराजयके निमित्त उपस्थित हुई हूँ। यदि आप ब्रह्मवेत्ता हों तो उन मेरे प्रश्नोंका उत्तर दीजिये, ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गार्गी ! तुम प्रश्नतापूर्वक उन प्रश्नोंको मुझसे पूँछ ॥ २ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या

यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-च्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस गार्गीने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोकके ऊपर है, जो भूलोकके नीचे है तथा जो द्युलोक और भूलोकके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक तथा पृथिवी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य—ऐसा कहते हैं, वे किसमें ओत प्रोत हैं ? ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—गार्गी बोली कि हे भगवन्! जलमें सुवर्णका अण्डा था जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उस अण्डेके लोक और उसके परितः स्थित लोक उसके लिए द्युलोक है। अनन्त पृथिवी हैं, अनन्त सूर्य हैं, अनन्त चन्द्र हैं, अनन्त नक्षत्र-राशि हैं, अनन्त अन्य लोक लोकान्तर हैं, जिनको हम देख नहीं सकते। सबही निराधार हैं तो परस्पर टकराकर क्यों नहीं विनष्ट हो जाते ? । अथवा क्यों नहीं कहीं इधर-उधर चले जाते ? क्यों नहीं यह पृथिवी नीचेको धस जाती ? या ऊपरको चढ़ अथवा उड़जाती ? क्यों नहीं सूर्य या चन्द्र वा ग्रह पृथिवी पर गिर पड़ते ? । इसीप्रकार पृथिवी ही सूर्य आदिकों में क्यों नहीं उड़कर जा चिपकती ? परन्तु ये सब पदार्थ स्व-स्व स्थानको परित्याग करके कहीं नहीं जाते हैं, अणुमात्र भी स्वकीय निर्दिष्ट स्थानको नहीं छोड़ते। इन सबको कौनसी शक्तिने बाँध रखा है ? यह मैं नहीं जानती, यह प्रश्न याज्ञवल्क्यसे पूछ देखे, वे क्या उत्तर देते हैं ? इस प्रकार विचार कर और महान् आश्चर्य देख विमोहित हो याज्ञवल्क्य की आज्ञा पा गार्गी प्रश्न पूछनेके लिए उद्यत्त होती है।

प्रश्नका भाव यह है कि ये सब किस आधार पर ठहरे हुए हैं ? जैसे स्तम्भके ऊपर गृह, सूत्रके आधारपर माला, तथा जलके आधारपर मत्स्य तरते हैं और वायुके आधारपर जैसे पक्षी उड़ते हैं वैसे ये किसके आधारपर हैं, ॥ ३ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गी दिवो यदवाक् पृथिव्या यद-न्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याच-क्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गार्गी! जो द्युलोकके ऊपर, पृथिवी-लोकके नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके बीचमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक

और पृथिवी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य ऐसा कहते हैं, सब आकाशमें ओत प्रोत हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यने गार्गीके ऊत्तरमें कहा कि—जो यह नामरूपादि व्याकृत सूत्रात्मक जगत् है वह अव्याकृत आकाशमें ओत-प्रोत है, यानी गुथा हुआ है, अर्थात् आकाशके आश्रित है। ब्रह्मकी शक्तिकी तरह जो आकाश स्वतः स्थित है उसी आकाशीय शक्तिके ऊपर सब स्थिर हैं। हे गार्गि। यह आपका प्रथम प्रश्नका उत्तर हो गया ॥ ४ ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह बोली; हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, जिन आपने मुझे इस प्रश्नका उत्तर देदिया। अब आप दूसरे प्रश्नके लिये अपनेको तैयार करें। याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गी ! पूछ ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्य महर्षिके समिचीन उत्तरको सुनकर गार्गी अत्यन्त प्रसन्न हुई और विनय पूर्वक बोली [प्रश्न दुर्वच है—इस आशयसे गार्गीने याज्ञवल्क्य जीको नमस्कार किया] आपने मेरे दुर्वच प्रश्नका जो यथार्थ उत्तर देदिया [इस प्रश्नके दुर्वचत्वमें कारण यह है कि जब सूत्रही पहिले आगमैकगम्य होनेसे दूसरोंके लिये दुर्वाच्य है तब सूत्र जिसमें ओत प्रोत है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या ?] इसके लिए आपको नमस्कार है, अब द्वितीय प्रश्नके उत्तर देने के लिए आप अपनेको दृढ़ता पूर्वक तैयार करें। इस वचनको सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गार्गी ! तुम अपने दूसरे प्रश्नको भी पूछ, मैं उत्तर देनेके लिए तैयार हूँ ॥ ५ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिँस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ६ ॥

भावार्थ—गार्गी बोली हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोकके ऊपर है, जो भूलोकके नीचे है तथा जो द्युलोक और भूलोकके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक तथा पृथिवी हैं, और जिन्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य ऐसा कहते हैं, वे किसमें ओत प्रोत हैं ? ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—तीसरा तथा छठवाँ मंत्र समान है, अतः इसकी व्याख्या तीसरे मन्त्रके ही समान है। पूर्वोक्त अर्थका ही निश्चय करनेके लिए पुनः कहा गया है ॥ ६ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतंच भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ७ ॥

भावार्थ—उस याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि ! जो द्युलोकके ऊपर, पृथिवी लोकके नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके बीचमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान एवं-भविष्य ऐसा कहते हैं, वे सब आकाशमें ही ओत प्रोत हैं। पुनः गार्गिने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! आकाश किसमें ओत-प्रोत हैं ? ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यने गार्गीके पूर्वोक्त वाक्यको सुनकर 'आकाश में ही ओत-प्रोत है' इस प्रकार कहकर प्रथम कही हुई बातकी ही पुष्टि की है। फिर भी गार्गिने पूछा कि आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? गार्गि इस प्रश्नका उत्तर अत्यन्त कठिन समझती है, क्योंकि सूक्ष्म होनेसे प्रथम सूत्र ही दुर्वच है। आकास सूत्रसे भी सूक्ष्मतर है और आकाशका आश्रय इससे भी सूक्ष्मतम है। बृहस्पति भी इसको नहीं कह सकते, तब साधारण विद्वान्‌की तो बात ही क्या ? वह अवाच्य है, उसे कोई अनुभव नहीं कर सकता, और यदि याज्ञवल्क्यने इस अवाच्य विषयका भी वर्णन किया तो (विपरीत अनुभवरूप) निग्रह स्थान होगा, क्योंकि अवाच्यको कहना विरुद्ध प्रतिपत्ति ही है ॥ ७ ॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनंतरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गार्गि ! वह यह अविनाशी है, जिसमें आकाश ओत-प्रोत है, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा हैं, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न परिमाण है, उसमें न अन्तर है, न बाहर है, न वह कुछ खाता है और न कोई पदार्थ उसको खाता है। हे गार्गि ! इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं ॥ ८॥

वि० वि० भाष्य—उस याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गार्गि ! जिसके विषयमें तूने पूछा था कि यह आकाश किसमें ओत-प्रोत हैं ? वह अक्षर है जो कभी क्षीण नहीं होता, इस प्रकार तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं अर्थात् विद्वान् एवं पदार्थको सामान्यतः जानकर ही एषणात्रयसे रहित होकर संन्यासका ग्रहण करते हैं। संन्यासी होकर श्रवण, मनन आदि द्वारा तत् पदार्थ अक्षर स्वरूप स्वात्माका अनुभव करते हैं। गार्गीने अपने मनमें ऐसा सोचकर यह प्रश्न किया था कि याज्ञवल्क्य यदि इस प्रश्नका उत्तर देंगे, तो अवाच्यके कथनसे विप्रतिपत्ति नामक निग्रह स्थानसे निगृहीत हो जायँगे। यदि उत्तर न देंगे तो वादित्वकी हानि हो जायगी अथवा अप्रतिपत्ति नामक निग्रह स्थान हो जायगा, किन्तु याज्ञवल्क्य तो कथानिपुण थे, इस लिये प्रश्नका उत्तर भी दिया और निग्रहके पासमें भी न फँसे, क्योंकि उक्त प्रश्नका विषय शास्त्रैकसमधिगम्य है, इस तात्पर्यसे याज्ञवल्क्यने (वदन्ति) पदका प्रयोग किया अर्थात् तत्त्व ज्ञानी लोग कहते हैं-मैं नहीं कहता हूँ, इसलिये अवाच्य वचनका अपराध मुझको नहीं लग सकता। जब वह अवाच्य ही है तब तत्त्व ज्ञानियोंने कैसे कहा ? यदि कहा तो वह अवाच्य स्वभाव नहीं रहा। ठीक है, प्रश्न विषय वस्तुतः अवाच्य स्वभाव ही है, अतएव साक्षात् पदोंसे उक्त अर्थका अभिधान उन लोगोंने भी नहीं किया, किन्तु स्थूलादिकोंके निषेध द्वारा अक्षरको प्रकाशित किया है—जैसे वह स्थूल भिन्न है, तो क्या अणु है ? नहीं, अणुसे भी भिन्न है। अच्छा, तो दीर्घ होगा ? नहीं दीर्घसे भी भिन्न है, तो क्या ह्रस्व है ? नहीं, ह्रस्वसे भी भिन्न है, इस प्रकार चारों प्रकारके परिमाणोंका प्रतिषेध करनेसे द्रव्य धर्मोंका प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है, इससे वह द्रव्य नहीं है। अच्छा, तो उसमें लाल गुण होगा ? नहीं, वह लोहित भी नहीं है, लोहित गुण अग्निका है, अतः वह अग्नि भी नहीं है। जल गुण स्नेह है, उससे भी भिन्न है, छायासे भिन्न है, तमसे भी भिन्न है। वायु स्वरूप भी नहीं है, किंतु अवायु है, आकाशसे भिन्न है, असङ्ग अर्थात् असङ्गात्मक

नहीं है, रससे भिन्न अरस है, गन्धसे भिन्न अगन्ध है' चक्षुष्मान्से भिन्न तथा श्रोत्र-वान्से भिन्न है, जैसा कि (पश्यत्यचक्षुः) इत्यादि मन्त्र वर्णसे प्रमाणित होता है। वाग् भी नहीं है-अवाग् है एवं अमना है, अतेजस्क है अर्थात् जैसे अग्नि आदिमें तेज है, उसके द्वारा अग्निका प्रकाश होता है वैसे तेज अक्षरमें नहीं है, वह स्वयं प्रकाश है। अप्राण ऐसा कहकर शरीरान्तर्गत वायुका प्रतिषेध किया जाता है, इसलिए अप्राण है। तो फिर यह मुख अर्थात् द्वार है ? नहीं वह मुख है, वह अमात्र है, जिससे माप किया जाय उसे मात्र कहते हैं, अर्थात् नापतोल करनेवाला, वह अमात्र अर्थात् मात्रा रूप नहीं है, कारण कि अक्षरसे किसी वस्तुका परिच्छेद नहीं हो सकता, कोई इसके भीतर नहीं है, सबके भीतर यही है, इसके भीतर दूसरा नहीं है। अबाह्य है, कुछ खाता नहीं। अच्छा तो स्वयं किसीका भक्ष्य होगा ? नहीं, उसका भक्षक भी कोई नहीं है, वह सब विशेषणोंसे रहित है, अतएव वह अद्वितीय अक्षर है ॥ ८ ॥

अनेक विशेषणोंके प्रतिषेध रूप प्रयाससे अक्षरका अस्तित्व श्रुति द्वारा ज्ञात हुआ, फिर भी लोक बुद्धिकी अपेक्षासे उसके अस्तित्वमें शङ्का होती है, अतः उसके अस्तित्वकी सिद्धिके लिए भगवती श्रुती अनुमान प्रमाणका उपन्यास करती है, यथा—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा-पृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्यो-ऽन्या यां यांच दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽ-न्वायत्ताः ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे गार्गी ! इसी अक्षरकी आज्ञामें सूर्य तथा चन्द्रमा नियमित होकर स्थित हैं, इसी अक्षरकी आज्ञामें हे गार्गि ! स्वर्ग और पृथिवी नियमितरूपसे स्थित हैं, इसी अक्षरकी आज्ञामें हे गार्गि ! निमेष, मुहूर्त, दिनरात, अर्धमास, ऋतु और

संवत्सरादि नियमित हुए इसतरह स्थित हैं, हे गार्गि ! इसी अक्षरकी आज्ञामें कुछ नदियाँ श्वेतपानी बरफवाले पहाड़ोंसे निकलकर पूर्वदिशाको बहती हैं तथा दूसरी कुछ नदियाँ—पश्चिमदिशाको बहती हैं अर्थात् जो जो नदियाँ जिस जिस दिशाको जाती हैं, उस उस दिशाको नहीं छोड़ती हैं, हे गार्गि ! निःसन्देह इसी अक्षरकी आज्ञामें मनुष्य दान देनेवालोंकी प्रशंसा करते हैं और देवगण यजमानके अनुगामी होते हैं तथा पितृगण दर्वी होमके अधीन होते हैं ॥ ९ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह अक्षर सर्वान्तर है, जिसके विषयमें भगवती श्रुतिने कहा है कि 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' तथा आत्मा अशनापिपासाऽदिसे रहित है। इसी अक्षरके शासनमें सूर्य तथा चन्द्रमा स्थित हैं जैसे राजाके शासनमें अनुगत राज्य नियमितरूपसे स्थित रहता है एवं हे गार्गि ! इस अक्षरके शासनमें दिन और रात्रिके लिए संसारका उपकार होगा, इनका निर्माण किया है। जैसे साधारण समस्त प्राणियोंको प्रकाश हो, इस उद्देश्यसे राजमार्गमें राजाकी तरफसे प्रदीप जलाये जाते हैं। वैसेही ईश्वरने समस्त लोकके प्रकाशके लिए आकाशमें इन दोनोंको प्रज्वलित किया है। सूर्यका इतने समय तक प्रकाश रहे और चन्द्रमाका प्रकाश इतने समय तक रहे तथा उन दोनोंके प्रकाश देशमें भी नियत उदय और अस्तकालका भी नियम है ही चन्द्रमाकी कलावृद्धि और कलाक्षय भी नियत ही हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रदीप कर्ता एवं धारयिताके समान इनका भी प्रदीप कर्ता एवं धारयिता अक्षर संज्ञक अवश्य है। यही एक लिङ्ग नहीं है और भी हेतु हैं। जैसे—हे गार्गि ! यद्यपि स्वर्ग और पृथिवी सावयव हैं, इसलिए फूटनेके योग्य हैं तो भी फूटते नहीं, गुरु होनेसे गिरने के योग्य हैं फिर भी गिरते नहीं, संयुक्त होनेसे वियुक्त स्वभाव हैं फिर भी निरन्तर संयुक्त ही रहते हैं, चेतनावान् अभिमानी देवसे अधिष्ठित अतएव स्वतंत्र हैं, तो भी इस अक्षरके शासनके परतंत्र हैं सर्वथा स्वतंत्र नहीं हैं। यह अक्षर सब व्यवस्थाओंका सेतु है, समस्त मर्यादाओंका धारयिता है; इस अक्षरके शासनका अतिक्रमण स्वर्ग या पृथिवी नहीं कर सकती, इससे इस अक्षरका अस्तित्व सिद्ध होता है। स्वर्गलोक और पृथिवी इससे नियमित होकर स्थित हैं—यह इसकी सत्ताका अव्यभिचारी लिङ्ग है, क्योंकि किसी चेतनावान् असंसारी शासकके विना ऐसा होना असंभव है, जैसा कि "जिसके द्वारा द्युलोक उग्र और पृथिवी दृढ़ की गई है" इत्यादि मंत्रवर्णसे सिद्ध होता है। हे गार्गि ! इसी अक्षरके शासनमें कालके अवयव निमेष, मुहूर्तादि सम्पूर्ण अतीत अनागत तथा वर्त्तमान पदार्थोंकी गणना करनेवाले हैं, जैसे राजनियुक्त आयव्ययको लिखनेवाला सावधानीसे आयव्ययकी गणना करता है

वैसेही राजस्थानापन्न यह अक्षर इन कालावयवोंका नियन्ता है। तथा पूर्व दिशामें बहनेवाली गङ्गा आदि नदियाँ—जैसे श्वेत पर्वत हिमालयसे निकलकर पूर्वकी ओर समुद्रमें जा मिलती है, जो गङ्गासागरके नामसे पुकारा जाता है—हमेशासे वैसीही बहती हैं, जैसी अक्षरकी आज्ञा है। आज्ञा भङ्गके भयसे अन्य दिशामें बहनेकी इच्छा होनेपर भी नहीं बह सकतीं, अर्थात् भगवती भागीरथी चेतन देवता है, अतएव स्वक्रियामें स्वतंत्र एवं समर्थ है फिरभी न जानेके कारण उसकी आज्ञाभङ्गभयके सिवाय दूसरा कारण नहीं है, ऐसी ही व्यवस्था पश्चिमवाहिनी सिन्धु, नर्मदा इत्यादि नदियोंकी भी है, यह अक्षरकी सत्तामें अव्यभिचारीलिङ्ग है। किञ्च जो दाता स्वयं दुःख सहकर अपनेसे उपार्जित सुवर्णादिका दान करता है, विद्वज्जन उसकी प्रशंसा करते हैं। प्रकृतमें विचारणीय यह है कि जो दिया जाता है, जो देता है तथा जो ग्रहीता है, उनका यहाँ ही समागम और विश्लेष प्रत्यक्ष सिद्ध है, देशान्तर, कालान्तर तथा अवस्थान्तरमें समागम अदृष्ट है तो भी विद्वान् लोग दाताका दानफलके साथ संबन्ध जानकर दाता की प्रशंसा करते हैं कि बहुत अच्छा काम किया, इनको बहुत आनन्द होगा, यह प्रशंसा कर्मफल संयोजयिता और किस कर्मका क्या फल होना चाहिये, यह विवेकी शासिताके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि दानक्रिया तो प्रत्यक्षसे ही विनाशी है, इसलिए दाताका फलके साथ संयोग करानेवाला कोई अवश्य है। इन्द्रादि देवगण यद्यपि स्वयं जीवन निर्वाहके लिए समर्थ है तो भी पशु, चरु, पुरोडाशादि द्वारा स्वजीवनार्थ यजमानके अधीन होते हैं, कौन पुरुष ऐसा होगा, जो स्वतंत्रतासे निर्वाह योग्य होनेपर स्वापेक्ष या अधर्मकी अपेक्षा करेगा। उनकी दीनवृत्ति परमात्माकी आज्ञासे ही होती है एवं पितरलोग उक्तानुशासन वंशही दर्वी होमके आश्रित होते हैं। जो किसीकी प्रकृति तथा विकृति नहीं है, वह दर्वीहोम कहा जाता है ॥ ९ ॥

अक्षरकी सत्तामें फिरभी भगवती श्रुति प्रमाण बतलाती है जैसे—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माऽल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

भावार्थ—हे गार्गी! जो कोई इस अक्षरको न जानकर होम या यज्ञ करता है,

पूजा करता है और अनेक सहस्रों वर्ष तक तप करता है, उनका वह सब कर्म नष्ट अवश्य होता है। हे गार्गी! इस अक्षरको न जानकर इस लोकसे मरकर जाता है वह दीन होता है तथा जो हे गार्गी! इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण यानी ब्रह्मके तुल्य होजाता है॥ १०॥

वि० वि० भाष्य—जो पुरुष इस अक्षरको न जानकर चाहें हजारों वर्षों तक इस लोकमें हवन करे, याग करे, पूजा करे, जप करे, पर उसका फल अन्तवान् ही होता है अर्थात् स्वर्गादिही हो सकता है, मोक्ष नहीं। 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इत्यादि श्रुतिसे तथा अनुमानादिसे भी कर्म-साध्य फल अन्तवान् ही माना जाता है। मोक्ष तो नित्यसिद्ध है; इसलिए कर्म-साध्य नहीं। और जिसके ज्ञानसे दीनताका नाश होता है और संसारका विच्छेद होता है। तथा जिसके ज्ञानके विना कर्मकृत पुरुष दीन होता है, जो कर्म किया गया है उसी का फल भोगता है और जनन मरणरूप चक्रपर आरूढ़ होकर संसारी होता है, वह अक्षर प्रशासिता अवश्य है। हे गार्गि! जो पुरुष इस अक्षरको न जानकर इस लोकसे परलोकको जाता है वह पैसोंसे खरीदे हुए भृत्यके समान दीन है और हे गार्गी! जो इस अक्षरको जानकर मरता है वह ब्रह्मके समान होता है॥ १०॥

सांख्यवादीका कथन है कि जैसे अग्निसे प्रकाशक धर्म स्वाभाविक है वैसे यह अचेतन ही स्वाभाविक शासन करनेवाला है, अतः ईश्वरत्वके निरास द्वारा उपाधि शून्य ब्रह्मकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? इसपर याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोत्रमतं मन्त्र-विज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रे तस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥ ११॥

भावार्थ—हे गार्गी! वही यह अक्षर अदृष्ट होते हुए भी द्रष्टा है, अश्रुत होते भी श्रोता है, अमन्ता होते हुए भी मन्ता है और स्वयं अविज्ञात होते हुए भी सबका विज्ञाता है। इससे पृथक् और कोई दूसरा द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न और कोई दूसरा श्रोता नहीं है, इससे भिन्न और कोई दूसरा मन्ता नहीं है, और इससे भिन्न और कोई दूसरा विज्ञाता नहीं है। हे गार्गी! निःसंदेह इस अक्षरमें ही आकाश ओत प्रोत है॥ ११॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे गार्गी! इस अक्षरको किसीने नेत्रसे नहीं देखा है, क्योंकि वह किसीकी दृष्टिका विषय नहीं है; किन्तु स्वयं दृष्टि स्वरूप है यानी वह स्वयं सबको देखनेवाला है तथा किसीके श्रोत्रका विषय नहीं है, स्वयं श्रोत्र स्वरूप है, एवं मनका विषय न होनेसे अमृत है, स्वयं मति स्वरूप होनेसे मन्ता है, विज्ञानका विषय न होने से अमृत है; किन्तु विज्ञान स्वरूप होनेसे सबका विज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है और इस अक्षरसे अन्य कोई दर्शन क्रियाका कर्ता नहीं है, यही सब जगह दर्शन क्रियाका कर्ता है तथा श्रोता भी कोई दूसरा नहीं सर्वत्र स्वयं श्रोता है एवं मन्ता तथा विज्ञाता भी कोई दूसरा नहीं है, किन्तु स्वयं सर्वत्र मन्ता तथा विज्ञाता है। अचेतन प्रधान या और कोई द्रष्टा आदि नहीं है, इसी अक्षरमें हे गार्गी! आकाश ओत प्रोत है, यही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो अशनायादि समस्त संसार धर्मोंसे अतीत है, जिससे आकाश ओत प्रोत है, वही पराकाष्ठा परागति है, वही परब्रह्म है तथा पृथिवीसे लेकर आकाश पर्यन्त सत्यका सत्त वही है॥ ११॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम॥ १२॥

भावार्थ—वह गार्गी बोली कि पूज्य ब्राह्मणों! आप लोग इसीको अधिक समझें कि इस याज्ञवल्क्यसे नमस्कार करके आप लोग छुटकारा पा जायें, इसमें बिलकुल संदेह नहीं कि आप लोगोंमें से कोई भी कभी इस ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्यको जीत नहीं सकेगा, इस तरह कहकर पुनः वचक्नु कन्या गार्गी चुप हो गई॥ १२॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पूज्य ब्राह्मणोंका सम्बोधन कर गार्गी बोली कि हे माननीय विद्वद्गण! आप लोग इसीको बहुत समझें कि याज्ञवल्क्यको प्रणाम कर उनकी आज्ञा पाकर अनुचिताचरणसे मुक्त हो जायँ। इन पर विजय पानेका तो मनोरथ भी नहीं करना चाहिये, फिर कार्यतः इन पर विजय पाना तो दूर रहा, क्योंकि आप लोगोंमें कोई भी विद्वान् ऐसा नहीं है, जो याज्ञवल्क्यका ब्रह्मज्ञानके विषयमें पराजय कर सके। 'मेरे इन दोनों प्रश्नोंका यदि ये उत्तर देंगे तो इन्हें कोई नहीं जीत सकता' यह पहिले ही मैं कह चुकी हूँ। उत्तर सुननेसे इस समय मेरा यही दृढ़ निश्चय हुआ है, कि ब्रह्मज्ञानमें इनके समान दूसरा कोई नहीं है, यह कहकर वचक्नुकी पुत्री गार्गी चुप हो गई॥ १२॥

—❀❀❀—

नवम ब्राह्मण

अब 'विदग्ध' नामा ऋत्विक् प्रश्न करता है, यथा—

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

भावार्थ—गार्गीके प्रश्नोंका निर्णय होनेके बाद विदग्ध नामक शकलके पुत्रने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! कितने देवता है ? इस पर याज्ञवल्क्यने इस आगे कही जानेवाली 'निविद्' से ही उनकी संख्याका प्रतिपादन किया। (मंत्र रूप वाणीसे देवताओंकी संख्या जिसके द्वारा कही जाती है, वह मंत्र पदात्मक वाक्य 'निविद्' कहाजाता है। अर्थात्—बहुतसे मन्त्र ऐसे हैं जिनके एक-एक पदसे काम चल सकता है, इस अवस्थामें सम्पूर्ण मन्त्र कहने की आवश्यकता नहीं होती। इस हेतु यज्ञादि अनुष्ठानके समय बोलनेके लिए मन्त्रोंसे चुन चुन करके बहुतसे पद एकत्र किये हुए हैं वा अब भी हो सकते हैं, उन्हीं पदोंका नाम 'निब्बद्' या 'निविदा' है। जितने वैश्वदेवकी निविद्में यानी देवताओं की संख्या बतानेवाले मंत्रपदोंमें बतलाये गये हैं, वे तीन और तीन सौ और तीन हजार (तीन हजार तीन सौ छ) (३३०६) हैं। शाकल्यने ठीक कहा है। इस तरह इनकी मध्यमा संख्या ज्ञात हुई। पुनः उन देवताओं की संकुचित संख्या पूछते हैं—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञ-

वल्क्यने कहा तेत्तीस। शाकल्यने कहा ठीक है। फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इससे भी कम संख्यामें कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्यने कहा—छ। शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इससे कम संख्यामें कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्यने कहा—तीन शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्यने कहा—दो। शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्यने कहा अध्यर्ध (डेढ़)। शाकल्यने कहा—ठीक है। फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्यने कहा—एक। शाकल्यने कहा—ठीक है। इस तरह देवताओंके संकोच तथा विकाश विषयक संख्या पूछकर फिर संख्येय स्वरूपको पूछता है—वे तीन हजार तीन सौ छः (३३०६) देव कौनसे हैं ? ॥ १ ॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ २ ॥

भावार्थ—इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा—ये ३३०६ देवगण इन तैंतिस देवताओंकी महिमा—विभूति ही हैं। परमार्थतः तैतीस ही देवगण हैं। शाकल्यने पुनः याज्ञवल्क्यसे पूछा कि वे तैंतोस कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, ये इकतीस हुए, बत्तीसवाँ इन्द्र और तैंतीसवाँ प्रजापति है ॥ २ ॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳ सर्वꣳ हितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

भावार्थ—इसपर शाकल्यने पूछा कि वसु, कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा तथा नक्षत्र ये सब वसु हैं। इन्हींमें सब स्थित हैं, अतएव ये वसु हैं अर्थात् प्राणियोंके कर्मफलके आश्रय होकर उनके निवासस्थान देहेन्द्रिय संघात रूपसे विपरिणामको प्राप्त होकर इस समस्त जगत्को वसाये हुए हैं तथा स्वयं भी बसते हैं, [यह उनका

वसुत्व है]। वे क्योंकि [दूसरोंको अपनेमें] बसाये हुए हैं, इसीलिए ये वसु हैं ॥ ३ ॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्तो यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्य रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुनः शाकल्य ने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! रुद्र कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इस पुरुषमें पञ्चकर्मेन्द्रिय, (वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ) पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, (श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण और त्वक्) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन)। जब प्राणियोंके कर्मफलोपभोगका क्षय हो जानेपर इस विनश्वर शरीरसे ये निकलते हैं, तब ये अपने सम्बन्धियोंको रुलाते हैं, अतः उत्क्रमणकालमें सम्बन्धियोंको रुलाते हैं, इसलिए रोदनमें निमित्त होनेसे रुद्र कहलाते हैं ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुनः शाकल्यने पूछा कि आदित्य कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने कहा कि वर्षके जो ये बारह महीने हैं, वेही बारह आदित्य हैं, क्योंकि येही वारम्वार गमनागमनसे प्राणियोंकी आयु तथा कर्म फलोंको ग्रहण करते हुए जाते हैं, जिस कारण ये ग्रहण कर जाते हैं (आदाययन्ति) इससे आदित्य कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

भावार्थ—पुनः शाकल्यने पूछा कि इन्द्र कौन हैं ? और प्रजापति कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि स्तनयित्नु (विद्युत) ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है । पुनः उसने पूछा कि स्तनयित्नु कौन है ? याज्ञवल्क्यने कहा अशनि—वज्र—यानी वीर्य (बल) जो प्राणियोंका हिंसक है, वह इन्द्र है, क्योंकि यह इन्द्रका ही काम है। पुनः उसने पूछा कि यज्ञ

कौन है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि पशु। यद्यपि पशु स्वयं यज्ञके रूप नहीं हैं तो भी वे यज्ञके साधन हैं, इसलिए पशु ही यज्ञ हैं—इस प्रकार कहा जाता है ॥ ६ ॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्चैते षड़ेते हीदꣳ सर्वꣳ षडिति ॥ ७ ॥

भावार्थ—शाकल्यने पूछा कि छ देवता कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ। वसु रूपसे जो आठ पठित हैं, उनमेंसे चन्द्रमा और नक्षत्रको छोड़कर छ होते हैं, तात्पर्य यह है कि वसु आदि समस्त देवताओंका विस्तार इन छ में ही अन्तर्भूत हो जाता है ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥

भावार्थ—शाकल्यने पूछा कि वे तीन देवता कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि ये तीन लोक ही तीन देव हैं (पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव है, अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरा देव है तथा द्यु लोक और आदित्य मिलाकर तीसरा देव है), क्योंकि इन तीन देवताओंमें ही समस्त देवताओंका अन्तर्भाव होता है। कोई-कोई 'भूः, भुवः, स्व,' इन्हींका तीन लोकसे ग्रहण करते हैं। इसपर उसने पूछा कि दो देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि अन्न तथा प्राण दो देव हैं, क्योंकि इन्हींमें पूर्वोक्त सब देवताओंका अन्तर्भाव हो जाता है। पुनः उसने पूछा कि डेढ़ देव कौन है ? जो यह बतलाता है, वह वायु डेढ़ देव है ॥ ८ ॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस विषयमें कोई इस प्रकार कहते हैं कि जो यह वायु है, एकसा ही चलता है, फिर अध्यर्ध क्यों ?, [समाधान] जिस कारणसे यह समस्त प्रपञ्च इसी वायुमें ऋद्धिको प्राप्त करता है, अतः वायु अध्यर्ध (डेढ़) कहा जाता

है। शाकल्य-एक देव कौन है ?, याज्ञवल्क्य—प्राण। यही प्राण ब्रह्म है, क्योंकि सर्वदेवतात्मक होनेसे सबसे महान् है, अतएव 'स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते' यह कहा है, त्यत् शब्दसे ब्रह्म ही कहा जाता है, यह परोक्षवाची शब्द है। यही देवताओं में एकत्व तथा नानात्व है, अनन्त देवोंका निवित्संख्या विशिष्टमें अन्तर्भाव है। उन ३३ तैतीसोंका उत्तरोत्तरमें तथा अन्ततः एक प्राणमें अन्तर्भाव होता है, अतः एक प्राणका ही अनन्त संख्या विस्तार है। इसतरह एक, अनन्त और अवान्तर संख्या विशिष्ट प्राण ही होता है। अधिकार भेदसे ही एक देवका नानारूप गुण-कर्म शक्तिसे भेद है ॥ ९ ॥

अब उस प्राणके ही आठ तरहके भेद बतलाये जाते हैं—

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस देवताका पृथिवी ही आश्रय यानी शरीर है, अग्निलोक (लोकयति अनेन इति लोकः) नेत्र है, मन ज्योति है कारण कि मनसे हीं जीव संकल्प विकल्प करता है, पृथिव्यादि का अभिमानी शरीर, इन्द्रिय वाला देव है, जो ऐसे पुरुषको जानता है, वह सबके आत्माओं को जानता है, क्योंकि वही सब कार्य करण सङ्घात आध्यात्मिक आत्माका परम आश्रय है। वही वस्तुतः आत्मज्ञानी है, जो इस परायणको जानता है। मातृज त्वक्, मांस तथा रुधिर रूपसे जो क्षेत्र स्थानीय हैं और बीजस्थानीय पितृज जो अस्थि, मज्जा और शुक्ररूप है, इन दोनों का परम अयन है। इसीका ज्ञाता सर्वात्मज्ञानसे पण्डित होता है। याज्ञवल्क्यने कहा कि मैं बस परायणको जानता हूँ, जिसको तुम कहते हो। यदि आप जानते हैं, तो उस पुरुषको कहिये वह कैसा है ? सुनो, जैसा वह है, जो शारीर पार्थिवांस शरीरमें स्थित मातृत्व कोशत्रयरूप है. यही वह देव है, हे शाकल्य ! जिसके विषयमें तुमने पूछा है। किन्तु उसके विषयमें एक और विशेषण बतलाना आवश्यक है सो हे शाकल्य ! उसके सम्बन्धमें पूछो।' इस प्रकार अत्यन्त क्षुभित किये जानेपर उसने अंकुशसे पीड़ित हुए हाथीके समान क्रोधके वशीभूत होकर

पूछा—उस शरीरका देवता कौन है ? जिससे उसकी उत्पत्ति होती है, याज्ञवल्क्यने कहा—अमृत हैं अर्थात् भुक्त अन्नका रस जो मातृज लोहित की निष्पत्तिका कारण है, उस अन्न रससे रुधिर होता है, जो स्त्रियोंमें रहता है, वही लोहितमय शरीर बीजका आश्रय है ॥ १० ॥

काम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्यवेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ११ ॥

भावार्थ—[शाकल्यने] कहा काम ही जिसका आयतन है, हृदय यानी बुद्धि नेत्र है, क्योंकि बुद्धिसे ही सब जीव देखते हैं । तथा मन ज्योति है, जो सबके जीवात्माका परम आश्रय है, हे याज्ञवल्क्य ! जो उस पुरुषको जानता है, वही निश्चय करके सबका ज्ञाता है, ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा जो सबके आत्माका उत्तम आश्रय है, उस पुरुषको मैं जानता हूँ, जिसको तुम कहते हो । जो निश्चय करके यह काम सम्बन्धी पुरुष है वही यह सबका आत्मा है । हे शाकल्य ! और तुम पूछो ? पुनः शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! उसका देवता यानी कारण कौन है ? इसपर याज्ञवल्क्यने स्पष्ट कहा कि कामका कारण स्त्रियाँ हैं, क्योंकि स्त्रियोंसे ही कामका उद्दीपन होता है ॥ ११ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस पुरुषका रूप ही आश्रय है, नेत्र ही रहनेका स्थान है, मन ही प्रकाश है, जो सबके आत्माका उत्तम आश्रय है, उस पुरुषको जो निश्चय करके समस्त अध्यात्म कार्य कारण समूहका आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वह

सबका ज्ञाता होता है, ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे शाकल्य ! तुम जिसे समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समूहका परम आश्रय बतलाते हो; उस पुरुषको मै जानता हूँ । जो भी यह सूर्यमें पुरुष है, वही यह है । हे शाकल्य ! और पूछा, इसपर शाकल्यने कहा कि उस पुरुषका कारण कौन है ? तब याज्ञवल्क्यने कहा कि इसका कारण सत्य है । प्रकृतमें सत्य शब्दसे नेत्र कहा गया है, कारण कि अध्यात्मनेत्रसे ही अधिदैवत सूर्यकी निष्पत्ति होती है ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

भावार्थ—पुनः शाकल्यने पूछा कि जिस पुरुषका आकाश ही आश्रय है, कर्ण रहनेका स्थान है, मन प्रकाश है, जो सबके आत्माका उत्तम आश्रय है, उस पुरुषको जो निश्चय करके समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समूहका आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्यः वह सबका ज्ञाता होता है, ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे शाकल्य ! तुम जिसे समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समुह का परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ । जो भी यह श्रोत्र सम्बन्धी प्रातिश्रुत्क-श्रोत्र में रहने वाला श्रौत्र, उसमें भी प्रति श्रवणके समय विशेष रूपसे रहने वाला यानी श्रवण साक्षी–पुरुष है, वही यह है । हे शाकल्यः और पूछो, इसपर शाकल्यने कहा कि इसका देवता यानी काराण कौन है ? तब याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि दिशायें है । क्योंकि दिशाओं से ही यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है ॥१३॥

तम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १४ ॥

भावार्थ—[शाकल्य] कहते हैं कि जिस पुरुषका तम ही आश्रय है, हृदय

रहनेका स्थान है, मन प्रकाश है, जो सबके आत्माका उत्तम आश्रय है, उस पुरुष को जो निश्चयकरके समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समूहका आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वह सबका ज्ञाता होता है, ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे शाकल्य ! तुम जिसे समस्त अध्यात्म कार्य कारण समूह का परम आश्रय बतलाते हो उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो छायामय पुरुष है, वही यह है [प्रकृतमें 'तम' शब्दसे रात्रि आदि का अन्धकार ग्रहण किया जाता है। अध्यात्म पक्षमें छायामय अज्ञानमय पुरुष ही तम है] हे शाकल्य ! और पूछो इसपर शाकल्य नें कहा कि उस छायामय पुरुष का देवता यानी कारण कोन है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि अधिदैवत मृत्यु ही उसकी निष्पत्तिका कारण है 'मृत्यु' शब्दसे प्रकृतमें ईश्वर (अव्याकृत) समझना चाहिए, जैसा कि यह भगवती श्रुति प्रतिपादन करती है—'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' अर्थात् पहिले यह मृत्युसे ही व्याप्त था। अविवेक की प्रवृत्ति ईश्वरके ही अधीन है, अतः वह अज्ञानमय आध्यात्मिक पुरुषकी उत्पत्तिका कारण है। ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् । याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥ १५ ॥

भावार्थ—शाकल्यने कहा जिस पुरुषका रूप ही आश्रय है, नेत्र ही रहनेका स्थान है, मन ही प्रकाश है, जो सबके आत्माका उत्तम आश्रय है, उस पुरुषको जो निश्चयकरके समस्त अध्यात्म कार्य कारण समूहका आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! यह सबका ज्ञाता होता है। [पहिले साधारण रूप कहे गये हैं, किन्तु यहाँ प्रकाश करनेवाले विशिष्ठ रूप ग्रहण किये जाते हैं] ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे शाकल्य ! तुम जिसे समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको मैं जानता हूँ, जो यह दर्पणमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और पूछो, शाकल्यने कहा कि जिस देवका विशेष आश्रय प्रतिबिम्बके आधार भूत आदर्शादि हैं, उसका कौन देवता है ? इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा कि उसका देवता प्राण है। तात्पर्य यह है कि उस प्रतिबिम्ब संज्ञक पुरुषकी उत्पत्ति प्राणसे ही होती है; क्योंकि प्राणसे दर्पणके द्वारा मालिन्यके निवृत्त होने पर ही,

आदर्शादिमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति आती है, अतः प्राणको प्रतिबिम्ब संज्ञक पुरुषकी उत्पत्तिका कारण बतलाना ठीक है ॥ १५ ॥

आप एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतियो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १६ ॥

भावार्थ—शाकल्यने कहा कि जिस पुरुषका जल ही आश्रय है, हृदय लोक है, मन प्रकाश है, जो सबके आत्माका उत्तम आश्रय है, उस पुरुषको जो निश्चय करके समस्त अध्यात्म कार्य कारण समूहका आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वह सबका ज्ञाता होता है. [प्रकृतमें जलसे वापी, कूप, तड़ागादिमें रहनेवाला जलमात्र विवक्षित है] ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे शाकल्य ! तुम जिसे समस्त अध्यात्म कार्य-कारणसमूहका परम आश्रय बतलाते हो उस पुरुषको मैं जानता हूँ, जो यह जलमें पुरुष है वही यह है। हे शाकल्य ! और पूछो ? शाकल्यने कहा कि उसका कौन देवता है ? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि वरुण। यहाँ वरुण शब्दसे किरणों द्वारा पृथिवी पर गिरनेवाला जल विवक्षित है, वही वापी, कूपादि जलका कारण है, इसलिए जलमय अध्यात्म पुरुषका भी वही कारण है ॥ १६ ॥

रेत एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतियो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७ ॥

भावार्थ—शाकल्यने कहा-जिस पुरुष का वीर्य ही आश्रय है, हृदय लोक है मन प्रकाश है, जो सबके आत्मा का उत्तम आश्रय है, उस पुरुषको जो निश्चय करके समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समूह का आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वह सबका ज्ञाता होता है। ऐसा सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शाकल्य ! तुम जिस समस्त अध्यात्म

कार्य कारण समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको मैं जानता हूँ, जो यह वीर्य रुप आश्रयवाले पुरुषका पुत्ररुप विशेष आयतन है वही यह है, पुत्रमयसे तात्पर्य पिता से जनित अस्थि, मज्जा तथा शुक्र है। हे शाकल्य ! और पूछो। शाकल्य ने कहा कि उसका कौन देवता है ? इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि प्रजापति। प्रजापतिका तात्पर्य पितासे है, क्योंकि पितासे ही पुत्रकी उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥

अब विभिन्न दिशाओंके अनुसार पाँच भागोंमें विभक्त हुए उस प्राण भेदका आत्मामें उपसंहार करनेके लिये भगवती श्रुति कहती है। अपने प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर पाकर चुपहुए शाकल्यसे क्रोधवश होकर याज्ञवल्क्यने कहा—

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति ॥ १८ ॥

भावार्थ—हे विदग्ध निश्चय करके इन ब्राह्मणोंने तुमको अङ्गारावक्षयण (संदशन स्थानीय बनाया है अर्थात् जिस प्रकार चिमटा अंगारेको पकड़ता हुआ दोनों ओरसे दग्ध होता है। इसी प्रकार तुम मेरे सन्मुख प्रश्नोत्तर करनेसे अत्यन्त दुःखी हो। क्योंकि मैं तुमारे कठिनसे कठिन प्रश्नोंका उत्तर भले प्रकार दे रहा हूँ, इसलिए मैं तुमसे दयापूर्वक कहता हूँ कि तुम अतिप्रश्न करने से निवृत्त हो जाओ ॥ १८ ॥

वि० वि० भाष्य—क्योंकि 'अतिनिर्मथनादग्निश्चन्दनादपि जायते' यानी चन्दन शीत स्वभाव है, पर अत्यन्त रगड़ने पर उससे भी अग्नि प्रगट होजाती है। एवं यद्यपि अतिशान्त स्वभाव याज्ञवल्क्य हैं तथापि दुराग्रह पूर्वक विवादसे उत्पन्न अग्नि शाकल्यको भस्म कर देगी। तुम बालकके समान यह नहीं समझ रहे हो कि हम अग्निमें कूद रहे हैं, ये ब्राह्मण भी तुमको मना नहीं कर रहे हैं, उससे ज्ञान होता है कि इन लोगोंकी भी सम्मति इसमें है। किन्तु मैं दयासे कहता हूँ कि तुम आत्मनाशकी चेष्टा कर रहे हो ॥ १८ ॥

याज्ञल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादी किं ब्रह्म विद्वानीति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

भावार्थ—शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! जो यह तुम कुरु तथा पञ्चाल

देशीय ब्राह्मणों पर आक्षेप करते हो सो क्या ब्रह्मको जानते हुए करते हो ?। इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि जैसे तुम देवता और प्रतिष्ठा के सहित दिशाओंका ज्ञान रखते हो वैसेही मैं भी देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंका ज्ञान रखता हूँ ॥ १९ ॥

वि० वि० भाष्य—शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! आपने कुरु तथा पञ्चाल देशके ब्राह्मणोंका आक्षेप द्वारा तिरस्कार किया है कि ये इन सब ब्राह्मणोंने स्वयं डराकर तुमको अङ्गारावक्षयण बना रखा है, यदि आप ब्रह्मवेत्ता हैं तो यह आपका निरादर सह्य है अन्यथा सह्य नहीं। याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे—शाकल्य ! मैं नहीं कह सकता हूँ कि मैं ब्रह्मको जानता हूँ और यह भी नहीं कह-सकता कि ब्रह्मको नहीं जानता हूँ, क्यों कि जानना न जानना बुद्धिके धर्म हैं, मुझ आत्माके नहीं हैं, मैं ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंको बारम्बार नमस्कार करता हूँ, मैं पूर्व दिशाओं को तथा उनके देवता और प्रतिष्ठाको जानता हूँ जिनको आपभी जानते हैं, यदि उनके विषयमें कुछ पूछना हो तो पूछ सकते हैं। शाकल्यने क्रोधमें आकर कहा कि यदि आप देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंको जानते हैं तो कहिये कि पूर्व दिशामें कौन देवता है ?॥ १९ ॥

वि० वि० भाष्य—गार्गी के चुप होने के बाद शाकल्य ब्राह्मण याज्ञवल्क्यसे एक प्रश्न के बाद एक दूसरा प्रश्न, दूसरेके बाद तीसरा प्रश्न इस तरह उत्तरोत्तर प्रश्न करने लगा। पहिले उसने पूछा कि कितने देव है, इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा कि ३३०६ देव हैं, वस्तुतः ३३ ही देव हैं और शेष इनकी महिमा है। ३३ कौन हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा नक्षत्र, ये आठ वसु, पाँच कर्मेन्द्रिय,पाँच ज्ञनेन्द्रिय, एक मन, मे ११ रूद्र, १२ आदित्य यानी १२ मास, इन्द्र–विद्युत्–अशनि और प्रजापति-यज्ञ-पशु ये ३३ हुए। इन तैतिसों का अंतर्भाव यानि, पृथिवी, वायू आकाश, सूर्य, द्यौ इन छ देवों में हैं। इन छ हो का अन्तर्भाव भू, अन्तरिक्ष, स्वर्ग इन तीन लोकोंमें है, क्योंकि भूलोकमें अग्नि देव की, अन्तरिक्ष में वायु देव की, स्वर्ग में आदित्य की स्थिति रहती है। इन तीनोंका अन्तर्भाव प्रण और अन्न में है। यहाँ पर प्राण शब्द से नित्य पदार्थ ग्रहण है तथा अन्न से अनित्य पदार्थ का ग्रहण है, अथवा पहिला कारणरूप हैं, दूसरा कार्यरूप है इन्हीं दोनों में सब ओत प्रोत हैं। इन दोनों का अन्तर्भाव अध्यर्ध में है, वायु अध्यर्ध है, क्योंकि उसी में यह दृश्यमान समस्त जगत् अधिक ऋद्धि को यानी वृद्धि को प्राप्त

होता है, अतः वह अध्यर्ध कहलाता है, इनका भी अन्तर्भाव एक प्राण यानी ब्रह्ममें है, क्योंकि ब्रह्म ही में समस्त प्रपञ्च ओत प्रोत है। इसके बाद साकल्य का यह प्रश्न है कि—पृथिवी का आश्रय पुरुष कौन है ? उत्तर देते हैं—शरीरस्थ पुरुष। प्रश्न है उसका देवता कौन है ? उत्तर देते हैं—अमृत यानी वीर्य है। प्रश्न करते हैं—कामायतन पुरुष कौन है ? उत्तर हुआ—काममय पुरुष। प्रश्न करते हैं—उसका देवता कौन है ? उत्तर देते हैं स्त्री है। प्रश्न करते हैं। सामान्य रूपाश्रय पुरुष कौन है ? उत्तर हुआ—सूर्यस्थ पुरुष, प्रश्न करते हैं। उसका देवता कौन है ? उत्तर देते हैं—सत्य यानी ब्रह्म है। प्रश्न करते हैं—आकशाश्रय पुरुष कौन है ? उत्तर देते हैं—श्रोत्र सम्बन्धी श्रवण साक्षी पुरुष। प्रश्न करते हैं—उसका देवता कौन है ? उत्तर देते हैं—दिशायें है। प्रश्न करते हैं—तमाश्रय पुरुष कौन है ? [उत्तर] हुआ—छायामय पुरुष। फिर पूछते हैं—उसका देवता कौन है ? [उत्तर] मृत्यु है। [फिर प्रश्न]—विशेषरुपाश्रय पुरुष कौन है ? इसका उत्तर आदर्शगत पुरुष। पुनः प्रश्न—उसका देवता कौन है ? उत्तर-असु-प्राण है। फिर प्रश्न—जलाश्रय पुरुष कौन है ? उत्तर जलगत पुरुष, पुनः प्रश्न—उसका देवता कौन है ? उत्तर—है। [वीर्याश्रय पुरुष कौन है ? उत्तर—पुत्रमय पुरुष प्रश्न—उसका देवता कौन है ? उत्तर—प्रजापति यानी पिता है। यहाँ तकका अभिप्राय यह है कि एक एक देवता ही अपनेको देव, लोक और पुरुष भेदसे तीन-तीन भागोंमें विभक्त करके आठ प्रकारसे स्थित हुआ है,[लोक—सामान्याकार, पुरुष—विशेषाकारमें स्थित चेतन और देवता— इन दोनोंका कारण] प्राणभेद अर्थात् पृथक्-पृथक् इन्द्रिय समुदाय ही वह देवता है, उपासना की सुविधाके लिए यहाँ विभाग पूर्वक उनका उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥

किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमित रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

भावार्थ—शाकल्यने पूछा— तुम इस पूर्व दिशामें किस देवतासे युक्त हो ? याज्ञवल्क्यने कहा, मैं आदित्य देवतासे युक्त हूँ। शाकल्यने पूछा ! आदित्य किसमें

स्थित है ? याज्ञवल्क्यने कहा चक्षुमें। (शाकल्यने) पूछा चक्षु किसमें स्थित है? तब याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया रूपोंमें, कारण कि चक्षुसे ही पुरुष रूपोंको देखता है। शाकल्यने प्रश्न किया रूप किसमें स्थित है ? याज्ञवल्क्यने कहा कि हृदयमें, क्योंकि पुरुष हृदयसे ही रूपों को जानता है, इसलिए हृदयमें रूप स्थित है। शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है जैसा आप कहते हैं॥ २०॥

वि० वि० भाष्य—शाकल्यने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! यदि आप सदेव तथा सैप्रतिष्ठ दिशाओंको जानते हैं, यदि आपको इस विषयका प्रत्यक्ष है, तो कहिये कि आप किस देवतासे विशिष्ट होकर पूर्व दिशामें स्थित हैं ? याज्ञवल्क्य पूर्वाभिमुख थे, अतएव पहिले शाकल्यने पूर्व दिशाके विषयमें ही पूछा। यहाँ इस प्रकार प्रश्न करनेका कारण यह है कि दिशाओंमें पञ्चधा विभक्त अपने हृदयको आत्मा मानकर यानी पाँच दिशाओंका आत्मा मेरा हृदय है। यह मान कर हम ही दिगात्मा हैं, यह निश्चय याज्ञवल्क्यने कहा था कि देवसे प्रतिष्ठित दिशाओंको हम जानते हैं ऐसी ही याज्ञवल्क्यकी प्रतिज्ञा थी, उसके अनुसार ही शाकल्यका प्रश्न है कि 'किं देवतस्त्वमस्यां' अर्थात् आप किस देवतासे विशिष्ट होकर पूर्व दिशामें स्थित हैं, अतः शाकल्यका प्रश्न ठीक ही है। याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि पूर्व दिशामें मैं आदित्य देवतासे युक्त हूँ यानी पूर्व दिशामें आदित्य मेरा देवता है। वेदमें यह लिखा है कि 'यां यां देवता मुपास्ते इहैव तद्भूतः तां तां प्रतिपद्यते' अर्थात् जिस जिस देवताकी जो उपासना करता है, वह उपासक इसीलोकमें तत्तद्देवता स्वरूप होकर उस उस देवताको स्वस्वरूप जानता है, ऐसा ही भगवती श्रुति आगे कहेगी कि देव होकर देवोंमें लीन होता है। इस तरह सदेव पूर्व दिशा तो कह दी गई, अब प्रतिष्ठा सहित कहनी है, अतः शाकल्य कहता है कि वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर चक्षुमें, क्योंकि कार्य कारणमें ही प्रतिष्ठित होता है। सूर्यका कारण 'चक्षो सूर्योऽजायत' इस श्रुतिके अनुसार चक्षु ही है, अतः आदित्य चक्षुमें प्रतिष्ठित है। प्रश्न चक्षु किसमें प्रतिष्ठित है ? उत्तर—रूपमें यहाँ शङ्का होती है कि चक्षुका कारण तो रूप नहीं है फिर रूपमें चक्षु कैसे प्रतिष्ठित है ? समाधान—रूप ग्रहण करनेके लिए रूपात्मक चक्षु रूपोंके द्वारा प्रयुक्त होता है, रूपोंने अपने ग्रहणके लिए चक्षुका आरम्भ किया है, अतः चक्षु रूप प्रयुक्त होनेके कारण रूपमें प्रतिष्ठित है, इसलिए आदित्यके साथऔर उस दिशा में स्थित पदार्थोंके साथ रूपमें प्रतिष्ठित है, जिस गुणसे जो इन्द्रिय उत्पन्न है वह उस गुणकी ग्राहिका है। पुनः शाकल्यने कहा कि अच्छा तो चक्षुके सहित समस्त

पूर्व दिशा रूप मात्र है, किंतु रूप किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हृदयमें । हृदयारब्ध रूप है । हृदय ही रूपाकारसे परिणत होता है, इसीलिए समस्त प्राणी हृदयसे रूपको देखते हैं । हृदय शब्दसे बुद्धि तथा मन दोनोंका ग्रहण है। हृदयकी दो वृत्तियाँ होती हैं, एक अध्यवसायात्मिका, जिसको बुद्धि कहते हैं । और दूसरी संकल्पात्मिका, जिसको मन कहते हैं । व्यावृत्त व्यवहारके लिये बुद्धि और मन आदि शब्द हैं और सम्मिलित-व्यवहारके लिए अन्तःकरण तथा हृदय आदि शब्द हैं, इसलिए हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं । हृदयसे वासनात्मक रूपका स्मरण होता है , अतः हृकयमें रूप प्रतिष्ठित है, यह कहना उचित ही है। इसपर शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ॥ २० ॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाᳬ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धा जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

भावार्थ—प्रश्न—तुम इस दक्षिण दिशामें किस देवतासे युक्त हो ? उत्तर यम देवतासे । प्रश्न—वह यम किसमें स्थित है ? उत्तर—यज्ञमें । प्रश्न—यज्ञ किसमें स्थित है ? उत्तर—दक्षिणामें । प्रश्न—दक्षिणा किसमें स्थित है ? उत्तर—श्रद्धामें । क्योंकि जब पुरुष श्रद्धायुक्त होता है तभी दक्षिणा देता है, अतः श्रद्धामें ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है । तब शाकल्यने पुनः प्रश्न किया कि श्रद्धा किसमें स्थित है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हृदयमें, क्योंकि हृदयसे ही पुरुष श्रद्धाको जानता है, इसलिए हृदयमें ही श्रद्धा स्थित है । इसपर शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ॥२१॥

वि० वि० भाष्य—शाकल्यने पूछा कि दक्षिण दिग्भूत आपका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्यने अपने हृदयका पञ्चधा विभागकर स्वयं दिक्स्वरूप होकर उसके द्वारा अपनेको समस्त जगदात्मक समझकर पूर्वके समान उत्तर दिया कि

दक्षिणदिग्रूप मेरा देवता यम है। यम किसमें प्रतिष्ठित है ? यज्ञरूप कारणमें दक्षिण दिशा के साथ यम प्रतिष्ठित है। यज्ञका कार्य यम इस तरह है कि ऋत्विग् आदि द्वारा किये गये यज्ञको दक्षिणा द्वारा यजमान खरीद कर उस यज्ञसे दक्षिण दिशाके साथ यमको जीत लेता है, इसलिए यज्ञमें यमकार्य होनेसे यम यज्ञमें दक्षिण दिशाके साथ प्रतिष्ठित है। यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? श्रद्धामें श्रद्धासे तात्पर्य है देनेकी इच्छा यानी भक्ति सहित आस्तिक्य बुद्धि। शंका-दक्षिणा उसमें कैसे प्रतिष्ठित है ? समाधान—जब यजमान श्रद्धा करता है, तब दक्षिणा देता है, इसलिए दक्षिणा श्रद्धामें ही प्रतिष्ठित है। श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ? हृदयमें। श्रद्धा हृदयकी ही वृत्ति है, क्योंकि हृदयसे ही लोग श्रद्धाको जानते हैं। वृत्ति वृत्तिमान्में ही प्रतिष्ठित होती है, इसलिए हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है। शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! हाँ यह ऐसी ही बात है, इस प्रकार कहकर स्वीकार किया ॥ २१ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

भावार्थ—शंका—इस पश्चिम दिशामें तुम किस देवतासे युक्त हो ? समाधान। वरुणसे यानि पश्चिम दिशामें मेरा अधिष्ठातृदेव वरुण है। शंका—वरुण किसमें प्रतिष्ठित है ?, समाधान—जलमें। जल वरुणका कारण है, क्योंकि "श्रद्धा वा आपः' यानी श्रद्धा ही जल है तथा 'श्रद्धातो वरुणमसृजत' अर्थात् श्रद्धासे वरुणको रचा। ऐसी श्रुति है। शंका—जल किसमें प्रतिष्ठित है ?, समाधान—रेत-वीर्यमें; क्योंकि 'रेतसो हि आपः सृष्टाः'—'वीर्यसे जलकी रचना हुई' यह श्रुति है। शंका—वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ? समाधान—हृदयमें, क्योंकि वह हृदयका कार्य है—रेत (काम) हृदय की वृत्ति है, कामी पुरुषके हृदयसे रेत गिरता है, अतएव अनुरूप पुत्र होनेपर लोग कहते हैं कि इसके पिताके हृदयसे पुत्र उत्पन्न हुआ है। हृदयसे ही मानो यह रचा गया है। जैसे कि कनकसे कुण्डल बनता है, अतः हृदयमें ही वीर्य प्रतिष्ठित है, शाकल्यने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसी ही बात है ॥२२॥

किं देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

भावार्थ—शंका—इस उत्तर दिशामें तुम किस देवतायुक्त हो ?, समाधान—सोम देवतासे, 'सोमदेवतः' इसमें सोमलता तथा चन्द्रमा दोनोंके अभिप्रायसे सोम शब्दका प्रयोग किया गया है। शंका—वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है ? समाधान—दीक्षामें, क्योंकि दीक्षित यजमान सोमक्रमण करता है, तथा क्रीत सोमसे यज्ञ कर ज्ञानी होकर सोम देवसे अधिष्ठित सोम सम्बन्धिनी उत्तर दिशाको प्राप्त होता है। शंका—दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?, समाधान—सत्यमें, क्योंकि दीक्षा सत्यमें प्रतिष्ठित है, अत एव दीक्षित पुरुषसे यह कहा जाता है कि सत्य बोलो, कारण कि सत्यरूप कारणका नाश होनेसे दीक्षारूप कार्यका नाश न हो, इसलिये सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है। शंका—सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?, समाधान—हृदयमें, क्योंकि हृदयसे ही सत्य जाना जाता है, इसलिये हृदयमें ही सत्य प्रतिष्ठित है। 'हाँ हेयाज्ञवल्क्य ! यह ऐसी ही बात है, इस प्रकार कहकर शाकल्यने स्वीकार किया ॥ २३ ॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

भावार्थ—शाकल्यने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! ध्रुवा दिशामें तुम किस देवतासे युक्त हो ?, ध्रुवासे उर्ध्व दिशा विवक्षित है। मेरु पर्वतके चारों ओर रहनेवालों की जो अव्यभिचारी उर्ध्व दिशा है, ध्रुवा कहलाती है अर्थात् अव्यभिचरितको ध्रुवलोक कहा जाता है, समाधान—अग्नि देवतासे, क्योंकि उर्ध्व दिशा प्रकाशमय है और प्रकाश ही अग्नि है। शंका—अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है ?, समाधान—वाणीमें। शंका वाणी किसमें प्रतिष्ठित है ? समाधान—हृदयमें ॥ २४ ॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाᳪसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥ २५ ॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्यने कहा कि अरे अहंल्लिक! जब तुम ऐसा मानोगे कि यह आत्मा (हृदय) इस हमारे देहसे अलग है तब जो यह आत्मा इस शरीर से अलग हो जाय तो इस शरीरको कुत्ते खा जायँ या इस शरीरको पत्ती चोंच मारकर खाडालें॥ २५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—'अहंल्लिक, शब्द 'अहनि लीयते–इति अहंल्लिकः, अर्थात् जो दिनमें कहीं छिप जाय और रात्रिमें दीखे, इस अर्थका बोधक है। इसका अर्थ निशाचर, राक्षस आदि हुआ। क्या तूँ 'हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? इसे भी नहीं जानता था, जो ऐसा प्रश्न किया, अतः ज्ञान होता है कि यह तेरी जान बूझकर धृष्टता है। 'तुम इस हृदयको हमसे कहीं अन्यत्र मानते हो ?, यह जानकर याज्ञवल्क्य क्रुद्ध हो विदग्ध वा शाकल्य आदि नामोंसे इसको सम्बोधन न करके 'अहंल्लिक, इस नामसे सम्बोधितकर समाधान करते हैं ॥ २५ ॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति । एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्म न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । तᳪ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परीमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥

भावार्थ—शाकल्यने पूछा कि आप और आपका आत्मा किसमें स्थित है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—प्राणमें। शाकल्यने पूछा, प्राण किसमें स्थित है ? अपानमें। अपान किसमें स्थित है ?, व्यानमें। व्यान किसमें स्थित है ? उदानमें। उदान किसमें प्रतिष्ठित है ? समानमें, जो वेदमें नेति-नेति करके कहा गया है, वही यह आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जा सकता, अशीर्य है—वह नष्ट नहीं होता, असङ्ग है—उसका संग नहीं किया जा सकता, वह असित यानी बन्धन रहित है—वह पीड़ित तथा नष्ट नहीं होता। हे शाकल्य ! ये आठ स्थान हैं, आठ लोक है, आठ देव हैं तथा आठ पुरुष हैं। सो जो कोई उन पुरुषोंको जानकर और अपने अन्तः करणमें रखकर उपाधि विशिष्ट धर्मोंका अतिक्रमण किये हुए है, उस उपनिषत्सम्बन्धी तत्ववित् पुरुषको जानता है मैं पूछता हूँ यदि तुम मुझसे उसको न कहेगा तो तेरा सिर गिर जायगा, परन्तु शाकल्य उस पुरुषको नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक सबके सामने गिर पड़ा। यही नहीं, अपितु उसकी हड्डियोंको और कुछ समझते हुए चोरलोग लेकर भागगये ॥ २६ ॥

वि० वि० भाष्य—शाकल्य—हृदय तथा शरीर परस्परमें प्रतिष्ठित हैं, यह तो आपने कहा। अब कार्य और कारणके विषयमें पूछता हूँ, उसका भी उत्तर दीजिये। तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय)—ये दोनों किसमें प्रतिष्ठित है ?, प्राणमें। शरीर और आत्मा ये दोनो प्राणमें यानी प्राणवृत्तिमें प्रतिष्ठित हैं। प्राण किसमें प्रतिष्ठित है ? अपानमें, क्योंकि यदि अपान न रहता तो प्राणवृत्ति पहिले ही निकल जाती, इसलिये अपानसे निगृहीत प्राण शरीरमें स्थित रहता है। अपान किसमें प्रतिष्ठित है ?, व्यानमें, क्योंकि अपान नीचेसे चलाजाता और प्राण उपरसे चला जाता, यदि मध्यस्थित व्यान दोनोंको रोकता। व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ?, उदानमें, क्योंकि उक्त तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानापन्न उदानमें यदि बँधी न होती, तो चारों तरफसे निकल जाती। उदान किसमें प्रतिष्ठित है समानमें। समानमें ही ये सब वृत्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य यह है कि अन्योन्य प्रतिष्ठित शरीर, हृदय तथा वायु नियमपूर्वक संहत हैं। संहत परस्पर प्रतिष्ठित होते हैं, जैसे घटादि पार्थिव आदि चार तत्वोंसे बने हैं वे चारों तत्व परस्पर प्रतिष्ठित हैं, यदि घटमें पार्थिव तत्व न रहे तो घटके अवयव बालूके कणके समान एक दूसरेसे नहीं सटेंगे। अवयव के दृढ़ संश्लेषका कारण स्नेह है और स्नेह जलका गुण है, अतः संहतका परस्पराश्रयत्व होना ठीक ही है। उक्त सब जिससे नियत हैं, जिसमें

प्रतिष्ठित हैं तथा आकाश पर्वत सम्पूर्ण पदार्थ ओत-प्रोत हैं, उस उपाधिशून्य साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मका निर्देश अवश्य करना चाहिये। अतः यह आरम्भ है। जो मधुकाण्डमें 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्यसे निर्दिष्ट है, वह यही है। यह आत्मा अगृह्य है, कोई भी इसका ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण कार्य धर्मोंसे परे है, इसलिए अगृह्य है, जो पदार्थ व्याकृत है, वही ज्ञानविषय है। यह आत्मतत्व उक्तसे विपरीत है, इसलिये अगृह्य है। वैसे ही अशीर्य है अर्थात् अविनाशी है तथा असङ्ग है। अन्य मूर्तसे संबद्ध होकर मूर्त ही सटता है। उदम्बर आदिकी शाखा और जन्तु ये दोनों मूर्त हैं, अतः उक्त शाखा और जन्तुका परस्पर संश्लेष होता है। यह उसके विपरीत है, इसलिये संसक्त नहीं होता। तथा असित यानी अबद्ध है जो मूर्त होता है, वह बद्ध होता है, यह उससे विपरीत है। अबद्ध होने हीके कारण व्यथित भी नहीं होता, इसलिए हिंसित्त भी नहीं होता। ग्रहण, विशरण सङ्ग संबद्ध आदि कार्य-धर्मों से शून्य होनेके कारण आत्मा हिंसाविषय नहीं होता यानी कभी उसका विनाश नहीं होता। आख्यायिका क्रमको छोड़कर तथा आख्यायिकासे संबन्ध हटाकर औपनिषद् पुरुषके स्वरूपका निर्देश भगवती श्रुतिने शीघ्र करदिया। अब पुनः भगवती श्रुति आख्यायिकाके अनुसार ही वर्णन करती है—ये जो आठ आयतन हैं (पृथिवी, काम, रूप, आकाश, तम, रूप, उदक और रेत-वीर्य), जो आठलोक हैं—(अग्नि, हृदय, नेत्र, कर्ण, हृदय, चक्षु हृदय, और हृदय), जो आठदेव हैं (अमृत, स्त्री, सत्य, दिशा, मृत्यु, असु, वरुण, और प्रजापति) तथा आठ जो शारीर आदि पुरुष हैं (पुरुष—शारीर, काममय, आदित्यस्थ, श्रौत प्रातिश्रुत्क, छायामय, दर्पणादिस्थ प्रतिबिम्ब जलस्थ—वापी, कूप, तड़ाग आदि का अभिमानी, तथा पुत्र मय) जो कोई पुरुष उन शारीर आदिको जानकर अर्थात् अष्ट चतुष्क भेद से लोक स्थितिका उपपादन कर पुनः प्राची दिशा आदि द्वारा आत्मामें उपसंहार कर हृदयादि उपाधि धर्मोंसे अतिक्रान्त हो स्वस्वरूपसे व्यवस्थित जो औपनिषद अशनायादि शून्य है, उस पुरुषको मैं तुमसे पूछता हूँ और यह भी कहा कि हे साकल्य ! यदि हमसे उसको न कहोगे, तो तुम्हारा शिर धड़से अलग हो जायेगा; किन्तु शाकल्य उस पुरुषको न समझ सका, इसलिये उसका शिर गिर गया। और चोरोंने दाहके निमित्त ले जाते हुए उस शरीरको देखकर और कुछ समझ उसे वे लेकर भाग गये ॥ २६ ॥

विशेषशिक्षा—इस वृत्तान्तसे यह शिक्षा ग्रहण करनी योग्य है कि परमशान्त महामुनि याज्ञवल्क्य जिस विवादसे ऐसे क्लेशित हुए कि उन्होंने कर्मनिष्ठ विद्वान्

तपस्वी शाकल्यको भस्मकर दिया, ऐसे विवादमें कल्याणार्थीको कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, अतएव धर्मशास्त्रमें लिखा है—

गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं विर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः॥

इत्यादि शास्त्रके अनुसार शास्त्रार्थद्वारा विद्वान्का पराजय करना अत्यन्त निकृष्टकर्म है, इसलिये इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। याज्ञवल्क्य और शाकल्य दोनों ब्राह्मण विद्वान् तपस्वी तथा सुशीतल चन्दन शाखाके समान थे, जब उनमें भी उक्त घटनासे भयङ्कर परिणाम होगया, तब साधारण मनुष्योंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? वादसे अधिक कष्टप्रद दूसरा पदार्थ नहीं है, याज्ञवल्क्य और शाकल्यने भी इससे अन्ततः शत्रुभाव उत्पन्न करही दिया, इसलिये कल्याणार्थियोंको सदा इससे दूर रहना चाहिये। अन्त्येष्टिद्वारा जो पिताको नरकमें जानेसे रोकता है, वह पुत्र है, इस अर्थकी भी शाकल्यको आशा नहीं रही। यह तब होती जबकि शाकल्यका अस्थिपञ्जर निर्विघ्न घर पर पहुँच जाता वहाँ जानेपर पुत्र आदि द्वारा यथाविधि संस्कारसे द्वेषप्रयुक्त पापका प्रतीकार होसकता था और शाकल्यका परलोक भी सुधर जाता, किन्तु वह भी न होने पाया, इसलिये विवाद इहलोक परलोक दोनोंका विनाश करता है, इसलिये सर्वथा अनुपादेय है, यह सूचित करनेके लिये यह आख्यायिका है॥ २५—२६॥

शाकल्य तथा याज्ञवल्क्यकी संवाद स्वरूप आख्यायिकाकी समाप्तिके बाद आई हुई 'अथ होवाच' इत्यादि श्रुतिका अभिप्राय यह है कि जो औपनिषद पुरुष कहा गया है, उसमें विज्ञानानन्दरूपत्व एवं भोगमुक्तिदातृत्व भी है, जिसका अभीतक निर्वचन नहीं किया गया है, अतः उसको कहना आवश्यक है, 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे अनात्मभूत समस्त पदार्थोंके निषेधद्वारा जिसका निर्देश किया गया है, विधिद्वारा भी उसका निर्देश होना चाहिये, अतः उत्तर श्रुति है। इसकारण औपनिषद पुरुष कहा जायेगा, यह भी आख्यायिका द्वाराही कहा गया है। इसमें प्रधान हेतु यह है कि दुर्बोध अर्थका भी आख्यायिकाद्वारा निर्वचन होनेपर वह सुगमतासे समझमें आजाता है, इसलिये सुखावबोधके लिये आख्यायिका है—

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः॥ २७॥

भावार्थ—उसके बाद याज्ञवल्क्यने कहा कि हे पूज्य ब्राह्मणों ! आप लोगोंमेंसे जिसकी इच्छा हो वह मुझसे प्रश्न करे, या सब कोई मिलकर मुझसे प्रश्न करें। या आपलोगोंमें जो कोई चाहता हो उससे मैं प्रश्न करूँ, या आप सब लोगोंसे मैं प्रश्न करूँ, इसपर उन ब्राह्मणोंने पूछनेका साहस नहीं किया, क्योंकि वे शाकल्यकी दुर्वस्थासे भयभीत हो चुके थे ॥ २७ ॥

वि० वि० भाष्य—शंका—शाकल्यके बाद जब सब ब्राह्मण चुप हो गये, तब मना करनेवाला तो कोई था नहीं, इसलिये ब्रह्मविज्ञानका पणभूत गौरू पीधनको ले जानेमें कोई रुकावट थी नहीं, पुनः याज्ञवल्क्य क्यों बोले ?

समाधान—जब वह गौरूपी धन सर्व ब्राह्मण साधारण है, तो उसे सर्व सम्मतिके विना लेजाना ठीक नहीं, अतः सभामें स्थित सब विद्वानोंसे अनुमति लेना आवश्यक था। जो बादमें भाग ले चुके थे, तथा ठीक उत्तर पाकर संतुष्ट होचुके थे, उनकी तरफसे तो इसमें कोई रुकावट ही न हो सकती थी, यह ठीक है परन्तु जो बाकी थे, उनकी संमति लेना परमावश्यक था। उनकी भी सम्मति लेनेकी रीति यही है कि हम उनसे पूछें या वे हमसे पूछें, यदि इस विषय में किसीकी प्रश्नोत्तरकी इच्छा होगी, तो याज्ञवल्क्य समस्त विद्वानोंमें ब्रह्मिष्ठ हैं, यह सर्व सम्मतिसे निश्चित समझा जायेगा। उसके अनुसार उक्त गोधन लेनेका उनको अधिकार होगा, इस तात्पर्यसे पुनः याज्ञवल्क्य का प्रश्न है ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्यने उनसे इन श्लोकोंद्वारा प्रश्न किया, यथा—

तान्हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ॥ तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे विशालता आदि गुणोंसे युक्त वृक्ष है वैसेही पुरुष है, इसमें सन्देह नहीं कि उस पुरुषके रोएँ वृक्षके पत्तोंके समान हैं और इसकी त्वचा वृक्षके बाहरी छालके समान है॥ १ ॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ॥ तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥ २ ॥

भावार्थ—इस पुरुषके चर्मसे ही रुधिर निकलता है वैसेही वृक्षकी त्वचासे गोंद

निकलता है तथा जैसे कटे हुए वृत्तसे रस निकलता है, वैसे कटे हुए पुरुषशरीरसे रक्त निकलता है ॥ २ ॥

मा॑ꣳसान्यस्य शकराणि किनाट॑ꣳस्नाव तत्स्थिरम् ॥ अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥ ३ ॥

भावार्थ—इसतरह पुरुष तथा वनस्पतिका मांस शकरल यानी खंड (अंश) है, कीनाट-सकरके भीतर काष्ठ संलग्न वल्कल रहता है, (शकरके भीतरी अंश विशेषको किनाट कहते हैं) उसके समान पुरुषमें स्नायु (नस) रहती है, वह कीनाट स्नायुके समान दृढ़-कड़ा होता है। स्नायुके भीतर जैसे कड़ी हड्डियाँ होती हैं, वैसेही कीनाटके भीतर कड़ा दारु-काष्ट होता है। जैसे पुरुषमें मज्जा रहती है, वैसेही वनस्पतिमें भी मज्जा रहती है। काष्ठ मज्जामें पुरुष मज्जाही उपमा है दूसरी नहीं, इन दोनोंमें विशेष अन्तर नहीं है। जैसे वनस्पतिकी मज्जा है वैसेही पुरुषकी मज्जा है, जैसे पुरुषकी मज्जा है वैसेही वनस्पतिकी मज्जा है ॥ ३ ॥

यद्वृत्तो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ॥ मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ४ ॥

भावार्थ—परन्तु यदि वृत्तको काट दिया जाय तो वह वारम्बार अपने मूलसे पहिलेकी अपेत्ता अतिशय नवीन होकर अंकुरित होजाता है, इसीतरह यदि मृत्युद्वारा मनुष्यका छेदन कर दिया जाय, तो वह किस मूलसे उत्पन्न होता है ? ॥ ४ ॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते । धानारुह इव वै वृत्तोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥ ५ ॥

भावार्थ—मृत पुरुषके वीर्यसे पुरुप्रादुर्भाव होता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह वीर्य जीते हुए पुरुषसे उत्पन्न होता है मृतसे नहीं, और बीजसे उत्पन्न होनेवाला वृत्त कटजानेके बाद पुनः अंकुरित होकर उत्पन्न हो जाता है, यह प्रत्यत्त दृष्ट है ॥ ५ ॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृत्तं न पुनराभवेत् । मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ६ ॥

भावार्थ—यदि वृत्तको जड़ सहित नष्टकर दिया जाय तो वह पुनः उत्पन्न

नहीं होता, तब आपलोग बतलाइये कि यह मृत्युके द्वारा छिन्न हुआ पुरुष किस मूलसे उत्पन्न होता है ? ॥ ६ ॥

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥ ७ ॥ २८ ॥

भावार्थ—यदि ऐसा कहो कि पुरुष तो उत्पन्न होही गया है, इसलिये पुनः उत्पन्न नहीं होता, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वह मरकर भी पुनः उत्पन्न होता ही है, ऐसी दशामें मृत्युके बाद इसे पुनः कौन उत्पन्न करेगा ? यानी उसकी उत्पत्तिका कारण कौन होगा ? जब किसी ब्राह्मणने इसका उत्तर नहीं दिया तब याज्ञवल्क्यने स्वयं कहा कि मृत पुरुषकी उत्पत्तिका कारण ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप ब्रह्म है 'वह ब्रह्म' जो धन देनेवाले हैं यानी यज्ञकर्ता हैं, जो ज्ञानमें दृढ़ हैं तथा जो ब्रह्मको जाननेवाले हैं उनकी परमगति अर्थात् परम आश्रय है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्वोक्त छश्लोकोंका भाष्य भावार्थसे ही गतार्थ होनेके कारण पृथक् नहीं लिखा गया । अब सातवें श्लोकका भाष्य लिखा जाता है—यदि मूलके साथ बीजका नाश किया जाय तो वृक्ष पुनः उत्पन्न नहीं होगा, इसलिये आप लोगोंसे मैं पूछता हूँ कि यदि समस्त जगत्का मूल मृत्युसे छिन्न हो जाता है तो किस मूल से पुनः वह उत्पन्न होता है ?। जो पैदा होनेवाला हो, उसके विषयमें तो प्रश्न हो सकता है कि वह किससे पैदा है, किन्तु जिसकी उत्पत्ति हो चुकी है, उसके विषयमें प्रश्न ही क्या ?, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मृतकी पुनः उत्पत्ति होती है, अन्यथा उससे किये गये पुण्य, पाप निष्फल हो जायेंगे यानी कृतनाश तथा अकृताभ्यागमरूप दोष हो जायेगा, अतः आप लोगोंसे मैं पूछता हूं कि मरे हुए पुरुषको पुनः कौन उत्पन्न करता है ? इस बातको ब्राह्मण न जान सके अर्थात मरे हुए प्राणी जिससे पुनः पैदा होते हैं, उस जगत् मूल कारणको ब्राह्मणोंने नहीं जाना, अतः यह बात स्पष्ट हो गई कि उपस्थित विद्वानोंमें ब्रह्मविद् अग्रणी याज्ञवल्क्य ही हैं, इसलिये उक्त पणभूत गोधनको मुनिने ही ले लिया और समस्त विद्वानोंके ऊपर विजय भी प्राप्त की । यह आख्यायिका समाप्त हुई । अब जो जगत् का मूल है जिसका शब्दसे साक्षात् व्यपदेश होता है तथा जिसके विषयमें ब्राह्मणोंसे याज्ञवल्क्यने पूछा था, उसको भगवती श्रुति स्वयं प्रतिपादन

करती है—वह विज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, यह विज्ञानानन्द विषय विज्ञान के समान दुःखानुविद्ध नहीं है, परन्तु प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास, नित्यतृप्त तथा एकरस ब्रह्म है, वह धन देनेवाले यजमानकी परागति है। किञ्च एषणात्रयसे विरत होकर और उसी में स्थिर रहकर जो कर्म नहीं करते उन ब्रह्मज्ञानियोंका भी परम आश्रय है ॥ १ से ७ तक ॥

अब प्रकृतमें विचाणीय विषय यह है कि जो आनन्द शब्द लोकमें सुखवाची प्रसिद्ध है, वह यहाँपर ब्रह्ममें विशेषण रूपसे श्रुत है—आनन्द ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् यो वै भूमा-तत्सुखम्, एष परमआनन्द, इत्यादि। संवेद्य सुखमें आनन्द शब्द प्रसिद्ध है। ब्रह्मानन्दको यदि संवेद्य मानो, तो ब्रह्ममें आनन्दादि शब्दोंका प्रयोग करना उचित है, इसलिये यह विचारना चाहिये कि लोकवत् यहाँ आनन्दवेद्य है या नहीं? श्रुतिरूप प्रमाणसे ब्रह्मको संवेद्य आनन्द स्वरूपही मानते हैं, पुनः उसमें विचारही क्या करना है ?, नहीं, विचार करना आवश्यक है, क्योंकि विरुद्ध श्रुतिवाक्य देखे जाते हैं वह सत्य है कि आनन्द शब्द ब्रह्ममें श्रुत है, किन्तु वह लौकिक आनन्दके समान ज्ञायमान नहीं है। प्रत्युत आनन्दके ज्ञानका श्रुतियोंमें प्रतिषेध है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्' यत्र नान्यत् पश्यति नान्य-च्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यकिंञ्चन वेद' इत्यादि। तात्पर्य यह है विचारके विना कि श्रुतियोंके तत्वार्थका निर्णय नहीं ले सकता, अतः विचार आवश्यक है और मोक्षवादियोंकी विप्रतिपत्तियाँ भी हैं। सांख्य और वैशे-षिकभी मोक्षवादी हैं, किन्तु उनका मत है कि मोक्षमें संवेद्यसुख नहीं है। सांख्यवादी कहते हैं कि ज्ञान बुद्धिका धर्म है। प्रकृति और पुरुषका भेदज्ञान ही तत्वज्ञान है, तत्वज्ञानसे बुद्धिका लय हो जाता है, इसलिये ज्ञान नहीं होता। वैशेषिक अशेष-विशेष गुणोच्छेदको या आत्यन्तिक दुःखध्वंसको मोक्ष मानते हैं। शरीरेन्द्रियादि द्वारा ही आत्मामें ज्ञान होता है। शरीरेन्द्रियादि कर्मनिबन्धन हैं, कर्मोंके निःशेष समाप्त होनेपरही मोक्ष होता है, स्वतः आत्मा पृथिव्यादिके समान जड़ है, इसलिये ज्ञानजनक सामग्रीकी विकलतासे आत्मामें उस समय ज्ञान नहीं होता। भागवतोंका मत है कि मोक्ष कालमें भी ज्ञान होता है, उस समयका सुख निरतिशाय और स्वसंवेद्य है। यदि ज्ञान न माना जाय तो अविदितसत्ताकसुख अपुरुषार्थही होगा, इस परिस्थितिमें उसके उद्देश्य मोक्षमार्गमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी। ठीक है, फिर इस विषयमें क्या मानाजाय ? ज्ञायमान आनन्दका ही श्रुतियोंमें श्रवण पाया जाता

मरणान्तर ब्रह्मलोकप्राप्ति (अ० ५ ब्रा० १०)

મરણોત્તર બ્રહ્મલોકપ્રાપ્તિ (અ. ૫ બ્રા. ૧૦)

है।—'जक्षन् क्रीड़न् रममाणः, स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' यः सर्वज्ञः सर्वविन्, सर्वान् कामान् समश्नुते, इत्यादि श्रुतियोंमें स्पष्ट है कि मोक्षसंवेद्य है, अवेद्य नहीं है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सुखित्वादि विशेषधर्म नामरूप जनित देह तथा इन्द्रियरूप उपाधिके सम्पर्कसे होनेवाली भ्रान्तिसे आत्मामें आरोपित हैं आत्मा तो, निर्गुण निर्विकार है, इसतरह पूर्वोक्त सब शङ्काओंका पहिलेही परिहार किया जा चुका। विरुद्ध श्रुतियोंका विषय भी हम पहिले कह चुके हैं। मधुकाण्डमें जो ब्रह्मका वेद्यत्व है, सोपाधिक होनेके कारण है। निरुपाधिक ब्रह्म तो सर्वथा अवेद्यही है। इसलिये आनन्द प्रतिपादक समस्त वाक्योंको 'एषोऽस्य परम आनन्द' इस वाक्यके समानही समझना चाहिये। उक्त सकल भेदादि तो पूर्वानुभूतका केवल अनुवादमात्र हैं॥ ७॥ २८॥

तृतीया अध्याय और षष्ठ ब्राह्मण समाप्त।

ॐ
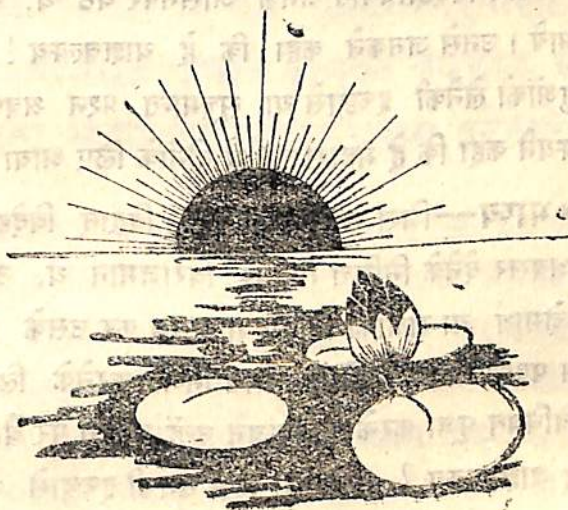
चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

तृतीयाध्यायमें जल्प कथा द्वारा ब्रह्मका वर्णन किया गया। अब वादकथा द्वारा उसी ब्रह्मका विस्तारपूर्वक निरूपण करनेके लिए हम अध्यायका आरम्भ करते हैं, यथा—

ॐ जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति। उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

भावार्थ—जब विदेहाधिपति जनक आसनपर बैठे थे, उसी समय याज्ञवल्क्य महर्षि आये। उनसे जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! आप किस लिए पधारे हैं? पशुओंको लेनेकी इच्छासे या सूक्ष्मान्त प्रश्न श्रवण करनेके लिए? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि हे महाराज? मैं दोनोंके लिए आया हूँ॥ १॥

वि० वि० भाष्य—जिस समय प्रसिद्ध विद्वान् विदेहपति राजा जनक दर्शनेच्छुकोंको अवसर देनेके निमित्त गद्दीपर विराजमान थे, उसी समय विद्वान् याज्ञवल्क्य योगक्षेमार्थ या राजाकी विविदिषा समझ कर उसके ऊपर दया करनेके लिए यानी सूक्ष्म पदार्थ विषय प्रश्नोंका उचित निर्णय करनेके लिए आगये, उनको देखकर उनकी विधिवत् पूजा करके महाराजने उन्हें आसन पर बैठाया और प्रसन्नता पूर्वक बोले कि हे याज्ञवल्क्य? आप पशु रूपी धनकी इच्छासे या मुझसे अत्यन्त सूक्ष्म परमाण्वन्त गुह्य पदार्थोंके प्रश्नोंको सुननेके लिए आये हैं। अर्थात् जो कुछ अन्य आचार्योंने मुझको उपदेश किया है वह यथार्थ किया है और उसको यथार्थ समझा है इसको जाननेके लिए आप पधारे हैं? इसपर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे सम्राट्! पशुग्रहणार्थ तथा तत्व निर्णयार्थ दोनोंके लिए आया हूँ॥ १॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत । का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य, वागेव सम्राडिति होवाच । वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ २ ॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा कि हे जनक ! जो कुछ आपसे किसीने कहा है, उसको मैं सुनना चाहता हूँ । इसपर जनकने कहा कि शिलिन ऋषिके पुत्र जित्वाने मुझसे कहा है कि वाणी ही ब्रह्म है । यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि शैलिनिने ठीक कहा है, जैसे जननी, जनक तथा आचार्यके द्वारा भलीभाँति शिक्षित पुरुष अपने शिष्यको उपदेश करे, वैसे ही शैलिनिने आपसे कहा है, इसमें सन्देह नहीं कि वाक् ब्रह्म है; क्योंकि न बोलनेवालेसे लोगोंका क्या लाभ हो सकता है ? परन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठाको भी बताया है ? जनकने कहा कि नहीं । तब याज्ञवल्क्यने कहा कि हे सम्राट् ! यह उपदेश एकपादके ब्रह्मका है । यह सुनकर जनकने कहा हे याज्ञवल्क्य ! यदि ऐसी बात है तो कृपया आप उसे बतलावें, कि वाणीका आयतन तथा प्रतिष्ठा क्या है ? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा

कि वाणी ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। प्रज्ञा रूपसे ही इसकी उपासना करनी चाहिए। 'प्रज्ञा' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! प्रज्ञता क्या है ? याज्ञवल्क्यने कहा कि हे राजन्! वाणी ही प्रज्ञता है। हे सम्राट्! वाणीसे ही बन्धुका ज्ञान होता हैं तथा हे राजन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक; तथा समस्तभूत वाणीसे ही जाने जाते हैं। हे सम्राट्! वाणी ही परब्रह्म हैं, इस तरह उपासना करने वालेको वाणी नहीं। छोड़ती, सबभूत उसका अनुसरण करते हैं। जो विद्वान् इसकी इस तरह उपासना करता है, वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है। विदेहाधिपति जनकने कहा कि मैं आपको जिनसे हाथीके समान बैल उत्पन्न हों, ऐसी हजार गौयें देता हूँ। इसके उत्तरमें उस याज्ञवल्क्यने कहा कि हे राजन्! मेरे पिताका उपदेश है कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसकी दक्षिणा नहीं लेनी चाहिए॥ २॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा कि हे राजन्! हमने सुना है कि आपने अनेक आचार्योंकी सेवाकी है, इसलिए आपसे जिस किसी आचायने जो कुछ कहा है, उसे हम सुनना चाहते हैं, इस पर राजा ने कहा कि 'हाँ' कहा है। हमारे आचार्यका नाम जित्वा था। वे शिलिनिके पुत्र थे, उन्होंने कहा है कि 'वाग्वैब्रह्म' वाग्देवता ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्यने कहा कि ठीक है, जिस प्रकार माता जिस पुत्रका अच्छी तरह अनुशासन करने वाली हो, वह मातृमान् कहलाता है। इसके बाद जिसका पिता अनुशासन करने वाला है, वह पितृमान् कहलाता है उपनयनके बाद समावर्त्तन पर्यन्त जिसका अनुशासन आचार्य करता है, वह आचार्यवान् कहलाता है, जो आचार्य इस प्रकार त्रिविध शुद्धिसे विशिष्ट है, वह कभी अप्राणिक नहीं हो सकता, वह शिष्यके लिए जैसा उपदेश दे, ठीक वैसा ही उपदेश शैलिनिने दिया है—' वाग्वै ब्रह्मेति' क्योंकि वाणीके बिना पुरुष गूँगा कहलाता है उससे लोगोंका क्या अर्थ निकल सकता है ? अर्थात् कहे बिना ऐहिक या पारलौकिक किसी भी इष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती' किन्तु आप यह तो बताइये कि जित्वाने ब्रह्मका आयतन और प्रतिष्ठा भी आपसे कही है ? आयतन– आश्रय यानी शरीर कहलाता है और तीनों कालोंमें आश्रयको प्रतिष्ठा कहते हैं। जनक महराजने उत्तर दिया कि इसका उपदेश तो मुझे नहीं किया है। इसपर याज्ञ वल्क्यने कहा कि तब तो उन्होंने आपसे ब्रह्मके एक पादका ही निर्देश किया है और एकपाद ब्रह्मकी उपा-

सनासे इष्ट फलकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पादत्रयशून्य होनेसे वह उपासना अपूर्ण हो जाती है। तब जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! आप तो विद्वान् हैं, ब्रह्मके अवशिष्ट तीन पादका उपदेश कृपया हमें कीजिये। याज्ञवल्क्यने कहा कि वागिन्द्रिय ब्रह्मका आयतन है और आकाश (अव्याकृतावस्थ आकाश) उसकी प्रतिष्ठा—उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों कालोंमें आश्रय–है। प्रज्ञा रूपसे ही इसकी उपासना करनी चाहिए। 'प्रज्ञा' यह उपनिषद् ब्रह्मका चतुर्थ पाद है। जनकने कहा कि प्रज्ञता क्या है? क्या वह स्वयं ही प्रज्ञा है, या प्रज्ञाका निमित्त है? जैसे आयतन तथा प्रतिष्ठा ब्रह्मसे भिन्न हैं, वैसे ही क्या प्रज्ञा भी उससे भिन्न है या नहीं? मुनिने उत्तर दिया कि हे राजन्! नहीं, वाणी ही प्रज्ञता है, अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि वाणीसे ही बन्धु, मित्र, अपने, पराये सब जाने जाते हैं, वाणीसे ही ऋग्वेदादि, इतिहास, पुराण, पशुविद्या, वृत्तविद्या, भूगोलविद्या, अध्यात्मविद्या, श्लोकबद्धकाव्य, अति संक्षिप्त सारवाले सूत्र, विविधयागसंबन्धीधर्म, अन्नदाननिमित्त धर्म, पानदाननिमित्तधर्म, पृथिवीलोक, सूर्यलोक, उनलोकोंके अन्दर विद्यमान आकाशादि महाभूत तथा उन महाभूतोंमें स्थित प्राणी आदि सृष्टि सब जाने जाते हैं, अतः हे राजन्? वाणी पर ब्रह्म है। एवंभूत ब्रह्मवेत्ताको वाणी नहीं छोड़ती। समस्त प्राणी इसका अनुसरण करते हैं, जो पुरुष इसको इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह शरीर त्यागनेके अनन्तर देव होकर देवोंमें ही जाता है अर्थात् उपास्य देवरूप हो जाता है, इसपर जनकने कहा कि विद्यानिष्क्रयके लिए मैं आपको–जिनसे हाथीके समान बैल उत्पन्न हों ऐसी–सहस्र गौएँ देता हूँ, क्योंकि गुरु शुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा। (गुरुकी सेवासे या विपुल धनसे विद्याका उपार्जन करना चाहिए) वाक्य से विपुल धन देना समुचित था। याज्ञवल्क्यने कहा कि मेरे पिताका यह सिद्धान्त था कि शिष्यको अनुशासनसे कृतार्थ करके ही धन लेना चाहिए अन्यथा नहीं, मेरा भी यही सिद्धान्त है, अतः आपको शिक्षा द्वारा कृतार्थ करके ही धन लूँगा, उससे पहिले नहीं ले सकता। क्योंकि 'हरहिं शिष्य धन शोक न हरहीं। सो गुरु घोर नरक में परहीं, इत्यादि बचन सन्तोंने कहे हैं॥ २॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्र-

वीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट्कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुनः याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा कि हे राजन्! जो कुछ आपसे किसीने कहा है, उसको मैं सुनना चाहता हूँ। इसका जनकने उत्तर दिया कि हे याज्ञवल्क्य! शुल्व ऋषिके पुत्र उदङ्कने मुझसे कहा कि प्राण ही ब्रह्म है। यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि शौल्वायनने ठीक कहा है, जैसे जननी, जनक तथा आचार्यके द्वारा भलीभाँति शिक्षित पुरुष अपने शिष्यको उपदेश करे, वैसे ही शौल्वायनने आपसे कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणरहित पुरुषसे क्या लाभ हो सकता है? परन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठाको भी बताया है? जनकने कहा कि नहीं। तब याज्ञवल्क्यने कहा कि हे सम्राट्! यह उपदेश एक पादके ब्रह्मका है। यह सुनकर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! यदि ऐसी बात है तो कृपया आप उसे बतलावें कि प्राणका आयतन तथा प्रतिष्ठा क्या है? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि प्राण ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। प्रिय रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये। 'प्रिय' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! प्रियता क्या है? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे राजन्! प्राण ही प्रियता है; हे राजन्! प्राणके लिए ही अयाज्यसे—प्रतिपादकोंसे भी यज्ञ कराते हैं तथा प्रतिग्रहके अयोग्य उग्र (उद्दण्ड) आदि पुरुषसे भी दान लेते हैं और जिस दिशामें जाते हैं, उसमें चोर तथा लुटेरादिकोंसे वधकी आशंका करते हैं। हे सम्राट् यह सब प्राण ही परब्रह्म है। जो विद्वान् इस प्राणकी इस तरह

उपासना करता है, उसे प्राण नहीं छोड़ता। सब भूत उसका अनुशरण करते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है। इसपर राजाने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! मैं आपको हाथीके समान बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि मेरे पिताका यह सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेश द्वारा कृतार्थ किये विना उसका धन नहीं लेना चाहिए॥ ३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ४॥

भावार्थ—पुनः याज्ञवल्क्य जनकसेने कहा कि हे राजन्! जो कुछ आपसे किसीने कहा है, उसको मैं सुनना चाहता हूँ। इसका उत्तर जनकने दिया कि हे याज्ञवल्य! वृष्ण ऋषिके पुत्र वर्कुने मुझसे कहा कि नेत्र ही ब्रह्म है। यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि वृष्णकुमारने ठीक कहा है जैसे जननी, जनक तथा आचार्यके द्वारा भलीभाँति शिक्षित पुरुष अपने शिष्यको उपदेश करे वैसे ही वृष्णकुमारने कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि नेत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि नेत्ररहित पुरुषसे क्या लाभ हो सकता है? किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठाको भी बताया है? जनकने कहा कि नहीं, तब याज्ञवल्क्यने कहा कि हे सम्राट्! यह उपदेश एक पादके ब्रह्मका है। यह सुनकर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! यदि ऐसी बात है तो

आप उसे बतलावें कि नेत्रका आयतन तथा प्रतिष्ठा क्या है ? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि नेत्र ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। सत्य रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये। 'सत्य' यह उसका चतुर्थपाद है। जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य। सत्यता क्या है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे राजन! नेत्र ही सत्यता है, क्योंकि हे सम्राट्! नेत्र से देखनेवालेसे पूछा जाय कि क्या तूने देखा है ? इसपर यदि वह कहे कि मैंने देखा है तो वह बात सत्य होती है। हे राजन्! नेत्र ही पर ब्रह्म है। जो विद्वान् इस नेत्रकी इस तरह उपासना करता है, उसे नेत्र नहीं छोड़ता। सब भूत उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है, इसपर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! मैं आपको हाथीके समान बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ. यह सुनकर मेरे पिताका यह सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं लेना चाहिए ॥ ४ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यश्रृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुनः याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा कि हे राजन! जो कुछ आपसे

किसीने कहा है, उसको मैं सुनना चाहता हूँ। इसका उत्तर जनकने दिया कि हे याज्ञवल्क्य! भरद्वाज गोत्रोत्पन्न गर्दभी विपीतने मुझसे कहा है कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा गर्दभी विपीतने ठीक कहा है। जैसे जननी, जनक तथा आचार्यके द्वारा भलीभाँति शिक्षित पुरुष अपने शिष्यको उपदेश करे वैसे ही गर्दभी विपीतने कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रोत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि श्रोत्र रहित पुरुषसे क्या लाभ हो सकता है। किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठाको भी बताया है? जनक ने कहा कि नहीं। तब याज्ञवल्क्यने कहा हे सम्राट्! यह उपदेश एकपादके ब्रह्मका है। यह सुनकर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! यदि ऐसी बात है तो आप उसे बतलावें कि श्रोत्रका आयतन तथा प्रतिष्ठा क्या है?। इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि श्रोत्रही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। अनन्तरूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये। 'अनन्त' यह उसका चतुर्थपाद है। जनकने कहाकि हेयाज्ञवल्क्य! अनन्तता क्या है?। याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे राजन्! दिशाएँ ही अनन्तता हैं। अतएव हे सम्राट्! कोई भी जिस किसी दिशाको जाता है, वह उसका अन्त नहीं पाता, क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं। और हे सम्राट्! दिशाएँ ही श्रोत्र है। श्रोत्रही परब्रह्म है। जो उपासक इसकी इसतरह उपासना करता है, श्रोत्र उसको कभी नहीं छोड़ता सब भूत उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है। इसपर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! मैं आपको हाथीके समान बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि मेरे पिताका यह मत था कि शिष्यको उपदेशद्वारा कृतार्थ किये विना उसका धन नहीं लेना चाहिये ॥ ५ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स

आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति च एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ६ ॥

भावार्थ—पुनः याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा कि हे राजन् ! जो कुछ आपसे किसीने कहा है, उसको मैं सुनना चाहता हूँ, इसका उत्तर जनकने दिया कि हे याज्ञवल्क्य ! जबालाके पुत्र सत्यकामने मुझसे कहा है कि मनही ब्रह्म है। मुनिने कहा कि ठीक है जैसे जननी, जनक तथा आचार्यके द्वारा भलीभाँति शिक्षित पुरुष अपने शिष्यको उपदेश करे, वैसेही सत्यकामने कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मन ही ब्रह्म है, क्योंकि मनके विना क्या हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठाको भी बताया है ?। जनकने कहा कि नहीं। तब याज्ञवल्क्यने कहा कि हे सम्राट्। यह उपदेश एकपादके ब्रह्मका है, यह सुनकर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यदि ऐसी बात है तो आप उसे बतलावें कि मनका आयतन तथा प्रतिष्ठा क्या है ?। इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि मन ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। आनन्दरूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये। 'आनन्द' यह उसका चतुर्थपाद है। जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! आनन्दता क्या है ?। याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे राजन् ! मनही आनन्दता है, क्योंकि पुरुष मनसेही स्त्रीकी प्रार्थना करता है, उससे अपने सदृश पुत्र पैदा होता है, वह आनन्द—आनन्ददायक है। हे सम्राट् ! मनहीं परब्रह्म है। जो पुरुष इसप्रकार जानता हुआ इसकी उपासना करता है, उसको मन कभी नहीं छोड़ता। समस्त प्राणी उसका अनुसरण करते हैं, वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है। इसपर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको हाथीके समान बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि मेरे पिताका यह सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेशद्वारा कृतार्थ किये विना उसका धन नहीं लेना चाहिये ॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि

किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवी-दित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳहृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रति-ष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽम-न्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुनः याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा कि हे राजन्! जो कुछ आपसे किसीने कहा है, उसको मैं सुनना चाहता हूँ। इसका उत्तर जनकने दिया कि हे याज्ञवल्क्य! शाकलकुमार विदग्धने मुझसे कहा है कि हृदय ही ब्रह्म है। मुनिने कहा कि ठीक है, जैसे जननी, जनक तथा आचार्यके द्वारा शिक्षित पुरुष अपने शिष्यको उपदेश दे, वैसे ही शाकल्यने कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि हृदय ही ब्रह्म है, क्योंकि हृदयशून्य पुरुषको क्या लाभ हो सकता है, अर्थात् कुछ नहीं। किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बताये हैं? जनकने कहा कि नहीं। तब याज्ञवल्क्यने कहा कि हे सम्राट्! यही उपदेश एकपादके ब्रह्मका है। यह सुनकर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! यदि ऐसी बात है तो आप उसे बतलावें कि हृदयका आयतन तथा प्रतिष्ठा क्या है? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि हृदय ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। स्थितिरूपसे इसकी उपासना करना चाहिये। जनकने कहा कि स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे राजन्! हृदय ही स्थितता है, क्योंकि हे सम्राट्! हृदय ही सब भूतोंका आयतन—स्थान है। हे सम्राट्! हृदय ही सब प्राणियोंकी प्रतिष्ठा—आश्रय है, कारण कि सब भूत हृदयमें ही प्रतिष्ठित—स्थित हैं। हे सम्राट्! हृदय ही परब्रह्म है, जो इस प्रकार

जानता हुआ इस हृदयरूपी ब्रह्मकी उपासना करता है, उस उपासकको हृदयात्मक ब्रह्म कभी नहीं छोड़ता । सब प्राणी उसका अनुसरण करते हैं, वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है । इसपर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको हाथीके समान बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ । यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा कि मेरे पिताका यह सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेशद्वारा कृतार्थ किये विना उसका धन नहीं लेना चाहिये ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—एक-एक पादका उपदेश तो तत्-तत् उपदेश करनेवाले आचार्योंने किया है, अवशिष्ट पादत्रयका यथार्थ उपदेश याज्ञवल्क्यने किया है। जैसे जित्वा शैलिनिने कहा कि वाणी ही ब्रह्म है, किन्तु उसने आयतन आदि पादत्रयका उपदेश नहीं किया । अपूर्ण ब्रह्मकी उपासनासे अभीष्ट सिद्धि नहीं होती, अतः अवशिष्ट तीन पादोंका उपदेश याज्ञवल्क्यने किया । 'वाग् वै ब्रह्म' इसमें वाक् तत्-तत् इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ अग्नि-आदि देवतापरक है । वाक् देवता अग्नि है, इसमें 'अग्नि र्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' यह श्रुति प्रमाण है । उक्त देवताका आधार तदिन्द्रिय द्वितीय पाद है । 'आकाशः प्रतिष्ठा' इससे उसके आधाररूपसे उक्त अव्याकृत तृतीय पाद है । प्रज्ञादि नामक चतुर्थ पाद है । प्रथम पर्यायके समान उत्तर पाँच वाक्योंमें देवता, आयतन, प्रतिष्ठा और उपनिषद् ये चार पदार्थ अवश्य ज्ञातव्य हैं । 'मातृमान्' इत्यादि विशेषणोंसे जित्वा शैलिनि यथार्थवक्ता हैं, यह सूचित किया गया है । इसी तरह अग्रिमवाक्योंमें भी मातृमान् इत्यादिका अभिप्राय जानना चाहिये । विना बोले संसारमें कोई भी दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसीलिये समस्त पुरुषार्थसाधक वाणी ही ब्रह्म है । आयतनादि उपदेश के विना एकपाद ही ब्रह्मका निर्देश होता है, वह अपूर्ण है । अपूर्ण ब्रह्मकी उपासनाका फल नहीं है । अपूर्ण उपासना व्यर्थ है । यहाँ विराडात्माकी उपासना कही गई है । चतुष्पाद ब्रह्म सर्वात्मकस्वरूप है, इस चिन्तनसे उपासक समस्त प्राणियोंसे स्तुत होता है । कार्यकारणात्मक सब जगत् देवतारूपसे कहा गया है, अतः अग्न्यादि देवताओंमें सब जगत् उपास्यत्वेन विवक्षित है । एक उपासनासे अनेक देवत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये छः प्रकृत उपासनाओंमें 'देवान्' इस बहुवचन श्रुतिसे 'एक पर्यायोपासना अन्य पर्यायोपासनासे अभिन्न है', यह सूचित किया गया है । अब ब्रह्मविद्याकी अपेक्षा उपासनामें स्फुट विलक्षणता को कहते हैं—जैसे ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिसे पहिले भी जीव ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, वैसे प्रकृत उपासनासे पहिले उपासक उपास्य अग्न्यादिके स्वरूपको प्राप्त

नहीं होता, किन्तु उपासनाके बाद ही उपास्यस्वरूप होता है, ब्रह्मविद्या प्राप्त-प्रापक है और प्रकृत उपासनायें अप्राप्तप्रापक हैं। अधिकारी के भेदसे फलमें भी विलक्षणता है। मुमुक्षु पूर्वमें भी ब्रह्मस्वरूप है। केवल अविद्या व्यवधायक है। उपासक उपासनासे पहिले अदेव रहता है, उपासनासे देव होता है। ज्ञान और उपासनाके स्वरूप में भी भेद है। उपासना मानसी क्रिया है, इसलिए वह पुरुषतन्त्र है, ज्ञान वस्तुतन्त्र है। विषय द्वारा भी दोनोंमें भेद स्पष्ट है—उपासना विभिन्नार्थ विषयक है और विद्या एकरस विषयक है। उपासनाकालमें निरन्तर अग्न्यादि देवताओंके ध्यानसे उपासक अपने को तत् तत् देवतास्वरूप मानता है, मृत्युके बाद तादृश भावनावश तत्-तत् देवतास्वरूपको प्राप्त होता है। गीतामें भी यह बात स्पष्ट लिखी है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

प्रत्येक मंत्रोंके भाष्यमें लिखा है कि अकृतार्थ शिष्यसे दक्षिणा लेना उचित नहीं है, तो याज्ञवल्क्यने पहिले एक सहस्र गौओंको क्यों लिया ? उत्तर यह है कि—वह ब्रह्मवेत्ताओं की परीक्षाका काल था। उपस्थित विद्वानों पर जो विजय प्राप्त करे, वही उन गौओंको ले जा सकता था, याज्ञवल्क्यने सबपर विजय प्राप्त की, अतः उनका लेना उक्त अभिप्रायके विरुद्ध नहीं था। पुनर्दक्षिणा गुरुदक्षिणा है, उसे कृतार्थ होनेपर ही ग्रहण करना मुनिका अभिप्राय था। मुक्तिफलक अनुशासनसे शिष्य कृतार्थ होता है। तादृश अनुशासन अभीतक नहीं हुआ, अतः जनककी दक्षिणा अभी ग्राह्य नहीं है, तत्वज्ञानसे ही पुरुषार्थ प्राप्ति होती है। तत्वज्ञान अभी जनकको नहीं हुआ। याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा कि हे राजन्! जिसके ज्ञात होनेपर सब ज्ञात हो जाता है, सब कर्तव्य कृत हो जाता है, प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है और त्याज्य त्यक्त हो जाता है, वही मुख्य अनुशासन है। यह केवल पिताजीका ही मत नहीं किन्तु मेरा भी यही मत है, क्योंकि सब वस्तु ब्रह्मात्मक हैं, इसलिए ब्रह्मदृष्टि सम्यग्दृष्टि है, अन्य बुद्धि मिथ्याबुद्धि है। यदि ऐसा है तो तत्वज्ञान-का ही उपदेश देना उचित था, प्रकृत उपासनाओं में मुनिकी सम्मति क्यों हुई ? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्यादि श्रुति वाक्यसे सब कार्य मोक्षज्ञानजनक हैं अतः प्रकृत उपासनायें तदुपयोगी हैं। इस-लिये मुनिकी सम्मति उक्त उपासनाओंमें ठीक ही है। प्रत्येक मंत्रोंमें 'सम्राट्' यह

राजसूय यज्ञ करनेवालेका सूचक है, जो अपनी आज्ञासे राज्यपर शासन करता है या समस्त भारतवर्षका राजा होता है वह सम्राट् कहा जाता है। इस आशयसे याज्ञवल्क्यने सम्राट् ऐसा सम्बोधन किया ॥ १—७ ॥

—❀❀❀—

द्वितीय ब्राह्मण

द्वितीय ब्राह्मणमें जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति दशा द्वारा आत्मज्ञानके लिये प्रत्यगभिन्न आत्माका अनुशासन किया जाता है।

ॐ जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥ १ ॥

भावार्थ—विदेहपति जनकने सिंहासनसे उठ मुनिके समीप जाकर कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, आप मुझको उपदेश दें। तब उस मुनिने कहा कि हे राजन् ! जैसे लम्बे मार्गको जानेवाला पुरुष रथ या नावका आश्रयण करे, वैसे ही तुम पूर्वोक्त उपासनायें करके समाहितचित्त हो गये हो, और वैसे ही पूज्य, धनी, अधीतवेद तथा उक्त उपनिषद्से युक्त हो गये हो। इतना होनेपर भी तुम इस देहसे छूटकर कहाँ जाओगे ? जनकने कहा कि हे भगवन् ! जहाँ जाऊँगा, उसे मैं नहीं जानता। इसपर याज्ञवल्क्यने कहा कि जहाँ जाओगे उसे मैं तुमसे अवश्य कहूँगा। यह सुनकर जनकने कहा कि भगवन् ! आप उसे अवश्य कहें ॥ १ ॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

भावार्थ—जो यह दहिनी आँखमें पुरुष है, यही निस्सन्देह इन्ध नामवाला है, उसी प्रसिद्ध इस सत्य पुरुषको परोक्षरूपसे इन्द्र कहते हैं। क्योंकि देवगण मानो परोक्षप्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तुसे द्वेष करनेवाले होते हैं ॥ २ ॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

भावार्थ—इसके बाद जो यह पुरुषाकार बायें नेत्रमें प्रतीत होती है, यह उस पुरुषकी विराट् नामक स्त्री है। जो यह हृदयके भीतर आकाश है, यही उन दोनोंके मिलनेका स्थान है, जो यह हृदयके भीतर लाल मांसपिंड है, यही इन दोनोंका अन्न है और जो यह हृदयके भीतर जालके समान है, यही उन दोनोंका प्रावरण (ओढ़ना) है और जो यह हृदयसे ऊपर नाड़ी जाती है, यही इन दोनोंके गमनका मार्ग है। जैसे सहस्रधा विभक्त हुआ केश अति सूक्ष्म होता है वैसे ही ये हिता नामकी नाड़ियाँ हृदयके भीतर अति सूक्ष्म स्थित हैं। निस्संदेह इन नाड़ियोंके द्वारा ही यह अन्नरस जाता हुआ शरीरमें सब जगह पहुँचता है। अतएव इस स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानरसे यह सूक्ष्म देहाभिमानी तैजस अति सूक्ष्म आहार ग्रहण करनेवाला ही होता है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—वाम नेत्रमें जो पुरुष है, वही इस पुरुषकी पत्नी विराट् है, जिस वैश्वानररूप आत्माको आप प्राप्त हैं, उस भोक्ता इन्द्रकी यह भोग्य पत्नी है। इन्द्राणी सहित इन्द्र–इन दोनोंका युगल दक्षिण वामनेत्रस्थ पुरुषद्वय है। यह अन्न और अत्ताका युगल स्वप्नमें हैं। जो हृदयके भीतर आकाश है, वह इन्द्र इन्द्राणीका संगम स्थान है, जिसमें मिलकर परस्पर संगम होता है। हृदय शब्दसे यहाँ मांसपिण्ड विवक्षित है, जो हृदयके भीतर लोहित पिण्ड

यानी सूक्ष्म अन्नरस है, वह इन दोनोंका भोज्य यानी स्थितिहेतु है। भुक्त अन्न दो प्रकारसे परिणत होता है, जो स्थूल है, वह मल होकर नीचे गिर जाता है और जो उससे भिन्न सूक्ष्म है, वह अग्निसे पच्यमान होकर दो रूपोंमें परिणत होता है, जो मध्यम रस है वह लोहित क्रमसे पाञ्चभौतिक शरीरपिण्डको बढ़ाता है, जो अणिष्ठरस है, वही लिङ्गात्मा इन्द्रका लोहित पिण्ड है। जिसको तैजस कहते हैं, वही हृदय सूक्ष्म नाड़ियोंमें प्रविष्ट होकर मिथुनीभूत इन्द्र तथा इन्द्राणीका स्थितिहेतु होता है। जो हृदयमें अनेक नाडीरूप छिद्राधिक्यसे जालके समान है, वही इन दोनोंका प्रावरण है। और जो हृदयदेशमें ऊर्ध्वाभिमुखी नाड़ी है वही इन दोनोंके चलनेका मार्ग है । शेष भाष्य भावार्थके ही समान है ॥ ३ ॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्राची दिशा उस विद्वान्के पूर्व प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, प्रतीची दिशा पश्चिम प्राण हैं, उदीची दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण हैं, नीचेकी दिशा नीचेके प्राण हैं तथा समस्त दिशायें समस्त प्राण हैं। वह यह नेति-नेति शब्दसे कहा गया आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह अक्षीण है, क्योंकि कभी क्षीण नहीं होता, वह सङ्गरहित है, क्योंकि कभी आसक्त नहीं होता, वह बन्धनशून्य है, क्योंकि कभी पीड़ित नहीं होता तथा कभी हिंसित नहीं होता। याज्ञवल्क्यने कहा कि हे जनक ! तुम अवश्य अभय पदको प्राप्त हो चुके हो। इसपर विदेहपति

जनकने कहा कि हे भगवन् याज्ञवल्क्य ! जिन आपने मुझे अभय ब्रह्मका ज्ञान कराया है, उन आपको अभय पद प्राप्त हो, आपको नमस्कार है, ये विदेह देश तथा हम सब आपके अधीन हैं॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—क्रमसे वैश्वानरसे तैजसको, तैजससे हृदयात्माको तथा हृदयात्मासे प्राणात्मभावको प्राप्त हुए उस विद्वान्के प्राची दिशा पूर्वंगत प्राण हैं। अग्रिम व्याख्यान पूर्ववत् है। इस तरह विद्वान् क्रमसे सर्वात्मक प्राणको आत्मा मानता है। वह सर्वात्माका प्रत्यगात्मामें उपसंहार कर द्रष्टाके दृष्ट स्वरूप 'नेति नेति' से निर्दिष्ट आत्माको जानता है। इसको विद्वान् क्रमसे जानता है। 'नेति नेति' यहाँसे लेकर 'न रिष्यति' यहाँ तकका व्याख्यान पूर्ववत् है। मुनिने राजासे कहा कि हे राजन्! तुम जन्म और मरणादिके भयसे शून्य हो गये। अब अवश्य अभय पदको तुम जाओगे। विदेहराज जनकने कहा कि हे पूज्य याज्ञवल्क्य! आपने उपाधिकृत अज्ञानके व्यवधानका निराकरण किया है, इस विद्याप्रदानका मूल्य मैं आपको नहीं दे सकता हूँ। साक्षात् आत्मज्ञान देनेवाले को आत्मासे अधिक या आत्माके समान संसारमें कोई वस्तु नहीं है, जो मूल्यरूपसे दी जाय, इसलिए आपको नमस्कार है। सविनय आपसे यही निवेदन करता हूँ कि समस्त विदेह राज्य आपका है और मैं आपका सेवक हूँ, अतः मेरे ऊपर सेवकदृष्टिसे आप इस राज्यका यथेष्ट उपभोग अपना समझकर कीजिये।

अपरंच—उक्त उपासनाओंसे देवभावकी प्राप्ति होती है, यह 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इस वाक्यसे कह चुके हैं, इसलिए इस विषयमें प्रश्न नहीं है। देव-भाव प्राप्त होनेपर वह भी तो नित्य नहीं है, उसका भी देहवत् त्याग करना ही होगा, पुनः आप कहाँ जायेंगे? जनकके प्रति मुनिका यह प्रश्न है। जनकने उत्तर दिया कि हे भगवन्! मैं नहीं जानता कि कहाँ जाऊँगा। उक्त उपासनाओंके दो फल हैं—एक देवप्राप्ति और दूसरा मोक्ष, प्रथम फलका ज्ञान तो जनकको है किन्तु द्वितीय फलका ज्ञान नहीं है, अतः जनकने उत्तर दिया कि नहीं जानता। पर ब्रह्मविद्याप्रकरणमें इन उपासनाओंका विधान है, इसलिए ये उपासनायें क्रम-मुक्तिफलक हैं, यह इस प्रश्नवाक्यसे ही सूचित होता है। जनक यह नहीं जानते थे कि इन उपासनाओंका फल ब्रह्मभाव भी है, अतः 'मैं नहीं जानता' यह उनका उत्तर भी ठीक ही है। मुनिके आत्मोपदेशके बाद जनकने कहा कि भगवन्! आपने जो उपदेश दिया, उसका पूर्ण अनुभव मुझको हुआ। उत्तम दक्षिणा आशीर्वाद है, मध्यम दक्षिणा नमस्कार है। विदेहराज्य तथा स्व शरीरका दान वित्तशाठ्य

यानी कृपणताकी निवृत्तिके लिए है। वस्तुतः इसका तात्पर्य यह है कि आपके आत्मैकत्वके उपदेशसे यह निश्चित हुआ है कि आप हम हैं और हम आप हैं, इसलिए हमारा राज्य भी आपका ही है। हम और आपमें जब भेद नहीं रहा, तब यह राज्य किसका कहें ? यदि हमारा है, तो आपका ही है। यदि राजाका यह तात्पर्य है, तो यही कहना पड़ेगा कि राजाको तत्वज्ञान हुआ ही नहीं। आत्मैकत्व विज्ञान होनेपर राज्यज्ञान तथा उसमें ममता यदि अभी बनी है, तो तत्वज्ञान कहाँ ? एवं देय, दान, सम्प्रदान आदि भेदज्ञानके विना तादृश उक्तिकी संभावना नहीं है। हाँ, ठीक है। यह सब निरूपण व्यावहारिक दृष्टिसे किया गया है। तत्वदृष्टिसे न दक्षिणा ही है, न प्रतिग्राह्य ही है। मैं हूँ, यह मेरा है इत्यादि ज्ञान अविद्यासे होता है। इसकी हेतु अविद्या जब तत्वज्ञानसे नष्ट हो गई, तब जीवन्मुक्त पूर्णात्मामें अवस्थित हो जाता है, इसलिए कौन किसको क्या देनेकी इच्छा करेगा ? उक्त ज्ञानसे क्रिया, फल तथा उसके साधन आदि द्वैत ज्ञानका उपमर्दन हो जाता है, अतः सब कथन विद्यास्तुति और आचार प्रदर्शनके लिए कहा गया है ॥ १-४ ॥
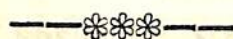
तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यने जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूप तीन अवस्थाओंके उपन्यास द्वारा राजा जनकको अभयपद प्राप्त कराया। अब आगे वक्तव्य यह है कि द्वितीय ब्राह्मणमें स्वप्न, सुषुप्तिका कथन अति संक्षेपमें किया है। जनककी बुद्धि अति तीक्ष्ण थी, अतः उनको संक्षेपसे भी ज्ञान हो गया। सर्व साधारणको तावन्मात्रसे ज्ञान नहीं हो सकता, अतः सर्व साधारणको ज्ञानकी प्राप्तिके लिए तृतीय ब्राह्मणमें उक्त अवस्थाओंका विस्तारसे वर्णन किया जाता है—

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥१॥

भावार्थ—एक समय याज्ञवल्क्य विदेहपति राजा जनकके पास गये, ऐसा

विचार करते हुए कि आज कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु पहिले कभी विदेहपति जनक और याज्ञवल्क्यने आपसमें अग्निहोत्रके विषयमें संवाद किया था। उस समय याज्ञवल्क्यने उसे वर दिया था और जनकने इच्छानुसार प्रश्न करना ही माँगा था। यह वर याज्ञवल्क्यने उसे दे दिया था, इसी कारण उनसे जनकने पहिले ही बिना आज्ञा पूछना आरम्भ किया ॥ १ ॥

वि० वि०भाष्य—किसी समय याज्ञवल्क्य अपने मनमें वह विचार निश्चित कर जनकके पास चले कि आज मैं जनकको कुछ भी उपदेश नहीं करूँगा, केवल शान्तिपूर्वक बैठा हुआ जो कुछ वह कहेंगे उसको सुनता रहूँगा। जब मुनि जनकके पास पहुँचे तब जनकने जीवात्माके विषयमें प्रश्न किया, उसका उत्तर मुनिने दिया। इसपर शंका होती है कि जब याज्ञवल्क्यने मनमें निश्चय कर लिया था कि मैं कुछ न कहूँगा, तो पुनः राजाके प्रश्नका उत्तर क्यों दिया ? इसका समाधान भगवती श्रुति स्वयं करती है कि एक समय जब कर्मकाण्डमें बहुत सन्त महात्मा प्रवृत्त थे उस समय अग्निहोत्रके विषयमें जनक तथा अन्य राजा, याज्ञवल्क्य और अन्य मुनिवृन्द परस्पर संवाद करने लगे, उस समय जनककी दक्षता देख संतुष्ट हो याज्ञवल्क्यने राजासे कहा कि तुम जो चाहो सो वर मागो। इस पर राजाने कहा कि मैं यही वरदान चाहता हूँ कि जो मैं पूछूँ, उसका कृपया आप उत्तर दें। याज्ञवल्क्यने उनको वही वरदान दिया, यानी मुनिने कहा कि हे राजन्, जब तुम चाहो मुझसे प्रश्न कर सकते हो, अतः महर्षि याज्ञवल्क्यको अपनी इच्छाके विरुद्ध बोलना ही पड़ा ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति। आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

भावार्थ—राजाने मुनिसे कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे सम्राट् ! यह पुरुष आदित्यरूप ज्योतिवाला है, क्योंकि यह आदित्यरूप ज्योतिसे ही बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके पुनः अपने स्थानपर लौट आता है। इसपर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसी ही बात है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यका सम्बोधन कर जनकने पूछा कि यह

पुरुष 'किंज्योति' है ? यानी किसके प्रकाशसे यह प्रकाशित होता है ? प्रकृतमें पुरुष शब्द कार्यकारणसंघातस्वरूप हस्तपादादि विशिष्टपरक है। प्रश्नका तात्पर्य यह है कि स्वावयवसंघातसे बाह्य किसी दूसरी ज्योतिसे पुरुष अपना व्यवहार करता है या शरीरान्तर्वर्ती ज्योतिसे अपना सब काम किया करता है। राजा यद्यपि स्वयं बुद्धिमान् था तथापि मुनिसे पूछना ठीक ही है, क्योंकि पुरुषोंके विज्ञान तथा कुशलताका तारतम्य होना संभव है, अथवा पुरुषकी बुद्धिका अनुमान करनेवाली भगवती श्रुति आख्यायिकाव्याजसे प्रकृत प्रश्नके उत्तरको स्वयं प्रतिपादन करती है। (इसमें राजा या मुनि किसीकी भी बुद्धिकी कुशलता अभिप्रेत नहीं है।) जनकके तात्पर्यके ज्ञाता मुनिने भी देहादिसे व्यतिरिक्त आत्मज्योतिका बोध करानेके लिए जनकको व्यतिरिक्त ज्योतिका प्रतिपादक लिङ्ग बतलाया, यथा—हे राजन्! वह प्रसिद्ध आदित्य ज्योतिवाला है। किस प्रकार आदित्य ज्योतिवाला है, सो कहते हैं—स्वावयव संघातव्यतिरिक्त नेत्रकी अनुग्राहक आदित्य-ज्योतिसे प्राकृत पुरुष उपवेशनादिको करता है, उसी ज्योतिसे पुरुष क्षेत्र या जङ्गलमें जाता है, वहाँ जाकर उसके उचित अपने कार्योंको करता है, पुनः घर लौट आता है। इसपर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है॥ २॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥३॥

भावार्थ—राजाने मुनिसे कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! सूर्यके अस्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ? यानी तब यह पुरुष किसके प्रकाशसे अपना व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे सम्राट्! यह पुरुष चन्द्ररूप ज्योतिवाला है, क्योंकि यह चन्द्ररूप ज्योतिसे ही बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके पुनः अपने स्थानपर लौट आता है। इसपर जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य, यह ऐसी ही बात है॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे याज्ञवल्क्य, सूर्यके अस्त होनेपर तथा चन्द्रमाके अस्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ? यानी तब यह पुरुष किसके प्रकाशसे अपना व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे सम्राट् ! यह पुरुष अग्निरूप ज्योतिवाला है, क्योंकि यह अग्निरूप ज्योतिसे ही बैठता है, इधर उधर जाता है कर्म करता है तथा कर्म करके पुनः अपने स्थानपर लौट आता है। इसे सुन जनकने कहा कि हे याज्ञवल्क्य, यह ऐसी ही बात है ॥ ४ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे याज्ञवल्क्य, आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर तथा अग्निके शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ? यानी तब यह पुरुष किसके प्रकाशसे अपना व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे सम्राट् ! यह पुरुष वाणीरूप ज्योतिवाला है, क्योंकि यह वाणीरूप ज्योतिसे ही बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके पुनः अपने स्थानपर लौट आता है। अतएव हे सम्राट् ! जहाँ अपना हाथ भी नहीं दिखलाई देता है किन्तु जहाँ वाणी उच्चरित होती है वहाँ अर्थात् उस अन्धेरेमें पुरुष वाणी उच्चारण करके पास चला जाता है। यह सुनकर जनकने कहा कि यह ऐसी ही बात है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—सूर्य चन्द्रमाके अस्त होने पर तथा अग्निके भी शान्त होनेपर पुरुष किं ज्योति है ? याज्ञवल्क्यने कहा कि हे राजन् ! वाणीज्योति है। जिस प्रकार मेघमण्डल युक्त, वर्षाकालीन निविड अन्धकारयुक्त निशीथमें भ्रान्त कोई पुरुष मार्ग पूछता है कि किस मार्गसे अमुक ग्राममें जा सकते हैं, तो उत्तर मिलता है कि इधरसे जाओ। वाणी सुनकर उसको यह अनुमान होता है कि अमुक दिशासे, इतनी दूरसे, यह शब्द आया है, इसलिए इधर ही चलना चाहिए। तब उसके अभिमुख गतिसे उस स्थानपर पहुँच जाता है। अतीत तथा अनागत सूक्ष्म

आदि की प्रकाशिका तो वाणीऽयोति प्रसिद्ध ही है। वाणीसे वागिन्द्रिय विवक्षित नहीं है, किन्तु उसका विषय शब्द विवक्षित है। शब्दसे श्रोत्रेन्द्रिय दीप्त होती है। उक्त इन्द्रियके दीप्त होनेपर मनमें विवेक उत्पन्न होता है। उस मनसे बाह्य चेष्टाका यानी स्वानुकूल गत्यादिका ज्ञान होता है। मनसे देखता है, मनसे सुनता है, मनके समवधानके बिना तत् तत् इन्द्रियोंसे तत् तत् विषयका ज्ञान नहीं होता, यह अनुभव सिद्ध ही है। 'वाचैवायं ज्योतिषा आस्ते' इत्यादि श्रुतिसे वाणीमें ज्योतिष्ट्व प्रसिद्ध है। वाणीसे कर्म करता है, वाक् गन्धादिका उपलक्षण है। गन्धादिसे घ्राणादिका अनुग्रह होता है और उसके अनुकूल प्रवृत्ति आदि भी होती है, इसलिए इनसे भी कार्यकरणसंघातका अनुग्रह होता है। इसपर जनकने कहा कि हाँ यह ऐसी ही बात है ॥ ५ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे याज्ञवल्क्य, सूर्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर, अग्निके शान्त होनेपर तथा वाणीके भी शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला रहता है? यानी उस समय यह पुरुष किसके प्रकाशसे अपना व्यवहार करता है? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि हे सम्राट्, उस समय आत्मा ही इस पुरुषकी ज्योति होता है। क्योंकि यह आत्मज्योतिसे ही बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके पुनः अपने स्थानपर लौट आता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्रमें 'किंज्योतिः' इस प्रश्नका उत्तर 'आत्मज्योतिः' ऐसा कहा गया है। तात्पर्य इसका यह है कि वाणी तथा तदुपलक्षित गन्धादि अनुग्राहक विषयोंके शान्त होनेपर पुरुषकी प्रवृत्ति निवृत्ति आदिका निरोध हो जाता है। जाग्रत् विषयोंमें इन्द्रियोंकी बहिर्मुख प्रवृत्ति होती है, जिस समय आदित्यादिकी ज्योतिसे चक्षुआदि अनुगृहीत होते हैं, उस समय पुरुषका व्यवहार स्फुटतर होता है, उस समय जागरित अवस्थामें स्वावयवसंघातसे व्यतिरिक्त ज्योतिसे ही पुरुषज्योतिसे होनेवाले कार्योंकी सिद्धि होती है। इसलिए समस्त बाह्य ज्योतियोंके अस्तसमयमें स्वप्न, सुषुप्त तथा जाग्रत्कालमें उस अवस्थामें स्वावयव-

संघातसे व्यतिरिक्त ज्योतिसे ही पुरुषके ज्योतिहेतुक कार्य होते हैं। स्वप्नमें ऐसे ज्योतिकार्य देखे जाते हैं--बन्धुका संग, वियोग तथा देशान्तर गमन आदि। सुषुप्तिसे उत्थान होने पर "सुखपूर्वक सोया, कुछ नहीं जाना" यह स्मरण होता है अतः व्यतिरिक्त कोई ज्योति है, यह ज्ञात होता है। वाणीके शान्त होने पर भी आत्मा ही ज्योति है। कार्यकरण संघातसे व्यतिरिक्त आत्मा यहाँ आत्म-शब्दसे विवक्षित है। उक्त ज्योति कार्यकरणकी भासक आदित्यादि बाह्य ज्योतिके समान अन्यसे प्रकाशमान नहीं है। यह ज्योति परिशेषात् हृदयके भीतर है तथा कार्यकरण व्यतिरिक्त है, यह तो निर्विवाद रूपसे सिद्ध है। जो कार्यकरण संघातकी अनुग्राहक ज्योति है, वह बाह्य चक्षु आदि करणोंसे उपलभ्यमान देखी गई है, जैसे आदित्यादि। किन्तु आदित्यादि ज्योतिके अस्त होनेपर प्रकृत ज्योति नेत्रादिसे उपलब्ध नहीं होती, केवल उसका कार्य ही उपलब्ध होता है। अतः आत्मा ही ज्योति है, उसीसे पुरुष कार्य करता है, अतः यह निश्चित है कि अन्तःस्थ ज्योति है। यह ज्योति आदित्यादिसे विलक्षण है। आदित्यादि भौतिक हैं और यह अभौतिक है, अभौतिकत्व ही चक्षुआदि ग्राह्यत्वाभावमें हेतु है। शेष अर्थ भावार्थमें स्पष्ट है॥ ६॥

यद्यपि शरीरादिसे अतिरिक्त आत्मा है, इत्यादि बातें सिद्ध हो गयीं, तथापि समानजातीयानुग्राहकत्व दर्शननिमित्त भ्रान्तिके करण इन्द्रियोंमेंसे कोई एक या उनसे अतिरिक्त आत्मा है, इसका विवेक न होनेसे जनक पुनः प्रश्न करता है, यथा—

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि॥ ७॥

भावार्थ—[जनक-] कौन आत्मा है? [याज्ञवल्क्य-] जो यह प्राणोंमें बुद्धिवृत्तियोंके भीतर रहनेवाला विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है वही बुद्धिरूप होता हुआ दोनों लोकोंमें संचरण करता है। वही बुद्धिवृत्तिके अनुसार मानो चिन्तन करता है तथा प्राणवृत्तिके अनुरूप होकर मानो चेष्टा करता है। वही स्वप्न होकर इस लोक (देहेन्द्रियसंघात) का अतिक्रमण करता है और शरीर तथा इन्द्रियरूप मृत्युके रूपोंका भी उलंघन करता है॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—[प्रश्न-] इस पुरुषका आत्मा ही स्वयंज्योतिस्वरूप है, किन्तु इस शरीर में इन्द्रिय और अन्तःकरण भी स्थित है। तो क्या वह ज्योतिस्वरूप पुरुष इन इन्द्रियों तथा अन्तःकरणसे उत्पन्न हुआ है? अथवा इनसे वह कोई अतिरिक्त पुरुष है? या इन्द्रिय सहित शरीरसमुदाय ही आत्मा है, या इनसे वह भिन्न है? [उत्तर-] जो इन्द्रियोंमें विज्ञानरूपसे स्थित है तथा जो बुद्धिवृत्तियोंमें अन्तःप्रकाशमय पुरुष है. वही आत्मा है। या जो मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंके समीप जाकर उन सबको सजीवित कर प्रज्वलित करता है, जैसे राजा अपने सहचारियोंको लेकर इधर उधर विचरता है, वैसे ही जो इन्द्रियोंके साथ विचरनेवाला है वह आत्मा है। या जो हृदयमें स्थित है तथा जिसके भीतर सूर्यके समान स्वयंज्योतिःस्वरूप समस्त शरीरोंमें रमण करता है वह आत्मा है। वही आत्मा सामान्य रूपसे उभय लोकोंमें गमन करता है। यानी देहादिसे भिन्न कोई कर्ता भोक्ता है जो मरकर दूसरे जन्ममें स्वकृत कर्मफलको भोगता है। कारण कि जिस समय यह मूर्च्छित होकर देहको छोड़ने लगता है उस समय स्व-उपार्जित धर्म अधर्मको याद करने लगता है, यह सोचते हुए कि इन सबको मैं छोड़ूँगा, क्या ये सब मुझको पुनः प्राप्त होंगे?

यह किस प्रकार ज्ञात होता है? इस बातको जाननेके लिए आगे स्वप्नका दृष्टान्त दिया जाता है—मुनिने कहा कि हे जनक, जब मनुष्य स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है उस समय वह स्वप्नमें देखता है कि मैं सुखी हूँ, मुझमें कुछ भी दुःख नहीं है। इसी प्रकार इस लोकमें भी परलोकके सुखका अनुभव करता है और जानता है कि परलोक कोई अतिरिक्त वस्तु है। जो जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें सामान्य रूपसे विचरण करता है वही आत्मा है। जिस तरह जाग्रत् अवस्था तथा स्वप्नावस्थामें कुछ भेद नहीं है उसी तरह इस लोक और परलोकमें भी कोई भेद नहीं है। जो कुछ इस लोकमें करता है उसका फल परलोकमें भोगता है॥ ७॥

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति॥ ८॥

भावार्थ—यह पुरुष उत्पन्न होते समय, देहको आत्मभावसे प्राप्त होते समय पापोंसे संश्लिष्ट हो जाता है और मरते समय सब पापोंको छोड़ देता है॥ ८॥

वि० वि० भाष्य—जैसे एक शरीरमें सुप्त होकर मृत्युके रूपोंका यानी कार्यकरणसंघातका अतिक्रमण कर आत्मज्योतिमें पुरुष स्थित होता है, वैसे ही वह प्रकृत पुरुष जायमान है। शंका—आत्मा तो नित्य है, फिर वह जायमान किस प्रकार होता है ? समाधान—शरीरेन्द्रियसंघातको प्राप्त कर यानी शरीरमें आत्मभावका ग्रहण कर देहादिकी उत्पत्तिसे आत्मा अपनेको उत्पद्यमान समझता है, पापसमवायी धर्माधर्माश्रय कार्यकरणोंसे संयुक्त होता है, वही मृत्युसमय में अन्य शरीरमें जाता हुआ उन्हीं संश्लिष्ट पापरूप कार्यकरणसंघातोंका त्याग करता है, यानी उनसे वियुक्त होता है। जैसे स्वप्न और जाग्रत् कालकी वृत्तियोंमें वर्तमान यह पुरुष एक देहमें पापरूप कार्यकरणके उपादान तथा त्यागोंसे बुद्धिके समान होकर निरन्तर संचरण करता है, वैसे ही इहलोक तथा परलोकमें जन्म और मृत्युसे शरीर और इन्द्रियोंके त्याग तथा उपादानको निरन्तर प्राप्त करता हुआ, जबतक मोक्ष नहीं प्राप्त करता तबतक संचरण करता है। इसलिए आत्मज्योति शरीरादिसे अतिरिक्त है। यदि जन्म मरण, पुण्य पाप आदि आत्माके स्वाभाविक धर्म होते, तो उनसे संयोग तथा वियोग आत्माका नहीं होता, जैसे वह्निके स्वाभाविक औष्ण्य धर्मका संयोग और वियोग नहीं होता है ॥ ८ ॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाꣳश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस पुरुषके दो ही स्थान हैं—यहलोक तथा परलोक, तीसरा स्वप्नस्थान संध्यस्थान है। उस संध्यस्थानमें स्थित रहता हुआ यह इस लोकरूप स्थान तथा परलोकस्थान इन दोनोंको देखता है। यह पुरुष परलोक स्थानके लिए जैसे साधनसे युक्त होता है, उस साधनका आश्रय लेकर यहाँ दुःख तथा सुख दोनों ही को अनुभव करता है। जब यह सोता है तब इस सर्वावान् लोकके

एकदेशको लेकर अपने आप ही इस स्थूल देहको चेतनाशून्य करके और स्वयं अपने वासनामय शरीरको रचकर अपने प्रकाशसे यानी अपने ज्योतिस्वरूपसे शयन करता है। इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप हो जाता है॥ ९॥

वि० वि० भाष्य—इस पुरुषके दो ही स्थान हैं—यह वर्तमान जन्मका शरीरेन्द्रियविषयवेदनाविशिष्ट स्थान, जो प्रत्यक्षसे अनुभूयमान है। दूसरा परलोकस्थान, जो शरीरादिके वियोगके अनन्तरकालमें अनुभवसिद्ध है। इहलोक तथा परलोककी जो संधि है, उसमें होनेवाला संध्य है, वह तृतीय स्वप्नस्थान है। इससे दो ही स्थान हैं, ऐसा निश्चय किया गया है। लोकमें दो ग्रामोंकी सन्धि (सीमा) को उन ग्रामोंकी अपेक्षा तीसरा ग्राम नहीं कहा जा सकता। वैसे ही दोनोंकी संधिमें वर्तमान लोक तृतीय लोकमें परिगणित नहीं है। चार्वाक परलोक नहीं मानता, अतः वह पूछता है कि परलोक स्थानका अस्तित्व किस प्रकार है, जिसकी अपेक्षा स्वप्नस्थान संध्य कहा जाय? उत्तर—चार्वाक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानता है। प्रकृत प्रत्यक्ष प्रमाण स्पष्ट है कि संध्याख्य स्वप्नस्थानमें स्थित होकर पुरुष इन दोनों लोकोंको देखता है—इसलोक तथा परलोक स्थानको। अतः स्वप्न जागरित व्यतिरिक्त दोनों लोक हैं। वह समान होकर जन्म-मरण परम्परासे दोनों लोकोंमें संचरण करता है, जो कि विमोक्ष पर्यन्त जीवमें सदा बनी रहती है। शंका—स्वप्नमें स्थित होकर जीव दोनों लोकोंको कैसे देखता है? अविद्या कर्मादि उपाय किसमें आश्रित रहता है और किस तरहसे रहता है? समाधान—देखता कैसे है, पहले इसको सुनिये, यह पुरुष अपने प्राप्त करने योग्य परलोकस्थान निमित्तमें जैसे आक्रमवाला होता है, यानी विद्या, कर्म तथा पूर्व प्रज्ञारूप जिस प्रकारके परलोकप्राप्तिके साधनसे युक्त होता है, यथाक्रम परलोक स्थानके लिए, ऊर्ध्वमुख अङ्कुरप्रादुर्भाव योग्य बीजके समान उस आक्रमका आलम्बन कर दोनोंको देखता है। यानी अदृष्ट पुण्य और पापके फल सुख और दुःखका अनुभव करता है। वह पूर्व प्रकृत आत्मा जिस कालमें स्वापका अनुभव करता है, उस समय समस्त वासनासे युक्त इसलोककी मात्रा (एकदेश) को लेकर (दृष्ट जन्म वासना वासित होकर) अपनेसे ही शरीरका पातन कर तथा स्वयं वासनामय देह का निर्माण कर आत्मीय दीप्तिसे, सर्ववासनात्मक अन्तःकरणवृत्ति दीप्तिसे स्वाप्निक सुख आदिका अनुभव करता है। स्वाप्निक शरीर मायामयके समान अतर्कित सामग्रीसे उत्पन्न अचिरस्थायी है, यह शरीर भी आत्मकर्मनिमित्त है, अतः स्वयंकर्तृक है। इस अवस्थामें इस कालमें यह आत्मा स्वयंप्रकाश होता है।

शंका—इस लोकमें मात्रोपादान किंकृत है और अन्तःकरण रहनेपर आत्मा स्वयंप्रकाश किस प्रकार होता है ? समाधान—अन्तःकरणविषयक भूत प्रकाश्य है, अतएव यहाँ 'वह पुरुष स्वयंज्योति है' यह कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। यदि विषय ही नहीं रहेगा, तो किसीका प्रकाश होगा नहीं, 'फिर पुरुष स्वयंज्योति है' यह नहीं कह सकते। जिस प्रकार सुषुप्तिदशामें यह नहीं कह सकते कि पुरुष स्वयंज्योति है, क्योंकि उस समय कोई ज्योतिकार्य नहीं होता। स्वप्नदशामें विषयोंका भान होता है। किससे होता है, इस जिज्ञासासे विचार करनेपर अन्तःकरण स्वयं जड़ है, वह आत्मस्वरूपका भी साक्षात् भासक नहीं हो सकता। अन्य विषयके भानकी उसके द्वारा आशा दूर ही है, इस लिए उसकी भासक आत्मज्योतिको स्वयंप्रकाश मानना आवश्यक है। जिस समय वासनात्मक विषयभूत वह उपलब्ध होती है, उस समय म्यानसे निकली तलवारके समान समस्त संसर्गरहित चक्षुरादि कार्यकरणव्यावृत्तस्वरूप अलुप्तदृगात्मज्योति अपने रूपसे भान कराती हुई गृहीत होती है, अतः पुरुष स्वयंज्योति है, यह सिद्ध हुआ॥ ९॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता॥ १०॥

भावार्थ—स्वप्नावस्थामें न रथ है, न रथयोग (अश्वादिक) हैं, न रास्ते ही हैं, किन्तु वह जीवात्मा रथोंको, अश्वोंको तथा मार्गोंको बना लेता है। उस समय आनन्द, मोद, प्रमोद नहीं हैं किन्तु वह आनन्द, मोद, प्रमोदोंको पैदा कर लेता है। उस समय सरोवर, तालाव तथा नदियाँ नहीं हैं किन्तु वह सरोवर, तालाव और नदियो को बना लेता है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें वही कर्ता धर्ता है॥ १०॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यहाँ शंका होती है कि पुरुष स्वयंज्योति कैसे है ? जाग्रत् अवस्थामें ग्राह्यग्राहकादिलक्षण समस्त व्यवहार देखते हैं। चक्षुरादिके अनुग्राहक आदित्यादि लोक वैसे ही देखे जाते हैं, जैसे जाग्रत् अवस्थामें देखे जाते हैं। तो किस प्रकार विशेषावधारण करते हैं कि इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयं-

ज्योति है ? समाधान—स्वप्नदर्शनमें विलक्षणता है। जाग्रत् अवस्थामें इन्द्रिय, मन, आलोकादिके व्यापारसे आत्मज्योति संकीर्ण रहती है। इस स्वप्नमें इन्द्रियाभाव तथा तदनुग्राहक आदित्यादिका भी अभाव होनेसे केवल आत्मा विविक्त होता है, अतः विलक्षणता है। स्वप्नमें भी वैसे ही विषय उपलब्ध होते हैं जैसे कि जाग्रत् अवस्थामें, तब उनकी इन्द्रियाभावसे विलक्षणता इस प्रकार है कि स्वप्नमें रथ यानी ग्राह्य विषय नहीं हैं, न रथयोग यानी अश्वादिक ही हैं और न रथगमनमार्ग ही है। किन्तु रथ, रथयोग और मार्ग स्वप्न बनाता है। रथके निर्माणोपयोगी काष्ठादिके न होनेपर भी वह सर्वावत् इस लोककी मात्रा लेकर स्वयं जाग्रत् लोकका विनाश कर स्वप्नलोकका स्वयं निर्माण करता है यानी अन्तःकरणवृत्ति जाग्रत् लोककी मात्रा वासनाको लेकर रथादि वासनारूप अन्तःकरणवृत्ति, तदुपलब्धिनिमित्तक कर्मसे प्रेरित रथादि दृश्यत्व रूपसे व्यवस्थित होते हैं। इसी अभिप्रायसे 'स्वयं निर्माय' कहा गया है, यही बात भगवती श्रुति प्रतिपादन करती है कि मन रथादिकी सृष्टि करता है, न करण है, न करणानुग्राहक आदित्यादि ज्योति है और न तदवभास्य रथादि विषय ही हैं। केवल तद्वासनामात्र तदुपलब्धिनिमित्त प्रेरित उद्भूत अन्तःकरण वृत्तिका आश्रय देखा जाता है, जिस ज्योतिसे ये सब दृश्य हैं वह अलुप्तदृक् आत्मज्योति है। जैसे म्याननिष्कृष्ट तलवार विविक्त देखी जाती है वैसे ही दृश्य बुद्धि आदिसे विविक्त आत्मज्योति है। उस अवस्थामें न आनन्द ही है और न हर्ष ही है तथापि वह आनन्दादिकी सृष्टि करता है तथा वहाँ छोटे तालाब, तड़ाग और नदियाँ भी नहीं हैं तो भी वेशान्तादिकी सृष्टि करता है। क्योंकि वह कर्ता है, उसकी वासनाश्रय चित्तवृत्ति उद्भवनिमित्त कर्म कारण रूपसे कही गयी है। आत्मज्योतिमें कर्तृत्व औपचारिक है अतएव 'ध्यायतीव लेलायतीव' ऐसा कहा गया है॥ १०॥

अब इस मन्त्रमें स्वाप्न सृष्टिका वर्णन करते हैं, यथा—

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्याऽसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति॥ शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः॥ ११॥

भावार्थ—पूर्वोक्त विषयमें ये श्लोक (मन्त्र) प्रमाण होते हैं, यथा—यह जीवात्मा स्वप्नके द्वारा शरीरको चेष्टारहित करके स्वयं असुप्त हो सुप्तावस्थापन्न

समस्त पदार्थोंको चारो ओरसे देखता रहता है या प्रकाशित करता है। वह हिरण्मय, एक हंस, जीवात्मा पुरुष इन्द्रियोंकी तेजोंमात्राको लेकर पुनः जागरण-स्थानको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—स्वप्नदशामें शरीर निर्व्यापार हो जाता है, यानी उस समय सभी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं। उस समय वह अलुप्तज्ञानादि शक्तिस्वरूप होनेके कारण असुप्त रहकर सुप्त पदार्थोंको यानी वासनारूपसे उद्भूत अन्तः-करणवृत्तिके आश्रित बाह्य तथा आध्यात्मिक सभी भावोंको, जो अपने स्वरूप से सोये रहते हैं, प्रकाशित करता है। जो पहले स्वप्न-अवस्थामें था वही ज्योतिष्मान् जागरित स्थानमें आ जाता है। वह कौन ? जो ज्योति स्वरूप तथा सब शरीररूप पुरियोंमें स्थित है, फिर वह एकहंस है यानी अकेला ही दोनों लोकोंमें गमनागमन करनेवाला है ॥ ११ ॥

अब पूर्वोक्त अर्थको दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं, यथा—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ १२ ॥

भावार्थ—वह ज्योतिस्वरूप, एकहंस, अमृत धर्मवाला जीवात्मा निकृष्ट शरीररूप नीड़ (घोंसले) की प्राणसे रक्षा करता हुआ, शरीररूप नीड़से मानो बाहर विचरता हुआ जहाँ-जहाँ कामना होती है वहाँ वहाँ जाता है ॥ १२ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह शरीर निकृष्ट है, क्योंकि अनेक अपवित्र वस्तुओं का संघात होनेसे अत्यन्त बीभत्स घोंसलेकी तरह है। वह अमरणधर्मा पुरुष इसकी प्राण, अपान आदि पाँच वृत्तियोंवाले प्राणसे रक्षा करता हुआ आकाशके समान मानो बाहर विचरा करता है। भाव यह है कि एकहंस पाँच प्रकारके प्राणों द्वारा अपने शरीरकी रक्षा करता हुआ स्वप्नसे पुनः जाग्रत्में ऐसे आ जाता है जैसे पक्षी देशान्तरोंमें भ्रमण करके पुनः अपने घोंसलेमें आकर विश्राम लेता है ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

भावार्थ—वह जीवात्मा देव स्वप्नावस्थामें विविध उच्च तथा नीच भावोंको प्राप्त होता हुआ अनेक रूपोंको बना लेता है। कभी स्त्रियोंके साथ आनन्दका अनुभव करता हुआ, कभी मित्रोंके साथ हँसता हुआ और कभी व्याघ्रादिकोंका विविध भय देखता हुआ सा स्वप्नमें खेल करता है॥ १३॥

वि० वि०भाष्य—वह द्योतमान दिव्यगुणविशिष्ट पुरुष स्वप्नस्थानमें कभी ब्राह्मणादि उच्च भावको, कभी पशु-पक्षी आदि निकृष्ट भावको प्राप्त होता हुआ असंख्य वासनामय रूप बना लेता है। कभी आचार्य बनकर शिष्यको पढ़ाने लगता है, कभी स्वयं पढ़ने लगता है, इत्यादि। इसीका श्रुति प्रतिपादन करती है कि कभी स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करता है, कभी मित्रोंके साथ हँसता है और कभी भयविह्वल होता है॥ १३॥

अब स्वप्नस्थानके विषयमें मतभेद प्रकट करते हुए उसके स्वयंज्योतिष्ट्वका निर्णय करते हैं, यथा—

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यꣳ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते। अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति॥ १४॥

भावार्थ—सब कोई इस जीवात्माकी क्रीड़ाको या क्रीड़ासामग्रीको देखते हैं, उस आत्माको कोई नहीं देखता। कोई चिकित्सक आदि लोग ऐसा कहते हैं कि उस सोते हुएको एकाएक न जगावे, क्योंकि इस देहके लिए वह स्थान दुश्चिकित्स्य हो जाता है, जहाँ वह जीवात्मा प्राप्त नहीं होता। इसीसे कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि यह स्वप्नस्थान इसका जागरित देश है क्योंकि यह जागता हुआ जो देखता है सोकर भी उन्हीको देखता है। किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस अवस्थामें वह पुरुष स्वयंज्योति होता है।

राजा जनक कहते हैं—सो मैं आपको एक सहस्र देता हूँ, यानी एक हजार गौएँ देता हूँ या मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। इसके आगे मुझे विमोक्ष यानी सम्यग् ज्ञानके लिए उपदेश दीजिये॥ १४॥

वि० वि० भाष्य—हे जनक, अज्ञानी लोग इस आत्माके क्रीडास्थानस्वरूप सर्व जगत् को ही देखते हैं, उस द्रष्टा आत्माको कोई नहीं देखते। जागरित और स्वप्न दोनों तुल्य हैं, दोनों अवस्थाओंमें आत्मा स्वप्रकाश है। स्वप्नकथामें जो स्वप्रकाशता श्रुतिमें वर्णन की है वह मुमुक्षुओंके बोधनके लिए है। जागरित अवस्थामें सूर्यादिक प्रकाशकोंके संकीर्ण होनेसे आत्माकी स्वयंज्योतिरूपता मुमुक्षु लोगोंको निर्णीत नहीं होती। सुषुप्ति अवस्थामें मन आदि सबके लीन होनेसे विशेष ज्ञानका अभाव है, इसीसे सुषुप्ति अवस्थामें मुमुक्षुओंको कोई व्यवहार नहीं प्रतीत होता, जिस व्यवहारका साधक आत्मा अङ्गीकार किया जाय। अतएव उन जाग्रत सुषुप्ति दोनों अवस्थाओंका त्याग करके केवल स्वप्न अवस्थामें श्रुति भगवतीने आत्माकी प्रकाशता निरूपण की है। ऐसे उपदेश को ग्रहण करके राजा जनकने याज्ञवल्क्यसे कहा कि हे मुने, आपने मेरे प्रति उपदेश किया, इस कारण मैं आपको एक सहस्र गौएँ देता हूँ। कोई कहते हैं कि जनकने एक हजार मुद्रा देनेको कहा था ॥ १४ ॥

जनकके ऐसी प्रार्थना करने पर कि अब आगे मोक्षके लिए उपदेश दीजिए, याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं, यथा—

स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

भावार्थ—सो यह आत्मा इस सुषुप्ति अवस्थामें स्थित होकर सब दुःखोंसे पार उतर जाता है, प्रथम रमण तथा भ्रमण कर पुण्य और पापको देखकर ही जैसे आया था तथा जिस जगहसे आया था, फिर स्वप्न अवस्थामें ही लौट आता है। आत्मा वहाँ जो कुछ देखता है उससे बद्ध नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। जनक कहते हैं कि हे याज्ञवल्क्य, एक सहस्र गायें देता हूँ, इसके आगे सम्यग् ज्ञानके लिए ही आप उपदेश दें ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे मुक्त आत्मा सभी तरहके हर्ष शोक आदि विकारोंसे सदाके लिए सम्बन्धरहित हो जाता है, ऐसे ही सुषुप्त जीव भी कुछ क्षणके

लिए हर्ष शोकादि अनुभूतिसे रहित होता है। इसीसे सुषुप्ति अवस्थामें स्थित तथा मुक्त पुरुषकी प्रायः समान ही स्थिति होती है। इससे कोई यह समझनेकी भूल न करे कि मुक्ति और सुषुप्ति एक ही बात होती है। मुक्तिसे पुनरावृत्ति नहीं होती, सुषुप्तिमेंसे फिर उसी पूर्व अवस्थाकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १५ ॥

इसी प्रकार स्वप्नावस्थाकी तरह जाग्रतमें भी आत्माका वास्तवमें कर्मके साथ स्वतः सम्बन्ध नहीं है, यह कहते हैं, यथा—

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १६ ॥

भावार्थ—अवश्य ही यह जीवात्मा इस स्वप्नमें रमण करता है, रमण और भ्रमण कर पुण्य और पापको देखकर ही जैसे गया था उससे उलटा जागरणके लिए पुनः दौड़ता है। यहाँ वह आत्मा जो कुछ देखता है, उससे वह बद्ध नहीं होता। जनक कहते हैं कि हे याज्ञवल्क्य, यह ऐसा ही है, सो मैं आपको एक सहस्र गायें देता हूँ, इसके आगे आप मुझे मोक्षप्राप्त्यर्थ उपदेश दें ॥ १६ ॥

वि० वि भाष्य—मुनि बोले कि हे राजन्, जिस प्रकार यह जीव स्वप्नसे सुषुप्ति और सुषुप्तिसे स्वप्नको प्राप्त होता है, इसी प्रकार सुषुप्तिसे जाग्रतको प्राप्त होकर कर्मानुसार यथाप्राप्त विषयोंके भोगने पर भी स्वरूपसे विकारी नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। इस वचनको राजा जनक स्वीकार कर कहते हैं कि हे याज्ञवल्क्य, यह ऐसा ही है, सो मैं आपको एक हजार गायें देता हूँ। आपका वचन श्रवण करके मुझे परम सन्तोष हुआ है, आप एक हजार गायें लीजिये। मैं आपको कुछ देता नहीं इन गायोंसे केवल मैं पत्र पुष्प द्वारा आपका सत्कार करना चाहता हूँ। साथ ही यह भी प्रार्थना करता हूँ कि इसके आगेका विज्ञान बतलाइए ॥ १६ ॥

जैसे यह पुरुष स्वप्नसे जाग्रत अवस्थामें आकर स्वप्नप्रसङ्गजनित दोषोंसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही यह जाग्रत्में जाग्रतके किसी दोषसे युक्त नहीं होता, यह कहते हैं, यथा—

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥ १७ ॥

भावार्थ—अवश्य ही यह आत्मा इस जागरणमें रमण और भ्रमण कर पुण्य तथा पापको देखकर ही पुनः प्रत्यागमनसे अपने स्थानके प्रति स्वप्नके लिए ? दौड़ता है ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—जागरण पहले कहा गया है, जीवात्मा फिर जागरणसे स्वप्न, उससे पुनः सुषुप्तिको प्राप्त होता है। चक्र भ्रमणके समान यह व्यापार सदा हुआ ही करता है। वैराग्यके लिए प्रत्यक्ष विषयको भी यहाँ बार बार कहा गया है। पहले दो मन्त्रोंमें आत्माकी असङ्गताका ही प्रतिपादन किया गया है। बात यह है कि स्वप्नदशामें पहुँचकर सम्प्रसाद (खूब अच्छी तरह पूरे आनन्द) को प्राप्त हुआ यह पुरुष जागरणावस्थामें किये हुए कर्मसे सम्बद्ध नहीं होता। इसमें कारण क्या है ? तो कहते हैं कि स्वप्नावस्थामें इसे चौय आदि कर्म करते नहीं देखा गया। इसीसे यह विलक्षण है ॥ १७ ॥

जागरणसे स्वप्नको, स्वप्नसे सुषुप्तिको, सुषुप्तिसे पुनः स्वप्नको; इस प्रकार क्रमिक संचारके द्वारा तीनों स्थानोंका जानेका जो विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है उसमें जो दृष्टान्त रह गया था, उसका प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८ ॥

भावार्थ—इस विषयमें यह दृष्टान्त है, जैसे-महामत्स्य नदीके पूर्व और अपर दोनों तटोंके ऊपर क्रमसे आता जाता रहता है, वैसे ही यह पुरुष स्वप्नान्त यानी स्वप्नस्थान तथा बुद्धान्त यानी जागरितस्थान—इन दोनों ही स्थानोंमें क्रमशः आता जाता रहता है ॥ १८ ॥

वि० वि० भाष्य—जो मत्स्य नदीके वेगसे अवरुद्ध न हो, जो नदीके स्रोतको भी रोक दे सकता होऔर स्वच्छन्द तथा बलिष्ठ हो उसे महामत्स्य कहते हैं। भाष्यकारके कथनानुसार दृष्टान्त प्रदर्शन करनेका' प्रयोजन यह है कि

स्वप्नप्रयोजन काम तथा कर्मोंके सहित मृत्यु रूप देहेन्द्रिय सङ्घात अनात्मधर्म है यह आत्मा इससे विलक्षण है। हे जनक! जैसे एक महामत्स्य नदीके पूर्व तथा परतीरमें विचरता है, और वह उन दोनों तीरोंसे स्वयं असङ्ग, । एवं भिन्न है, वैसेही यह आत्मा जागरित तथा स्वप्न इन दोनों स्थानोंको प्राप्त होता है, पर उन स्थानोंके संबन्धसे रहित होनेके कारण उन स्थानोंसे भिन्न है ॥ १८ ॥

अब श्येन (बाज) के दृष्टान्तसे आत्माके विश्रान्तिस्थान सुषुप्तिका वर्णन करते हैं, यथा—

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥

भावार्थ—इस विषयमें यह दृष्टान्त है कि जैसे इस आकाशमें बाज या सुपर्ण (गरुड़) नामक पक्षी इधर उधर उड़कर थक जानेसे अपने पक्षोंको फैलाकर घोंसलेमें जानेके लिए इच्छा करता है, ऐसे ही यह पुरुष इस सुषुप्तिस्थानके लिए दौड़ता है। जहाँ शयन करनेपर न तो कुछ चाहता है और न किसी स्वप्नको देखता है ॥ १९ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जिस प्रकार बाज या गरुड़ पक्षी अनेक प्रकार की चेष्टाओंसे थकावटको प्राप्त होकर अपने पंखोंको फैलाकर घोंसलेकी ओर दौड़ता है, ऐसे ही यह विज्ञानमय जागरित एवं स्वप्नमें भ्रमण करनेसे श्रमको प्राप्त हुआ अपने नीड़रूप ब्रह्ममें आनन्द की प्राप्तिके वास्ते धावन करता है। श्येन और सुपर्ण ये दो भिन्न भिन्न पक्षी होते हैं। किसी विद्वान्ने 'सुपर्णको' श्येनका विशेषण माना है। सुन्दर, पर्ण-पंख, यानी अच्छे पंखवाला बाज अर्थात् उड़नेवाला बाज पक्षी, यह अर्थ होता है। जैसे पक्षीके दो पंख होते हैं, वैसे ही इस जीवात्माके धर्म एवं अधर्म ये दो पंख हैं। इनकी सहायतासे जीवात्मा पंखवाले पंक्षीकी तरह जहाँ तहाँ आने जानेमें समर्थ हैं ॥ १९ ॥

अब सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूत अविद्याका स्वरूप निर्णय करते हैं, यथा—

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पि-

ङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ २० ॥

भावार्थ—इस शरीरमें बहुतसी नाड़ियाँ हैं जिनमें जीवात्मा भ्रमणादि क्रिया किया करता है, हित करनेवाली होनेके कारण उन्हें 'हिता कहते हैं। वे बालके सहस्रवे भागके समान सूक्ष्म हैं एवं शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल रंगके रंगसे या रससे भरी हैं। सो उनमें इस पुरुषको स्वप्नावस्थामें प्रतीत होता है कि कोई इसे मार रहा है, कोई मानो इसे वशमें कर रहा है और मानो इसे हाथी चारों ओर दौड़ा रहा है अथवा यह मानो गढ़ेमें गिर रहा है। अर्थात् जगता हुआ यह पुरुष जिस भयको देखता है, उसीको स्वप्नावस्थामें अविद्याके कारण सत्य मानता है। जिस स्वप्न दशामें 'मैं देवके समान हूँ' 'मैं राजाकी तरह हूँ' और 'मैं ही सब कुछ हूँ' ऐसा मानता है, वह इसका परमलोक, परमधाम है ॥ २० ॥

वि० वि० भाष्य—बालके सहस्रवें भागके समान, शुक्लादि रसोंसे पूर्ण और सम्पूर्ण शरीरमें जालकी तरह फैली हुई सूक्ष्म नाड़ियोंमें सत्रह तत्त्वोंका लिङ्गशरीर रहता है। उसीके अधीन सारी वासनायें हैं जो संसारके अनेक धर्मोंके अनुभवसे उत्पन्न होती हैं। वह नाड़ीगत रसस्वरूप उपाधिके संसर्गसे धर्माधर्मप्रेरित उद्भूत वृत्तिविशेषवाला और स्त्री, रथ, हाथी आदि आकारवाली विशेष वासनाओंसे युक्त भासित होता है। जागरण अवस्थामें जो कुछ यह हाथी आदिसे भय देखता है, इस स्वप्नावस्थामें भी हस्त्यादिरूप भयके बिना ही जाग्रत् हुई अविद्या वासनासे उस भयरूपको जो मिथ्या ही है, सच मानने लगता है ॥ २० ॥

अब अविद्या, काम तथा कर्माभावविशिष्ट सर्वात्मभावरूप मोक्षका वर्णन करते हैं, यथा—

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन

वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकाम ँ रूप ँ शोकान्तरम् ॥ २१ ॥

भावार्थ—अवश्य ही इस पुरुषका जो यह रूप कामविवर्जित, पापरहित तथा निर्भय है। इसमें जैसे निज स्त्रीसे आलिङ्गित पुरुष न बाहर, न भीतर, कुछ नहीं जानता है, वैसे ही यह पुरुष प्रज्ञात्मासे आलिङ्गित होनेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है और न भीतरका; यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है ॥ २१ ॥

वि० वि० भाष्य—हे राजन्, जिस प्रकार अपनी पत्नीके आनन्दमें मग्न होकर आलिङ्गन करनेवाला कामी पुरुष सुखका अनुभव करता हुआ बाह्य घटादिकोंको तथा आन्तर दुःखादिकोंको नहीं जानता। उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें अन्तःकरणरूप उपाधिके लीन होनेसे ब्रह्मके साथ एकताको प्राप्त हुआ यह विज्ञानमय बाह्य आन्तर प्रपञ्चको नहीं जानता। सुषुप्ति अवस्थामें जिस ब्रह्मके साथ अभेदभावको यह विज्ञानमय प्राप्त होता है, वह ब्रह्म सर्व काम तथा पाप शोकादि अनात्मधर्मोंसे रहित है और उस सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल शरीरादिकोंके सम्बन्धसे रहित है ॥ २१ ॥

इस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे काम आदिकोंके साथ सम्बन्धाभाव कहकर इस समय उनकी कारणरूपा कर्माख्य अविद्याके सम्बन्धाभावका वर्णन करते हैं, यथा—

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

भावार्थ—यहाँ पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता होती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव और वेद अवेद होते हैं। यहाँ चोर अचोर होता है। भ्रूणघाती अभ्रूणघाती और चाण्डाल अचाण्डाल होता है। पौल्कस अपौल्कस तथा श्रमण अश्रमण होता है। तापस अतापस हो जाते हैं। यहाँ इसका रूप

पुण्यसे असंबद्ध तथा पापसे भी असम्बद्ध होता है। क्योंकि यह उस अवस्थामें हृदयके सब शोकोंको पार कर लेता है ॥ २२ ॥

वि० वि० भाष्य—ईश्वरकी ऐसी महिमा है कि गाढ सुषुप्तिमें किसी पदार्थका बोध नहीं रहता, इसीको विस्तारसे इस मन्त्रमें कहा गया है। जगत्में सर्वप्रथम पिता पुत्रका सम्बन्ध माना गया है, इस अवस्थामें इसका भी ज्ञान नहीं रहता है। यहाँ पिता यह नहीं जानता कि मैं इसका पिता हूँ, यह मेरा पुत्र है इसी प्रकार पुत्रको मैं इनका पुत्र हूँ, ये मेरे पिता हैं ऐसा बोध नहीं रहता है। ऐसे ही संसारमें सबसे पूज्य सम्बन्ध माता पुत्रका है, इसका भान भी इस अवस्थामें नहीं रहता है। मरनेके अनन्तर पिता तथा माताका सम्बन्ध छूट जाता है, किन्तु 'मेरा अच्छे कुलमें जन्म हो, उत्तम लोकमें गमन हो' ऐसी आशा बनी रहती है। किन्तु इस सुषुप्ति अवस्थामें यह आशा भी नहीं रहती। जिसके द्वारा सर्वधर्मका संचय होता है ऐसे सर्वप्रिय वेदविज्ञानका भी यहाँ भान नहीं रहता है। इसमें पुरुष अत्यन्त निकृष्ट जातिकी प्राप्ति करानेवाले अपने स्वाभाविक कर्मसे भी वियुक्त हो जाता है, इसीसे चाण्डाल चाण्डाल नहीं रहता, पुल्कस पुल्कस नहीं रहता। (शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुई सन्तानको चाण्डाल कहते हैं, शूद्रामें ब्राह्मणसे उत्पन्नको निषाद और निषादसे क्षत्रियामें उत्पन्नको पुल्कस कहते हैं।) कहनेका तात्पर्य यह है कि इस अवस्थामें पुरुष पाप तथा पुण्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता है, क्योंकि उस अवस्थामें यह हृदयके सब शोकोंको दूर कर अवस्थित रहता है। इस प्रकार इस स्थूल शरीरके सर्वधर्मोंसे रहित हुआ तथा पुण्य पापके फल सुखदुःखोंसे रहित हुआ यह पुरुष सम्पूर्ण शोकादिकोंसे शून्य स्थितिमें विराजता है ॥ २२ ॥

सुषुप्ति अवस्थामें स्वयंज्योति आत्माकी दृष्टि आदिका अनुभव न होनेमें कारण प्रदर्शन करते हैं, यथा—

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥ २३ ॥

भावार्थ—अवश्य ही उस अवस्थामें वह जीवात्मा नहीं देखता है यह बात नहीं है, किन्तु देखता हुआ वह उसको नहीं देखता, क्योंकि वहाँ द्रष्टाकी दृष्टिका

विलोप नहीं होता है, वह अविनाशी है। किन्तु उस अवस्थामें जिसको वह देख सके ऐसी उससे भिन्न द्वितीय वस्तु ही नहीं है, इस कारण नहीं देखता ॥ २३ ॥

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो उस अवस्थामें सूँघता नहीं, इससे यह तात्पर्य नहीं है कि उसकी गन्धग्राहक शक्तिका लोप हो गया है, किन्तु जहाँ गन्ध ही नहीं तब उस अवस्थामें किसे सूँघे ॥ २४ ॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५ ॥

भावार्थ—यह जो रसास्वाद नहीं करता, सो रसास्वादन करता हुआ ही नहीं करता। रसास्वाद करनेवालेकी रसग्रहण शक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है ॥ २५ ॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥

भावार्थ—निश्चय ही उस अवस्थामें वह जीवात्मा नहीं बोलता, ऐसा जो मानते हैं सो यथार्थ नहीं है। अवश्य ही, बोलता हुआ वह उसको नहीं बोलता, वक्ताकी भाषणशक्तिका तो विलोप नहीं होता है, बात यह है कि वह अविनाशी है। किन्तु उस अवस्थामें द्वितीय नहीं जो उससे अन्य हो, जिसको वह बोल सके ॥ २६ ॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥

भावार्थ—अवश्य ही उस अवस्थामें वह जीवात्मा सुन नहीं सकता, ऐसा

जो मानते हैं सो ठीक नहीं। सुनता हुआ ही वह उसको नहीं सुनता, श्रोताकी श्रवणशक्तिका तो विलोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु उस अवस्थामें द्वितीय वस्तु नहीं है जो उससे अन्य हो, जिसको वह सुने ॥ २७ ॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

भावार्थ—उस अवस्थामें वह जीवात्मा मनन नहीं करता, ऐसा मानना ठीक नहीं। मनन करता हुआ वह उसको नहीं मनन करता। क्योंकि मन्ताकी मननशक्तिका तो विलोप नहीं होता, इसलिए कि वह अविनाशी है, पर उस अवस्थामें दूसरा वहाँ है क्या, जिसका वह मनन कर सके ॥ २८ ॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥ २९ ॥

भावार्थ—उस अवस्थामें वह स्पर्श नहीं करता ऐसा मानना सही नहीं है। स्पर्श करता हुआ भी वह उसको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि स्प्रष्टाकी स्पर्शशक्तिका विलोप नहीं होता, वह अविनाशी है। पर बात यह है कि उस दशामें अन्य कोई वस्त्वन्तर नहीं है जिसे वह स्पर्श कर सके ॥ २९ ॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥

भावार्थ—उस अवस्थामें वह जीवात्मा नहीं जानता, ऐसा जो कहते हैं, क्या यह सही है ? जानता हुआ उसको नहीं जानता, विज्ञाताकी जाननेकी शक्तिका तो विलोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु उस अवस्थामें दूसरी वस्तु कोई नहीं है जो उससे अन्य हो, जिसको वह जाने ॥ ३० ॥

इसी प्रकार सुषुप्तिमें अविद्याजन्य द्वैतके अभावसे विशेष ज्ञान नहीं होता, यह

व्यतिरेकसे कहकर जाग्रत् आदिकोंमें द्वैतके रहनेसे विशेष ज्ञान होता है, यह अन्वयसे कहते हैं, यथा—

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रे-दन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जिस अवस्थामें चाहे वह जागरित हो या स्वप्नावस्था हो, आत्मासे भिन्न अन्य सा होता है, वहाँ अन्य अन्यको देख सकता है, अन्य अन्यको सूँघ सकता है, दूसरा दूसरेका रस लेता है, अन्य दूसरेसे बोलता है, अन्य अन्यको सुन सकता है, दूसरा दूसरेका मनन करता है, अन्यका अन्य स्पर्श कर सकता है और दूसरा दूसरेको जान सकता है ॥ ३१ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे जनक, सुषुप्ति अवस्थामें आत्मा नाम रूप प्रपञ्चको नहीं जानता है, वह आत्माद्वारा प्रपंचको न जानना प्रपञ्चका अभाव होनेके कारण ही है, कोई आत्माके अभावके कारण नहीं। कारण यह है कि साक्षी कूटस्थ आत्माकी स्वरूपभूत जो दृष्टि है उसका कदाचित् नाश नहीं होता। उस सुषुप्ति अवस्थामें साभास अन्तःकरण नहीं है, चक्षु आदि करण नहीं हैं तथा रूपादि विषय नहीं हैं। इसी कारण उस अवस्थामें आत्मा नाम रूप प्रपञ्चको नहीं जानता है। ऐसे ही सुषुप्ति अवस्थामें घ्राणसे गन्धको नहीं जानता तथा रसनासे रसको, वाणीसे शब्द कथनको, श्रोत्रसे शब्दको, मनसे चिन्त-नको, त्वचासे स्पर्शको और बुद्धिसे किसी निश्चयको नहीं जानता। पूर्वोक्त रीतिसे उस सुषुप्तिमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयका अभाव होनेसे श्रोत्रादि इन्द्रि-योंसे शब्दादिकोंका ज्ञान नहीं होता। किन्तु जागरित तथा स्वप्न अवस्थामें साभास अन्तःकरणरूप प्रमाता है, इन्द्रियादिरूप प्रमाण हैं, तथा रूपादि विषय हैं, इसी वास्ते जागरित एवं स्वप्नमें भिन्न भिन्न रूप आदिकोंको उन नेत्रादिकोंसे देखते हैं। ऐसे उपाधिसे तीन अवस्थाओंको प्राप्त होनेवाला आत्मा वास्तवमें शुद्ध है ॥ २३-३१ ॥

यह अविद्या ही अन्य वस्तुको प्रस्तुत करनेवाली है, जहाँ सुषुप्तावस्थामें यह यह शान्त हो जाती है वहाँ उससे अतिरिक्त रूपसे अविद्या द्वारा विभक्त वस्तुका अभाव हो जानेके कारण किस इन्द्रियसे किसे देखे, सूँघे, जाने ? अतः—

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

भावार्थ—वह जलके समान एक द्रष्टा अद्वैत है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है। ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया। इसकी यही परम गति है, इसकी यही परम सम्पत्ति है, इसका यही परम लोक है, इसका यही परम आनन्द है। इसी आनन्दकी एक कलाको लेकर अन्य सब प्राणी भोग कर रहे हैं॥ ३२॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह आत्मा शुद्ध जलके समान परिशुद्ध है, इस कारण इस आत्मामें विजातीय भेद नहीं है। एक कहनेसे सजातीय भेद भी नहीं है। अद्वैत नाम द्वितीय हस्त पादादिकोंसे होनेवाले स्वगत भेदसे भी वह रहित है। ऐसे विजातीय, स्वजातीय तथा स्वगत भेदरहित होनेसे आत्मा स्वप्रकाश द्रष्टा है तथा परम पुरुषार्थरूप है। विज्ञानमय आत्माकी यह आत्मा ही परमगति है, ब्रह्मलोकादिकी गति तो अपरम है। उन सर्व गतियोंसे यह आत्मा ही गति नाम परमगन्तव्य स्थान है और कुबेरकी सम्पत्तिकी तरह परम सम्पद्रूप है, तथा स्वप्रकाश परमानन्दरूप है। इस आनन्दरूप आत्माका लेशमात्र आनन्द ग्रहण करके चक्रवर्ती राजासे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सम्पूर्ण भूत आनन्दी हो रहे हैं॥ ३२॥

इसी प्रकार अतिशय आनन्दके प्रतिपादन द्वारा परमानन्दका बोधन करते हैं, यथा—

स यो मनुष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ।ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा

देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

भावार्थ—वह जो मनुष्योंमें सर्वाङ्गपूर्ण, समृद्ध, दूसरोंका अधिपति और मनुष्यसम्बन्धी समस्त भोगोंसे सम्पन्नतम होता है, यही मनुष्योंका परम आनन्द है। मनुष्योंके जो ऐसे सौ आनन्द हैं उतना पितरोंका एक आनन्द है, उन पितरोंका, जिन्होंने भूमण्डलको जीता है। उन विजयी पितरोंके जो सौ आनन्द हैं उतना गन्धर्वोंका एक आनन्द है, गन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं, उतना कर्मदेवोंका एक आनन्द है [जो कर्मसे देवत्वको प्राप्त होते हैं वे कर्मदेव कहाते हैं]। जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं उतना आजानदेवोंका एक आनन्द है [जन्मसिद्ध देव आजानदेव कहाते हैं] और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय हैं उनका भी वही आनन्द है। जो आजानदेवोंके सौ आनन्द हैं उनका सौ गुना प्रजापतिका एक आनन्द है। यही आनन्द अपाप, अकामहत श्रोत्रियका भी है। जो प्रजापतिलोकके सौ आनन्द हैं उतना ब्रह्मलोकका एक आनन्द है, निष्पाप, निष्काम श्रोत्रियका भी यही आनन्द है और यही परम आनन्द है। हे सम्राट्, यही ब्रह्मलोक है। याज्ञवल्क्यने यह शिक्षा दी। उपर्युक्त कथन सुनकर जनकने कहा कि मैं श्रीमान्को सहस्र मुद्रा अथवा गौएँ देता हूँ, अब आगे भी आप मोक्षके लिए ही उपदेश करें। यह सुनकर याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये कि इस चतुर राजाने तो मुझको समस्त प्रश्नोंके उत्तर देनेके

लिए बाँध लिया है, यानी सम्पूर्ण प्रश्नोंके निर्णय पर्यन्त इसने बुद्धिमानीसे मुझे वचनबद्ध कर लिया है ॥ ३३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्रमें चक्रवर्ती राजासे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त शत-शतगुण अधिक आनन्दका प्रतिपादन किया गया है। ऐसे उपदेशको सुनकर राजा जनकने कहा कि हे भगवन्, मैं आपको हजार गायें प्रदान करता हूँ। कृपा कर आप ऐसा उपदेश दें जिससे मेरा मोक्ष हो जाय। राजाके मनमें यह अभिप्राय था कि जो वास्तवमें असङ्ग आत्मा अविद्या द्वारा जागरित-स्वप्नके भोगप्रद कर्मोंके क्षीण होनेसे सुषुप्तिमें ब्रह्मानन्दको प्राप्त होता है, पुनः उन कर्मोंसे जागरित-स्वप्नको प्राप्त होता है। एवं अवस्थात्रयसे विवेक करने पर भी जन्म मरणरूप संसारके हेतु अविद्या काम कर्मका युक्तियोंसे निराकरण करनेसे उपदेशसे भी मुक्ति नहीं हो सकती। इस कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदिकोंका निवर्तक, मोक्ष करनेवाला उपदेश मुनिसे सुनना चाहिए। ऐसे प्रश्नको सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि चकित हो गये। कारण यह है कि उनके हजारों शिष्य हैं, किंतु जनक राजाके समान कोई बुद्धिमान् नहीं है, जिस जनकने एक वरसे सम्पूर्ण विद्या ग्रहण कर ली है। याज्ञवल्क्य मनमें यह विचार कर सर्वप्रथम अविद्यासे प्राप्त होनेवाले संसारका वर्णन करते हैं ॥ ३३ ॥

अब उपसंहारमें याज्ञवल्क्य जीवकी परलोकगतिको सदृष्टांत कथन करनेके लिए सुषुप्तिसे जाग्रत्प्राप्तिका पुनः अनुवाद करते हैं, यथा—

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

भावार्थ—अवश्य ही यह जीवात्मा इस स्वप्नस्थानमें रमण और विहार कर तथा पाप पुण्यको देखकर ही पुनः गये हुए मार्गसे यथास्थान जागरित अवस्थाको लौट आता है ॥ ३४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे जनक! जैसे स्वप्नके भोगप्रद कर्मके क्षीण होनेसे यह जीव जागरित अवस्थाको प्राप्त होता है, ऐसे ही शरीरके निमित्तभूत प्रारब्ध कर्मके क्षीण होनेसे जीव अन्य शरीरको प्राप्त होता है। पूर्व शरीरके त्यागमें अगला दृष्टान्त श्रवण करो ॥ ३४ ॥

स्वप्नसे जागरण प्राप्तिकी तरह लोकसे लोकान्तर प्राप्तिका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करते हैं, यथा—

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जैसे खूब भारसे लदी हुई गाड़ी शब्द करती हुई चलती है, वैसे ही जिस समय यह देही आत्मा प्रज्ञात्मासे अधिष्ठित हो शब्द करता हुआ जाता है। अर्थात् जिस कालमें यह मरनेके निमित्त ऊर्ध्वश्वासी होता है, उस समयमें यह शारीर आत्मा निज प्राज्ञ विज्ञानवान् स्वभावसे संयुक्त हो अतिशब्द करता हुआ जाता है ॥ ३५ ॥

वि० वि भाष्य—जैसे किसी धनीका कोई छकड़ा अपने पदार्थोंसे परिपूर्ण हो किसी ग्रामान्तरको जा रहा हो तो उस समय वह अनेक पदार्थोंके बोझसे खूब लदा होनेके कारण रास्तेमें चूँ-चूँ आदि शब्द करता हुआ मन्द मन्द चलता है। इसी प्रकार जीवरूपी धनीका पुण्य पापरूप पदार्थोंसे पूर्ण हुआ यानी लदा हुआसा सूक्ष्म शरीररूपी शकट इस स्थूल देहके त्यागनेके समय नाना प्रकारके शब्दोंको करता हुआ परलोकमें गमन करता है।

वे शब्द कौनसे हैं जिन्हें पुरुष मरते समय बोलता या स्मरण करता है? जिन बातोंको याद कर करके यह दम तोड़ता है, वे शब्द या बातें ये हैं, जैसे—मरण समयमें प्रिय पुत्र कलत्र आदिके वियोगमें यह कहता है—हा पुत्र! हा पत्नि! हा धन! हा मित्र! हा बन्धुजन! धिक्कार है, मैं पापी हूँ, जो इन सबको त्याग करके अत्यन्त दूरमार्गमें अकेला ही जा रहा हूँ। मैं अत्याचारी हूँ, मैंने बालकोंको बहुत ताड़न किया है, तथा देवताओंके मस्तकपर अपने पाँवोंको रखा है यानी उन्हें ठुकराया है, और जिस माताने मुझे बहुत दुःख झेलकर उत्पन्न किया है, जिस माताने मेरा मल मूत्र अपने हाथसे साफ किया एवं बड़े बड़े यत्नोंसे लालन पालन किया, मैंने उस माताकी कुछ भी सेवा टहल न की। उलटा उसे मैंने दुःख दिया और कटुवचन कहे, यानी गालियाँ दीं। केवल अपनी स्त्री तथा अपने शरीरके पालन पोषणमें ही आसक्त रहा। धिक्कार है मुझे, जिसने ऐसे उपकार करनेवाली माताका तिरस्कार किया।

मैंने पिता, वेदवेत्ता ब्राह्मण, सन्तजन तथा सुहृद्गण आदिकोंको कठोर वचन कहे, मैंने अभक्ष्य भक्षण तथा अपेय पान किया। मैं लोकवेद विरुद्ध ही आचरण करता रहा। युवावस्थामें प्रिया युवतीका ही चिन्तन करता रहा। जैसे उत्तम मनुष्य अपने कल्याणके लिए शिव–विष्णु–भगवती आदि देवताओंका सर्वदा चिन्तन करता रहता है, वैसे ही मैं यौवन अवस्थामें अपनी तथा पर स्त्रियोंका ही अहर्निश स्मरण करता रहा। जैसे व्याध शिकारकी तलाशमें रहता है ऐसे ही मैं भी सदा परकीय कामिनी-काञ्चनकी ही ताकमें लगा रहा। अर्थात् जिन स्त्रियोंकी कूकर शूकर आदि योनियोंमें भी प्राप्ति होती रहती है उनका ही ध्यान धरता रहा, तथा अपने कल्याणके लिए उन शिव विष्णु आदिकोंका ध्यान न धरा, महाशोक है कि यह दुर्लभ मानुष-देह व्यर्थ ही खो दिया, और दुष्पूर लोभके नित्य वृद्ध होनेसे साधुजनोंके तथा ब्राह्मणोंके गृह क्षेत्रादि मैंने छीन लिये। जो ब्रह्महत्यादि घोर पाप मैंने किये थे वे अब (मरण कालमें) मुझे दुःख देर हे हैं, ये आगे भी मेरे मर्मस्थानमें शूलकी तरह चुभेंगे। जब मैं वृद्ध हो गया तब काम क्रोध लोभादि अत्यन्त अधिक हो गये, उस समय मेरी दशा 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' हो गई। अब मैं असमर्थ अवस्थामें उन कामादिकोंके कारण दुःखका अनुभव कर रहा हूँ, मैंने वृद्ध अवस्थामें उन स्त्री पुत्रादिकोंके द्वारा महान् तिरस्कार सहन किया है जिनके लालन पालन तथा सुखी रखनेमें कोई अनर्थ करना नहीं छोड़ा। शरीर तो मेरा सर्वथा जीर्ण हो गया; परन्तु काम क्रोधादिकोंमें जरा भी शिथिलता न आई। अब मृत्यु भी मुझे मारने मेरे समीप आ गया है।

हा कष्ट है, मेरे शरीरमें कोई काट रहा है, मानों कोई बहुतसी सुइयाँ मेरे शरीरमें चुभो रहा है, मुझे यह कुछ दिखाई नहीं देता। मेरे हाथ पाँव लकड़ीकी तरह जड़ होते जाते हैं, जैसे दुर्दान्त पशु अपने वशमें नहीं रहता वैसे ही मेरे नेत्र श्रोत्र मन आदि मेरे अधीन नहीं रहे। न आँखोंसे दीखता है, और न कानोंसे सुनाई ही देता। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंके व्यापार मन्द हो गये। जठराग्नि पवनयुक्त होकर मेरे शरीरका दाह कर रहा है। मुझे ऐसी पीड़ा हो रही है जैसे हजारों विच्छुओंके एक साथ काटनेपर हो सकती है।

हे जनक, ऐसे अनेक प्रकारके शब्दोंको उच्चारण करता हुआ मुमूर्षु इस स्थूल देहका त्याग करता है। जैसे सुषुप्ति अवस्थामें यह जीव विशेष ज्ञानसे रहित हुआ ब्रह्मानन्दको प्राप्त होता है, वैसे ही मरणकालमें विशेष ज्ञानसे रहित हुआ यह जीव दीर्घ ऊर्ध्वश्वास लेता हुआ कारणोपाधिक ईश्वरसे अभिन्न हो जाता है ॥ ३५ ॥

यह ऊर्ध्वश्वास किस समय किस कारणसे किस प्रकार तथा किसलिए होता है ? यह बतलाया जाता है, यथा—

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

भावार्थ—सो यह पुरुष जिस समय जरा अवस्थाके कारण अथवा किसी उपतापी रोगके कारण कृशताको प्राप्त होता है, उस कालमें जैसे अपने बन्धन (डंठल) से छूटकर आम्रफल या उदुम्बरफल अथवा पीपलफल गिर पड़ता है, वैसे ही यह पुरुष अवयवोंसे छूटकर गिरता है, और जैसे आया था वैसे ही प्राणके लिए ही योनि योनिके प्रति दौड़ता है ॥ ३६ ॥

वि० वि० भाष्य—जब जरा अवस्थासे तथा ज्वरादि व्याधियोंसे यह शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है, तब इसका त्याग हो जाता है। जैसे आम्र आदि गल पककर पृथिवीपर गिर पड़ते हैं, वैसे ही इस शरीरके कारण प्रारब्ध कर्मोंके क्षीण होनेसे जीवात्मा इस देहका त्याग कर देता है। इस शरीरको छोड़कर पापोंकी अधिकता होनेसे नरकोंकी अनेक प्रकारकी पीड़ाका अनुभव करता है। जब पूर्वदेहके उत्पादक वासना तथा कर्मोंके समान ही वासना तथा कर्म होते हैं तब पूर्व देहके सदृश ही दूसरे देहको प्राप्त होता है। विना ब्रह्मबोधसे इस सूक्ष्म शरीरका विनाश नहीं होता ॥ ३६ ॥

स्वप्नावस्था से जागरण स्थानको प्राप्त करनेकी इच्छावाले पुरुषका शरीर पहलेसे ही कैसे रहता है, इस विषयमें लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं, जैसे—

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येव्ँ हैवंविद्ँ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जैसे राजाका आगमन सुनकर उग्र, प्रत्येनस, सूत तथा ग्रामणी आदिक राजकर्मचारी 'यह राजा आ रहा है, राजा साहब आना ही

चाहते हैं' इस प्रकार प्रजाओंको सूचित करते हुए अन्न, पान और निवास स्थान आदिक राजसामग्रियोंको जुटाकर रखते हुए प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही इस कर्म-फलज्ञाताकी प्रतीक्षा समस्त भूत 'यह ब्रह्म आता है, इसे आया ही समझो' इस प्रकार कहते हुए करते हैं ॥ ३७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे जनक, जैसे राजाके किंकरादि किसी देशान्तरसे आनेवाले अपने राजाकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही जीव जब पूर्वदेहका त्याग करता है तब दूसरे स्थूल देहके जनक भूत उस शरीरमें इस जीवकी बाट जोहते हैं।

यहाँ 'उग्र' शब्द आया है, उसका अर्थ है भयङ्कर कर्म करनेवाले, जैसे पुलिस होती है। 'प्रत्येनस' का अर्थ है, एक एक पाप वा अपराधका दण्ड देनेवाले, जैसे न्यायाधीश। सूतका अर्थ है सारथी, हाथी घोड़ेवाले या हाँकनेवाले और 'ग्रामणी'का अर्थ है ग्रामके अधिष्ठाता–पञ्च आदि। ये सब मिलकर राजाकी पेश-वाईमें हाजिर रहते हैं॥ ३७ ॥

इस जीवके अपने साथियोंके सहित परलोक गमन करनेमें दृष्टान्त कहते हैं, यथा—

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्राम-ण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जैसे पुनः जब राजा यहाँसे प्रस्थान करना चाहता है तब उसको बिदा करनेके लिए उसके अभिमुख उग्र, प्रत्येनस, सूत तथा ग्रामनायक एकत्रित होते हैं। वैसे ही जब यह आत्मा ऊर्ध्वश्वास लेना प्रारम्भ करता है तब अन्तका-लमें इस आत्माके चारों ओर सब प्राण उपस्थित होते हैं, यानी सारी इन्द्रियाँ इस आत्माके अभिमुख होकर इसके साथ जाती हैं॥ ३८ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे जनक, जैसे राजाके किसी देशमें गमन करनेके समय भृत्यआदिक सबके सब साथ ही जाते हैं, वैसे ही मरणकालमें जब यह जीव ऊर्ध्वश्वास लेता है, तब वागादि इन्द्रियाँ मुख्य प्राण सहित इस जीवके साथ ही गमन कर जाती हैं, तब यह शरीर श्मशान-भूमिके योग्य हो जाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार राजाके जानेपर सब

अनुचर उसके पीछे हो लेते हैं, इसी प्रकार जीवके स्थूल शरीरका त्याग करने पर वागादि मुख्य प्राण भी तत्काल साथ ही निकल जाते हैं ॥ ३८ ॥
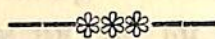
चतुर्थ ब्राह्मण

वैराग्यके लिए पूर्वमें जिस संप्रमोक्षका सूत्रपात किया गया है, वह किस समय अथवा कैसे होता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर उसका सविस्तर वर्णनके करने लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है, यथा—

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

भावार्थ—यह जीवात्मा जब अति दुर्बल हो मूर्च्छितसा हो जाता है तब ये वागादि प्राण इसके अभिमुख उपस्थित होते हैं, वह तैजस अंशोंको चारों ओरसे खींचकर समेटता हुआ हृदयकी ओर ही आता है। जिस समय वह चाक्षुष पुरुष व्यावृत्त हो जाता है उस कालमें मुमूर्षु रूपज्ञानसे रहित हो जाता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इससे पहलेके ज्योतिर्ब्राह्मणमें प्रथम आत्माके स्वप्रकाश रूपका कथन करके अन्तमें आविद्यक संसारका वर्णन किया है। उस संसार के निरूपणके लिए तथा उसकी निवृत्तिके वास्ते इस शारीरकब्राह्मणका आरम्भ किया गया है। जब यह शरीर अति दुर्बलताको प्राप्त हो जाता है तब यह जीव अपने पुत्र कलत्र आदिको भी नहीं पहचानता है, तथा वागादि इन्द्रियोंको ग्रहण करके हृदयमें स्थित ब्रह्मको प्राप्त होता है। उस ब्रह्ममें एकताको प्राप्त होकर नेत्रादिक इन्द्रियोंसे दर्शनादिक नहीं कर सकता ॥ १ ॥

विभिन्न इन्द्रियोंका लिङ्गात्मामें लय और उसके उत्क्रमणका वर्णन किया जाता है, यथा—

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्या-

हुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरे-
कीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकी-
भवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य
हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा नि-
ष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्त-
मुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे
प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञान-
मेवान्ववक्रामति । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते
पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

भावार्थ—मरणके समय उसके चारों ओर बैठे हुए बन्धु, मित्र तथा ज्ञाति आदिके लोग कहते हैं कि नयनेन्द्रिय अब बाह्य स्थूल चक्षुगोलकको छोड़कर सूक्ष्म लिङ्गशरीर या हृदयात्माके साथ एक हो रही है यानी सम्मिलित हो रही है, इस कारण अब यह पुरुष हम लोगोंको नहीं देखता है। इस प्रकार सब बैठे हुए परस्पर बोलते हैं। इसी प्रकार जब घ्राणशक्ति को नहीं पाते तो लोग कहते हैं कि घ्राणेन्द्रिय आत्मामें सम्मिलित होती है, इस कारण वह मुमूर्षु जन पुष्पादिकोंको नहीं सूँघता है, यानी इसकी सूँघनेकी शक्ति जाती रही। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयमें भी जान लेना। रसनेन्द्रिय एकरूप हो जाती है तो 'नहीं चख सकता' ऐसा कहते हैं। वागिन्द्रिय सम्मिलित होती है, अतएव वह नहीं बोल सकता। श्रवणेन्द्रिय आत्मामें सम्मिलित होती है, इस कारण नहीं सुन सकता। सब इन्द्रियोंका अधिपति मन भी बाहरसे अन्तर्लीन हो रहा है इस हेतु अब यह कुछ नहीं समझ सकता। अब स्पर्शका भी इसे बोध नहीं रहा, स्पर्शज्ञान भी लिङ्गात्माके साथ जा मिला। इस प्रकार सम्पूर्ण बाह्य ज्ञान सिमिटकर आत्माके साथ मिल रहा है, अतएव इसमें किसी प्रकारका बोध नहीं रहा। उस समय जीवके हृदयका अग्रभाग विशेष रूपसे चमकने लगता है, अर्थात् हृदयस्थानमें मानो ईश्वरका अनुग्रह भी प्राप्त हुआ, हृदयका चमकना मानो ईश्वरका प्रसाद है। यह शरीरको त्याग करता हुआ जीव उसी महाप्रकाशके साथ इस शरीरसे निकलता है।

वह जिस मार्गसे निकलता है अब उसे कहते हैं, यथा—

नेत्रके मार्गसे यह आत्मा शरीरसे निकलता है, अथवा अन्यान्य कर्ण, नासिका आदिक शरीरके मार्गोंसे यह जीवात्मा निर्गत होता है। जब यह आत्मा निर्गमनोत्सुक होता है तो उसके पीछे पीछे प्राण ऊपरको चलता है। प्राणके उत्क्रमणके पीछे सब इन्द्रिय मानों पीछे पीछे गमन करती हैं। पहले यह कहा गया है कि यह मूर्छित हो जाता है, यहाँ सन्देह हो जाता है कि क्या यह उसी मूर्च्छावस्थामें विदा होता है? इसपर कहते हैं कि यह जीवात्मा उस समय पूर्ववत् ज्ञानवान् होता है. और विज्ञान स्थान को ही यहाँसे प्रस्थान करता है।

अब आगे पाथेय (राहखर्च) कहते हैं, जैसे—

यह आत्मा उपार्जन करके किन पदार्थोंको साथ ले जाता है? उत्तर है कि विद्या, विज्ञान और कर्म उसके पीछे सम्यक् प्रकारसे जाते हैं, और पूर्व जन्मानुभूत बुद्धि भी उसके साथ जाती है॥ २॥

वि॰ वि॰भाष्य—जब मरण समयमें जीव पृथिवी पर शयन करता है, तब पासमें बैठे हुए मनुष्य कहते हैं कि यह नहीं देखता, नहीं सुनता तथा मनन नहीं करता। जब सब इन्द्रियोंका उपसंहार करके यह हृदयमें स्थित होता है तब हृदयका नाड़ीरूप अग्रभाग चैतन्यके आभाससे प्रकाशित होता है। उस प्रकाशित नाड़ीरूप मार्ग द्वारा नेत्र, श्रोत्र, नासिका तथा मुख आदि द्वारोंसे प्राणोंके सहित बाहर गमन करता है। गुदासे नारकीय पुरुष बाह्य गमन करता है, लिङ्गसे कामी पुरुषका गमन होता है, अन्नरसमें आसक्त पुरुष मुखसे निकलते हैं, गन्धमें आसक्त मनुष्य नासिकासे जाते हैं, गायनविद्याके जाननेवाला श्रोत्रसे निकलकर गन्धर्वलोकको प्राप्त होता है, नेत्रसे निकलकर सूर्यको या चन्द्रमाको अथवा अग्नि को प्राप्त होता है। और मस्तकसे निकलनेवाला पुरुष ब्रह्मलोकको जाता है। इस प्रकार नेत्र श्रोत्रादि मार्गों के ज्ञानवाला होकर पुनः भावी शरीरके ज्ञानवाला होता है। पूर्वजन्मकी विहित निषिद्ध उपासना, विहित निषिद्ध कर्म तथा पूर्वजन्मके संस्कार ये तीनों इस जीवके साथ गमन करते हैं, यह जीव स्थूल शरीर विना टिक नहीं सकता॥ २॥

अब जोंकके दृष्टान्तसे देहान्तर गमन का वर्णन करते हैं, यथा—

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निह-

त्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जोंक तृणके अन्त भागको जाकर दूसरे तृणरूप आश्रयको पकड़कर अपनेको संकुचित कर लेती है यानी अपने शरीरके पूर्वभागको अग्रिम स्थानमें रखती हुई चलती है। वैसे ही यह आत्मा इस शरीरको निश्चेष्ट बना अविद्याको दूर कर अन्य शरीररूप आक्रमकका आश्रय कर अपनेको पूर्व शरीरसे पृथक् करता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस प्रकार तृणजलौका नामक जीव अगले दूसरे तृणको ग्रहण करके ही पूर्व तृणका त्याग करता है, इसी प्रकार यह जीव भी उत्तर देहका ग्रहण करके ही पूर्व शरीरको छोड़ता है। वास्तवमें आत्मामें गमनागमनादि व्यवहार नहीं होता है, उसमें (आत्मामें) गमनागमनकर्म बुद्धिके सम्बन्धसे आरोपित है ॥३॥

सुनारके दृष्टान्तसे आत्माके दूसरे देहके निर्माण करनेका वर्णन करते हैं, यथा—

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे स्वर्णकार सुवर्णकी मात्राको लेकर दूसरे नये तथा सुन्दर रूप को बनाता है यानी आकारान्तरकी रचना करता है, ऐसे ही यह आत्मा इस देहका विनाश कर यानी निश्चेष्ट बनाकर दूसरे पितर, गन्धर्व, प्रजापति, ब्रह्मा तथा अन्यान्य भूतोंके नवीन तथा अत्यन्त सुन्दर रूपका निर्माण करता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे स्वर्णकार स्वर्णको ग्रहण करके पूर्व रचनासे नवीन कुण्डलादिरूप रचनाको करता है, ऐसे ही यह आत्मा अविद्यारूपी सुवर्णसे नवीन देहको उत्पन्न करता है। पहले शुभ कर्मोंसे उत्तम पितृलोकमें, या गन्धर्वलोकमें अथवा विराट्लोकमें वा हिरण्यगर्भलोकमें देहको प्राप्त होता है, यानी तत् तत लोकोंमें शरीर धारण करता है, मिश्रित कर्मोंसे मनुष्यादि देहोंको प्राप्त होता है और अधम कर्मोंसे श्वान शूकरादि योनियोंका लाभ करता है ॥ ४ ॥

यह बन्ध केवल उपाधि करके ही कल्पित है, वास्तविक नहीं, इस प्रयोजनके बोधनके लिए उन उपाधियोंका निरूपण करते हैं,—

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह आत्मा ब्रह्म है, यह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय एवं सर्वमय है। जो कुछ इदंमय यानी प्रत्यक्ष है और जो अदोमय यानी अप्रत्यक्ष है वह वही है। अतः इसको सर्वमय कहते हैं, जैसे कर्मके अनुष्ठान और आचरणका अभ्यासी होता है वैसा ही वह होता है। साधु कर्म करनेवाला साधु होता है, पाप कर्म करनेवाला पापी होता है। पुण्य कर्मसे पुण्यवान् और पापकर्मसे पापी होता है। कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है, जैसी कामनावाला होता है वैसा ही संकल्प करता है, जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। यानी अध्यवसायानुकूल कर्म करता हुआ यह वैसा ही फल भोगता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे जनक, यह ब्रह्म ही बुद्धिके साथ अध्यास करनेसे विज्ञानमय हो जाता है, मनके साथ अध्यास करनेसे मनोमय कहाता है, ऐसे ही प्राणमय, चक्षुर्मय और श्रोत्रमय कहा जाता है। पृथिवीके साथ अध्यास होनेसे पृथिवीमय है, इसी प्रकार आपोमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय यानी उन उन भूतोंके देहोंके साथ अध्यास होनेसे वायुमय आदि रूपोंवाला

हो जाता है। पशु तथा प्रेत आदिकोंके शरीर अतेजोमय हैं, उन उन शरीरोंके साथ मिलकर आत्मा भी अतेजोमय हो जाता है। कार्यशरीरोंके साथ मिलकर अनेक वृत्तियोंके भेद करके आत्मा काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय एवं सर्वमय इत्यादि रूपवाला हो जाता है। प्रत्यक्ष घटादिरूप आत्मा ही है इसी कारण आत्माको इदंमय कहा गया है, परोक्ष पदार्थरूप भी आत्मा ही है, इससे आत्मा अदोमय कहाता है। देह तथा इन्द्रियादिकोंके साथ मिलकर आत्मा जैसे जैसे कर्म करता है वैसे वैसे शरीरोंको प्राप्त होता है। इस संसारका असाधारण कारण तो कर्म है, जैसा पुरुषका काम होता है वैसा ही उस पुरुषका निश्चय होता है, उस निश्चयके अनुसार ही मनुष्य कर्म करता है, और जैसे कर्म करता है उन कर्मों के अनुसार वैसे ही फल पाता है ॥ ५ ॥

कामनानुसारी शुभाशुभ वर्णनके साथ कामनारहित ब्रह्मवेत्ताके मोक्षका निरूपण किया जाता है, यथा—

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस विषयमें मन्त्र प्रमाण हैं, इस जीवात्माके मरण समयमें अत्यन्त गमनशील अथवा लिङ्ग शरीर सहित मन जहाँ आसक्त होता है, वहाँ ही यानी उसी विषयके प्रति जाता है, अर्थात् इसका मन जिसमें अत्यंत आसक्त होता है, उसी फलको यह साभिलाष होकर कर्मके सहित प्राप्त करता है। यह वहाँ जो कुछ कर्म करता है उस कर्मके फलको भोगसे समाप्त कर उस लोकसे फिर इस लोकमें कर्म करनेके लिए ही आगमन करता है। इस प्रकार कामनायुक्त हो यह मारा मारा फिरता है। और जो कामना करनेवाला पुरुष नहीं है वह शरीर त्यागानन्तर भी अन्यत्र कहीं नहीं जाता। कौन, जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह पुरुष ब्रह्मवित् होकर ब्रह्मको ही पाता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस पदार्थमें इस मनुष्यका दृढतासे मन आसक्त है,

वह कर्मों सहित उसी पदार्थको प्राप्त होता है। इस मनुष्यदेहमें जो कर्म किये हैं, उन कर्मोंके फलका परलोक आदिमें भोग कर जीव फिर इस पृथिवी लोकमें प्राप्त हो जाता है। फिर पृथिवीमें किये कर्मके फलका भोग कर पुनः इस भूमण्डलमें प्राप्त होता है। इस प्रकार कामनावाला पुरुष इस संसारमें घटीयन्त्रकी तरह आता जाता रहता है। इससे मुमुक्षु जनोंको कामनासे रहित होना चाहिए। हे जनक, जो पुरुष आत्मामें ही कामनावाला है वही आप्तकाम है। इसी कारण उस मनुष्यकी आन्तर बाह्य सर्व कामना निवृत्त हो जाती है। निवृत्तकाम उस जीवन्मुक्तके शरीरसे बाह्य प्राण न निकलकर ब्रह्ममें ही लीन हो जाते हैं। सो वह ज्ञानी पहले ब्रह्मरूप हुआ ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विद्वान् पुरुषकी उत्क्रान्तिका प्रकार दिखाते हैं, यथा—

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस विषयमें ये मन्त्र प्रमाण हैं, इस ब्रह्मप्राप्तिकाम पुरुषको हृदयमें स्थित जो कामनायें हैं वे जब सब प्रकारसे हृदयसे निकल जाती हैं, तब मर्त्य पुरुष भी अमृत हो जाता है, और यहाँ ही ब्रह्मानन्दमें निमग्न होता है। इसमें दृष्टान्त कहते हैं, यथा—जैसे सर्पकी त्वचा, (कांचली) उसके शरीरसे निकलकर बल्मीकके ऊपर पड़ी रहती है, उसकी रक्षा आदिक करनेके लिए सर्प न यत्न ही करता है और न फिर उसे लेना ही चाहता है। ऐसे ही जीवन्मुक्तका यह शरीर स्थित रहता है यानी उसी तरह जीवन्मुक्तके देहकी दशा होती है। इसी कारण यह जीवन्मुक्त पुरुष अशरीर और अमृत कहा जाता है, वही प्राण है यानी जीवन्मुक्त है, इसमें ब्रह्मरूप तेज विद्यमान रहता है। यह सब सुनकर जनक वैदेहने कहा कि सो मैं आपको सहस्र (गाय या मुद्रा) देता हूँ॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—कामना ही बड़ा भारी प्रतिबन्ध है, कामनाके निवृत्त

होनेसे यह मनुष्य शरीरकालमें ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। जैसे सर्प अपनी त्वचा को अपना स्वरूप जानता हुआ उसका त्याग करता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष स्थूल-सूक्ष्म शरीरमें आत्मत्वबुद्धिका त्याग करके अशरीर साक्षी, अमृत, ब्रह्म, ज्ञानघन रूपसे स्थित होता है। जनकने ऐसे सदुपदेशको सुनकर ही हजार गायें देनेकी प्रार्थना की ॥ ७ ॥

अब ब्रह्मवेत्ताका अनुभव वर्णन करते हैं, यथा—

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस विषयमें ये मन्त्र प्रमाण हैं—अणु-सूक्ष्म, सर्वत्र विस्तीर्ण और पुरातन जो पथ है यानी ज्ञानमार्ग है, मुझे वह प्राप्त हुआ है, मैंने ही इसको विचारा है या प्रचार किया है। उस पथसे अन्य ब्रह्मवित् और जीवन्मुक्त पुरुष इस शरीरपातके अनन्तर ही स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा जनकने तत्त्वज्ञान तो श्रवण किया, परन्तु तत्त्व-ज्ञानके कारण साधनोंके जाननेकी इच्छा करता हुआ पहलेकी तरह प्रश्न करने लगा। यथा— हे भगवन्, आप ज्ञानके साधनोंका भी कथन करें। यह सुन याज्ञवल्क्य मुनि आत्मज्ञानके साधनोंका कथन करते हुए बोले कि हे जनक, यह ज्ञानरूप मोक्षका मार्ग सूक्ष्म है, संसारसमुद्रसे पार करनेवाला है और वैदिक होनेसे यह ज्ञानमार्ग पुराना है। इस ज्ञानमार्गके द्वारा ब्रह्मचर्यादि साधनयुक्त हुए विद्वान् इस देहका त्याग करके मोक्षको प्राप्त होते हैं। हे राजन्, यह ज्ञानमार्ग मुझे प्राप्त हुआ है ॥ ८ ॥

इस मोक्षसाधनरूप ज्ञानमार्गमें उपासकोंके मतभेदकी दुर्विज्ञेयता बोधन करते हैं, यथा—

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्य-कृत्तैजसश्च ॥९॥

भावार्थ—इस मार्गके विषयमें बड़े मतभेद हैं, कोई इस मार्गको शुक्ल, कोई नील, कोई पीला, कोई हरा तथा कोई लोहित बताते हैं। किन्तु यह मार्ग साक्षात्

ब्रह्मद्वारा अनुभूत है। ब्रह्मवित्, पुण्यकृत् और तैजस पुरुष ही इस पथसे परमानन्द को पाते हैं॥ ९॥

वि० वि० भाष्य—उस पूर्वोक्त मार्गके विषयमें यह पथ शुक्ल अर्थात् शुद्ध है,कोई ऐसा कहते हैं। किसीने इसे शरद ऋतुके मेघके समान नील बतलाया है। कोई अग्निकी ज्वालाके सदृश पिङ्गलवर्ण कहते हैं। कोई वैडूर्य मणिके समान हरित तथा कोई जपाकुसुमतुल्य रक्त कहते हैं। अस्तु; किसी विद्वान्ने इस मन्त्रकी यह व्याख्या की है कि मुक्ति अवस्थामें मुक्त पुरुषका स्वरूप शुक्ल, नील, पिङ्गल, हरित तथा लोहित वर्णका होता है। अर्थात् मुक्त पुरुष अपनी इच्छानुसार विचित्र शक्तियोंको धारण कर लेता है, और वह मार्ग उसको ब्रह्म (वेद) द्वारा ही प्राप्त होता है॥ ९॥

प्रस्तुत ज्ञानमार्गकी स्तुतिके लिए अज्ञानियोंके मार्गकी निन्दा करते हैं, यथा—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥१०॥

भावार्थ—जो अविद्याकी उपासना करते हैं, यानी कर्मकाण्डमें ही प्रवृत्त रहते हैं वे अज्ञान नामक अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं और जो विद्यामें अनुरक्त रहते हैं यानी कर्मकाण्डात्मक त्रयी विद्यामें रत रहते हैं वे उससे भी अधिक अन्धेरे जा गिरते हैं॥ १०॥

वि० वि० भाष्य—जो विद्यासे भिन्न साध्य-साधनरूप कर्मका अनुगमन यानी उपासना करते हैं वे संसारके नियामक अन्धकारमें यानी अज्ञानरूप अन्धकारमें पड़नेसे नहीं बच सकते। और उससे भी अधिक वे अन्धकूपमें गिरते हैं जो विद्या कहाती हुई भी अविद्यारूप वस्तुका प्रतिपादन करनेवाली कर्मार्था त्रयीमें रत रहते हैं। वे उपनिषदर्थकी उपेक्षा करनेवाले हैं। इसकी व्याख्या किसी ने ऐसी भी कही है कि जो अज्ञानी पुरुष अविद्याकी उपासना करते हैं अर्थात् अनित्यमें नित्य, शुचिमें अशुचि और अनात्ममें आत्मबुद्धि करते हैं, वे अन्धन्तम यानी मूढावस्थाको प्राप्त होते हैं। और जो कर्मानुष्ठान करनेके अभिमानमें प्रवृत्त रहकर ज्ञानसे वर्जित रहते हैं वे उससे भी महामूढावस्थाके गड्ढेमें गिरते हैं॥ १०॥

अदर्शनात्मक अन्धकारमें प्रवेश करनेपर भी उनकी हानि क्या है ? इसपर कहते हैं, यथा—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाँसोऽबुधो जनाः ॥ ११ ॥

भावार्थ—वे जो अनन्द यानी असुख नामक लोक हैं वे अन्धतमसे परिपूर्ण हैं। वे अविद्वान् तथा अज्ञानी जन मरकर उन्हीं लोकोंको प्राप्त होते हैं ॥ ११

वि॰ वि॰ भाष्य—इस मन्त्रमें जो लोक शब्द आया है उसके अनेक अर्थ हैं किंतु भुवन और जन अर्थमें प्रायः इसका अधिक प्रयोग होता है, जैसे पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक इत्यादि प्रयुक्त होता है। मनुष्योंमें भी कोई कोई ऐसे अज्ञानी होते हैं कि वे ईश्वरके विषयमें कुछ भी नहीं जानते, अभी तक कोल भील और वनवासी पशुओंके समान ही हैं। सभ्य देशोंमें भी विद्वानोंके घरमें कोई कोई बड़े मूर्ख उत्पन्न होते हैं; यह प्रत्यक्ष ही है। बहुतसे स्थान ऐसे हैं जहाँ सूर्यकी उष्णता भी नहीं पहुँच सकती। अति गम्भीर समुद्रके तले उष्णता नहीं जाती, अन्य भी ऐसे बहुतसे स्थान होंगे। इस कारण यहाँ दोनों अर्थ हो सकते हैं।

जो मनुष्य अथवा स्थान अन्धा बनानेवाले अज्ञानरूप या अप्रकाशरूप तम से ढके हुए हैं वे आनन्दरहित कहलाते हैं। जो अज्ञानी हैं, केवल सामान्य अज्ञानी नहीं किन्तु कुछ भी नहीं समझ सकते हैं, ऐसे मनुष्य मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं, यानी उन अन्धकारावृत मनुष्योंमें अथवा स्थानोंमें जन्म लेते हैं ॥ ११ ॥

फिर भी प्रकृत मार्गकी स्तुतिके लिए उसमें निष्ठा करनेवालेके क्लेश की हानि होती है यह कहते हैं, यथा—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥

भावार्थ—जब पुरुष आत्माको भले प्रकारसे जान लेता है कि यह मैं हूँ, तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनाके लिए शरीरको संतप्त करे ? ॥ १२ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जब अधिकारी नित्य अपरोक्ष पूर्ण आत्माको हृदयमें स्थित, क्षुधा तृषादि धर्मों से रहित जानता है तब आत्मासे भिन्न किस

फलकी इच्छा करता हुआ किस भोक्ताके वास्ते तथा किस फलकी प्राप्तिके लिए शरीरोंको दुःखी करके आप दुःखी हो ? तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष प्रारब्ध कर्मानुसार शरीरोंके दुःखी होते हुए भी अपनेको असङ्ग निर्विकार मानता हुआ तपायपान नहीं होता। इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए श्री विद्यारण्यस्वामीने पंचदशी नामक ग्रन्थमें चिदाभासकी सप्त अवस्था कथन की हैं। अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकापगम और निरंकुश तृप्ति; ये सात अवस्था हैं। जैसे सरलमतिवाले दस पुरुष नदीसे पार उतरकर दसवें मनुष्यको नदीमें बह गया मानते हैं, वस, उस दसवेंको न जानना यही अज्ञान है। यह चिदाभासकी पहली अवस्था है। 'दशम नहीं है' तथा 'दशमका भान नहीं होता' इन दोनों व्यवहारोंका कारण असत्त्वापादक तथा अभानापादक दो प्रकारका यह आवरण है। यह उसकी दूसरी अवस्था है। दशमके शोकसे रोना पीटनारूप विक्षेप है, यह तीसरी अवस्था है। किसी कृपालु पुरुषके कहनेसे, 'दशम कहीं जीवित है' यह ज्ञान होना परोक्षज्ञान है, यह चौथी अवस्था है। 'दशम तू है' यह वचन श्रवण करके 'दशम मैं हूँ' यह ज्ञान होना अपरोक्ष ज्ञान है, यह पाँचवी अवस्था है। दशमके लाभ होनेसे शोककी निवृत्तिका नाम शोकापगम है, यह छठी अवस्था है। दशमके लाभ होनेसे ही पश्चात् होनेवाले परम आनन्दका नाम निरङ्कुश तृप्ति है, यह चिदाभास की सातवीं अवस्था है। जैसे चिदाभासरूप जीव विषयोंमें आसक्त हुआ अपने स्वरूपको नहीं जानता, अपने स्वरूप को न जानना यह अज्ञानरूप प्रथम अवस्था है। कूटस्थ नहीं है, कूटस्थका नहीं भान होता, यह द्विविध आवरण है। कर्ता-भोक्ता, सुखी–दुःखी, कामी–क्रोधी, क्षुधा-तृषावाला और बली-निर्बल इत्यादिरूप विक्षेप है। गुरुके उपदेशसे प्रथम 'कूटस्थ है' ऐसा ज्ञान होना परोक्ष है। विचार करनेके पश्चात् मैं ही कूटस्थ हूँ, ऐसे अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होता है। उस अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होकर कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप शोकको निवृत्त करता है। इसमें मैंने करने योग्य कर लिया तथा प्राप्त होने योग्य प्राप्त कर लिया; ऐसी निरंकुश तृप्ति होती है। ये सप्त अवस्थाएँ प्रसङ्गसे दिखायी गई हैं।

इस मन्त्रका विद्वान् लोग इस प्रकार भी व्याख्यान करते हैं—प्रायः अज्ञानी से अज्ञानी पुरुष भी यह समझता है कि मैं गौर हूँ, मैं कृष्ण, गरीब, रोगी तथा विद्वान् हूँ इत्यादि। यहाँ यह उदाहरण इसलिए कहा गया है कि प्रायः सब कोई अपने स्वरूपको प्रत्यक्ष रूपसे जानता है। सो जिस प्रकार अपने स्वरूपको प्रत्यक्ष जानता है कि 'मैं यह हूँ' इसी प्रकार प्रत्यक्षतया यदि कोई मनुष्य उस परमात्माको

जान लेवे, तब वह कदापि शरीर धारण करके दुःख नहीं पाता है । यही बात आगे कहते हैं— तब वह परमात्मवित् पुरुष क्या इच्छा करता हुआ किस पदार्थकी कामना के लिए शरीरके पीछे दुःखी होवे ? यानी आत्मज्ञानानन्तर मनुष्यको कोई भी कामना नहीं रहती, जब कि कोई इच्छा ही नहीं तब फिर किस कामनाके लिए शरीरको धारण करेगा, क्योंकि इच्छाकी पूर्तिके लिए ही शरीर धारण है ॥ १२ ॥

आत्मवेत्ताकी महिमाका वर्णन करते हैं, यथा—

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस साधकका जीवात्मा विचारवान् और प्रतिबुद्ध परम ज्ञानी हो गया है, जो आत्मा इस गहन शरीरमें प्रविष्ट है, वह साधक विश्वकृत्--बहुत कुछ कर सकता है। क्योंकि वह सब पदार्थका कर्ता है, उसीका लोक है, वह लोक-स्वरूप ही है ॥ १३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस मन्त्रमें परमात्मज्ञानीकी प्रशंसा की गई है, यह अथवादश्रुति है। जिस साधकका जीवात्मा बहुत श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनादि व्यापार करनेके अनन्तर परम विचारयुक्त हो गया है और जो प्रत्येक पदार्थ-विषयक ज्ञानवान् होकर परमात्मतत्त्वज्ञता प्राप्त कर सका है, जो आत्मा इस कठिन देहमें प्रविष्ट है, वह सब काम कर सकता है। क्योंकि वह सबका कर्ता है, उसीका लोक है, यह निश्चय है ॥ १३ ॥

केवल श्रौत ही कृतकृत्यता नहीं है, किन्तु आनुभविक भी है, यह कहते हैं, यथा—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस देहमें अवस्थित रहते हुए ही यदि पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं करता तो वह नाशको प्राप्त होता है, और जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है वह ब्रह्मको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है ॥ १४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—आत्माको यहीं जान लेना चाहिये, भाव यह है कि इस अनेकों अनर्थपूर्ण शरीरमें जहाँ मनुष्य अज्ञानरूप दीर्घ निद्रासे मोहित रहता है, वहाँ

किसी प्रकार यदि हम उस ब्रह्मतत्त्वको आत्मभावसे जान लें, तब तो हम कृतार्थ हो गये। जैसे ब्रह्मको जानकर हम इस विनाशसे सम्यक् प्रकारसे मुक्त हो गये हैं, ऐसे जो उसे जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं। किन्तु जो उसे इस प्रकार नहीं जानते वे ब्रह्मवेत्ताओंसे भिन्न अन्य लोग अर्थात् अब्रह्मवेत्ता जन्म मरणादिरूप दुःखोंको ही प्राप्त होते हैं। भाव यह है कि अज्ञानियोंकी उससे कभी निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि वे दुःखको ही आत्मभावसे ग्रहण करते हैं ॥ १४ ॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

भावार्थ— जब साधक साधनके पश्चात् इस आत्मदेवको देखता है, जो भूत भविष्यत्का अनुशासन करनेवाला है, तब वह किसीकी निन्दा नहीं करता है ॥१५॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जब आचार्यके उपदेशके अनुसार अनुष्ठानके पश्चात् साधक साक्षात् इस परमात्मदेवको देखता है वा जान लेता है, तब इस आत्माके साक्षात्कारके कारण किसी जीवसे घृणा नहीं करता तथा किसीकी निन्दा नहीं करता। भेददर्शी सभी लोग ईश्वरसे अपनी रक्षा चाहते हैं, किन्तु यह अभेददर्शी किसीसे भयभीत नहीं होता। इसी लिए जब यह ईशानदेवको साक्षात् आत्मरूपसे देखता है तो अपनेको सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं करता। जो इस प्रकार देखनेवाला है, वह किसकी निन्दा करे? ॥१५॥

जब कि ईश्वर भी कालकी अपेक्षा रखता है तो उसमें ईश्वरता कैसी? इस पर कहते हैं, यथा—

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥

भावार्थ—संवत्सरचक्र अहर्निश आदि अवयवोंके सहित जिसके अधोभागमें घूमता रहता है, उस आदित्यादि तेजोंके तेजःस्वरूप यानी ज्योतिर्मयतत्त्व अमृतकी देवता लोग आयु नामसे उपासना करते रहते हैं ॥ १६ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस स्थलमें यह सन्देह होता है कि ईश्वरसे प्रथम काल था तो ईश्वर उस कालका स्वामी या निर्माता कैसे हो सकता है? इसपर कहते हैं—दिनोंके साथ यानी अहर्निश अपने अवयवोंसे उपलक्षित संवत्सररूप काल जिस परमात्माके पीछे घूमता है, वह सूर्य, अग्नि, तथा विद्युत् आदि

ज्योतियोंका भी ज्योति अर्थात् प्रकाशक है तथा सम्पूर्ण जगत्को आयु देनेवाला भी वही है, एवं अमर यानी मरणरहित है। अवश्य ही उसी परमात्माकी विद्वद्गण उपासना करते हैं, सर्वत्र निरन्तर उसीकी महिमाका अनुभव करते रहते हैं।

वह अमृतज्योति है, उसके अतिरिक्त जितनी ज्योतियाँ हैं वे मर जाती हैं, किन्तु उस ज्योतिका विनाश नहीं होता। देवता लोग उसे आयुरूपसे अपनी उपासनाका लक्ष्य बनाते हैं। वह ज्योति सभीकी आयु है, देवगण उस ज्योतिकी आयुरूप गुणके कारण उपासना करनेसे आयुष्मान् (अमर) होते हैं। भाव यह है कि जिसे आयुष्मान् बननेकी इच्छा हो वह ब्रह्मकी आयुरूप गुणके द्वारा उपासनामें अवश्य प्रवृत्त हो ॥१६॥

इस अमृततत्त्वको सबके अधिष्ठानरूपसे सिद्ध करते हैं, यथा—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

भावार्थ—जिसमें पाँच पञ्चजन्य अर्थात् प्राण, श्रोत्र, चक्षु, अन्न और मन ये पाँच पदार्थ तथा आकाश यानी अव्याकृत प्रतिष्ठित है, निश्चय करके उसकी उपासनासे जीवन्मुक्त हुआ मैं उसी ब्रह्मको अमृत मानता हूँ ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस परमात्मामें पञ्च प्रकारके मनुष्य अर्थात् गन्धर्व, पितर, देव, असुर, और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पञ्चम निषाद अथवा पाँच पञ्चजन्य नामक ज्योति अर्थात् प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और आकाश प्रतिष्ठित हैं उसीको मैं परमात्मा मानता हूँ, उसीको मैं अमर मानता हूँ, उस ब्रह्मको जाननेवाला होनेसे मैं अमृत हूँ। मैं अज्ञानमात्रसे ही मरणधर्मा था, उसकी निवृत्ति हो जानेसे मैं ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

वह प्राणका भी प्राण है, क्योंकि उस आत्मभूत चैतन्यात्मक ज्योतिसे प्रकाशित होता हुआ ही प्राण प्राणनक्रिया करता है, यह कहते हैं, यथा—

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो उसको प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र और मनका मन जानते हैं, निश्चय करके उन्हीं पुरुषोंने सबके पूज्य शाश्वत ब्रह्मको पा लिया है ॥ १८ ॥

वि० वि० भाष्य—वह प्राणादिका प्राण है, क्योंकि उसी ब्रह्मकी शक्तिसे अधिष्ठित नेत्र आदिकोंमें दर्शन आदिका सामर्थ्य है। चैतन्य ज्योतिसे शून्य होनेपर तो वे स्वतः काष्ठ तथा मिट्टीके ढेलेके समान हैं। इस प्रकार जो जानता है, यानी चक्षु आदिके व्यापारसे जिसके अस्तित्वका अनुमान होता है उस प्रत्यगात्माको जो इस प्रकार जानता है कि वह 'इन्द्रियोंका विषयभूत नहीं है', उसने प्राचीन और आगेसे आगे रहनेवाले ब्रह्मको अवश्य ही जान लिया है ॥ १८ ॥

अब शुद्ध मनको ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन कथन करते हैं, यथा—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

भावार्थ—निश्चय ही वह ब्रह्म शुद्ध मनसे जाना जाता है, उसके जाननेके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है, अथवा उसमें नाना कुछ भी नहीं है। वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है, जो ब्रह्ममें नानापन देखता है ॥ १९ ॥

वि० वि० भाष्य—अनु—पश्चात् यानी आचार्योपदेशके अनन्तर उस शिक्षाके अनुसार श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि व्यापारके पश्चात् एकाग्र-शुद्ध वशीकृत मनसे ही (अन्य इन्द्रियोंसे नहीं) वह देखा जा सकता है। इस द्रष्टव्य ब्रह्ममें कुछ भी अनेकत्व [भेद] नहीं है, यानी अनेक ब्रह्म नहीं हैं, वह एक ही है। जैसे कोई अज्ञानी सूर्य आदिकोंको अथवा इस संसारको भी ब्रह्म मानते हैं, कोई उसी शुद्ध ब्रह्मके अनेक भेद करके उसे हिरण्यगर्भ, विराट्, ईश्वर, जीव मानते हैं और कोई ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशके भेदसे तीन ब्रह्मोंको मानते हैं। ये ब्रह्म नहीं हैं किन्तु उसकी शक्तिसे शक्तिमान् हैं, उसकी महिमासे महत्त्वको प्राप्त हो रहे हैं, वास्तवमें ये सब एक ब्रह्म ही हैं, नाना ब्रह्म नहीं हैं। जो अज्ञानी इस ब्रह्ममें अनेकत्वसा देखते हैं, वे मृत्युसे मृत्युको पाते हैं। भाव यह है कि वे बार बार जन्म लेकर चौरासी लक्ष योनिमें चक्कर काटते रहते हैं। यह तत्त्व परमार्थज्ञानसे संस्कारयुक्त हुए मनसे ही आचार्योपदेशपूर्वक जाना जा सकता है। नानात्वके न रहते हुए भी जो अविद्यासे उसमें नानात्वका आरोप करता है वह आवागमनके चक्करसे छुटकारा नहीं पा सकता। भाव यह है कि उसमें अविद्याजनित आरोपके अतिरिक्त परमार्थतः द्वैत है ही नहीं ॥ १९ ॥

द्वैतके अभावमें उसे कैसे देखना चाहिए, इस विषयमें कहते हैं, यथा—

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् ।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः॥ २० ॥

भावार्थ—वह ब्रह्म एक ही प्रकारसे द्रष्टव्य, अप्रमेय और ध्रुव है, वह आत्मा विरज, आकाशसे पर, अज, महान् और ध्रुव है ॥ २० ॥

वि० वि० भाष्य—उस ब्रह्मको एक ही प्रकारसे यानी एक रूपसे 'एकत्वेन' देखना चाहिए, ऐसा देखने या जाननेमें आचार्योपदेश ही सहायक है। क्योंकि ब्रह्म एक होने से अप्रमेय है, विचलित न होनेसे ध्रुव है । जो किसी भी प्रमाणका विषय न हो, उसके बोध करानेमें सिवाय आचार्य गुरुके और कौन समर्थ हो सकता है। वेदसे सब कुछ जाना जाता है, पर उसके समझानेवाला भी तो गुरु ही हो सकता है। गुरुदेव कुछ तो शास्त्रसे कहता है और कुछ स्वानुभवसे, निज अनुभव ईश्वरके भजनसे प्राप्त किया जाता है, जिस ईश्वरकी कृपासे वह आचार्य जैसे उत्तरदायी पदको प्राप्त हुआ है । शास्त्रों तथा लोकमें आचार्यकी इसलिए प्रतिष्ठा है कि उन्होंने वेदादि विद्याओंके अध्ययनमें परिश्रम किया है और साथ ही तपश्चर्याके द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त किया है। इन दो योग्यताओंसे आचार्यका आचार्यत्व है। जिसमें विद्या नहीं तथा तप नहीं, वह आचार्य काहेका ? इसीसे औपनिषद्विज्ञान-प्रतिपादक ग्रन्थोंमें ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मश्रोत्रियको जनकल्याण साधन-कर्ता कहा गया है ॥ २० ॥

ब्रह्मनिष्ठके लिए अधिक अनात्मशास्त्रोंका पठन पाठन बाधक है, यथा—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति॥२१॥

भावार्थ—विवेकी पुरुष आचार्य द्वारा शास्त्रका श्रवण करके ब्रह्मप्राप्तिके लिए निदिध्यासनरूप कर्म करे, और बहुत शब्दोंका अध्ययन न करे, क्योंकि ऐसा करना केवल वाणीका ही श्रम है ॥ २१ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ यह कहा गया है कि 'बहुतसे शब्दोंका अनुचिन्तन न करे', यहाँ बहुत्वका प्रतिषेध करनेसे केवल आत्माका एकत्व प्रतिपादन करनेवाले थोड़ेसे शब्दोंके अनुशीलनके लिए अनुमति सूचित होती है। वेदोंमें कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड बहुत बड़ा है, उसके समक्ष ज्ञानकाण्ड बहुत ही कम है, अतः उस औपनिषदरूप ज्ञानप्रतिपादक वेदभागके अध्ययनाध्यापनकी तो विधि है ही।

व्यर्थ निष्प्रयोजन तथा सदाचारप्रतिकूल ग्रन्थोंके अध्ययन करनेमें दोष है। बहुत से लोग उपन्यास, नाटक तथा श्रृङ्गार रसपूर्ण ग्रन्थोंको साहित्य कहकर अहर्निश अध्ययन करनेमें लगे रहते हैं। उनके प्रेमियोंका कथन है कि साहित्यसे भाषा परिमार्जित हो जाती है, यह कथन तो ठीक है, पर अनुपम अथच अमूल्य सदाचारको जो आघात पहुँचता है, इस क्षतिकी पूर्ति कहाँ होगी ? हम साधनरूपमें साहित्यके अध्ययन करनेका निषेध नहीं करते; ऐसा करना विद्वत्ता संपादन करनेके मार्गमें काँटे बिछाना है, पर इसके अत्यधिक अध्ययनका विरोध करते हैं।

तात्पर्य यह है कि दुर्लभ मानवदेह प्राप्त करके आत्मज्ञानसे वंचित रह जानेसे बढ़कर और कोई दुर्भाग्यकी बात नहीं हो सकती। संसारमें चाहे जो भी करते धरते रहो, पर आत्मज्ञानसे अवश्य परिचित रहो। जगत्के सभी पदार्थ तभी शान्तिप्रद हो सकते हैं जब उन्हें ब्रह्ममें अनुस्यूत समझा जाय। संसारमें रहकर वे ही अनर्थसे बच सकते हैं जो आत्मतत्त्वसे परिचित होंगे। वे यह समझकर किसीसे अशिष्ट व्यवहार नहीं करेंगे कि 'कितने दिनोंके लिए किसे सताया जाय ? अनित्य संसारमें इस नश्वर शरीरसे कुछ नित्य-ध्रुव वस्तुकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए। काचके महलमें बैठकर किसीके ऊपर ढेले फेंके जायेंगे तो प्रतिपक्षी ईंटोंकी बौछारसे आश्रयभूत काचके दुर्गको धूलमें मिला देगा। जो ऐसा समझ लेगा वह क्यों किसीसे छेड़ छाड़ करने लगा है ? कोई भी बुद्धि रखनेवाला अपने साथ द्रोह नहीं करता, जब कि सर्वत्र सबके रोम रोममें वही एक आत्माराम रम रहा है, यानी सर्वत्र रामके ही आनन्दका स्रोत प्रवाहित हो रहा है। तो फिर कौन है वह दूसरा जिससे कुछ कहा सुना जाय, और बुरा भला समझा जाय।

भाष्यकार कहते हैं कि उस ऐसे आत्माको ही आचार्यके उपदेश तथा शास्त्र-विज्ञानसे जानकर धीर यानी बुद्धिमान ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) शास्त्र और आचार्यने जिसके विषयका उपदेश दिया है तथा जो जिज्ञासाकी सर्वथा समाप्ति कर देने-वाली है ऐसी प्रज्ञा यानी बुद्धि स्थिर करे। भाव यह है कि इस प्रकारकी प्रज्ञा उत्पन्न करनेके साधन संन्यास. शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधिका पालन करे। अभ्यास करनेसे ऐसी प्रज्ञा का उदय हो जाता है।

कोई यह न समझनेका भ्रम करे कि इस मन्त्रमें विविध विद्याओंके अध्ययनका निषेध किया गया है। कई महाशयोंके मुखसे 'नानुध्यायाद् बहून् छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति' इस वचनको लेकर यह कहते सुना जाता है कि इस मन्त्रमें बहुत पढ़नेका निषेध किया गया है। यह समझना ठीक ही है। भला समझो तो

कि बहुतसा पढ़कर भी आचरण उसके अनुकूल न बनाना यह ठीक है, या थोड़ा पढ़कर भी अपनेको सदाचारी जीवनवाला बनाना यह ठीक है ? चाहे कम ही पढ़ा हुआ हो पर वह ठीक हो, बहुत पोथियाँ क्या हित कर सकीं, जिनसे आत्माके पहचाननेमें सहायता नहीं मिल सकी। वाणीको थकावट देना ही है, यदि उस अध्ययनसे आत्मैकत्व विज्ञानकी पुष्टि न हो सकी तो ॥ २१ ॥

इस ब्राह्मणमें फलयुक्त आत्मज्ञानका निरूपण किया गया है, काम्य वेदराशिको छोड़कर अवशिष्ट वेदका इसी आत्मज्ञानमें उपयोग है। इसके लिए अब कहते हैं—

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

भावार्थ—अवश्य ही जो यह विज्ञानमय परमात्मा हृदयाकाशमें विराजमान है, वही सबका नियन्ता और वही सबको वशमें रखनेवाला है, महान्, अजन्मा और वही सबका अधिपति है। वह किसी प्रकारके पुण्य पापसे लिप्त नहीं होता है। और वही सब लोकोंको मर्यादामें रखनेवाला सेतुरूप है। ब्राह्मण लोग वेदाभ्यास, यज्ञ, दान तथा तप आदि कर्मोंसे उसके जाननेकी इच्छा करते हैं, क्योंकि उसीको जानकर पुरुष मुनि होता है और उसीके जाननेके लिए पुरुष संन्यास ग्रहण करता है। यह भी स्पष्ट है कि पूर्व समयके विद्वान् लोग प्रजाकी कामना न करते हुए यह कहते थे कि यदि परमात्माकी प्राप्ति न हुई तो हम प्रजासे क्या करेंगे? यह विचार कर पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा इन तीन एषणाओंसे व्युत्थानको प्राप्त हुए संन्यासी भिक्षाटन करते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है। इस प्रकार ये दोनों ही एषणा बनती हैं। जिनसे यति लोग पार होकर केवल आत्माके आनन्दमें मग्न रहते हैं। हे राजन्, यह आत्मा अगृह्य यानी किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, अशीर्य यानी उपचयापचयसे रहित है, असङ्ग है, असत यानी सब प्रकारके बन्धनसे रहित आनन्दस्वरूप है। इसीके साक्षात्कार द्वारा यति लोग शुक्ल तथा कृष्ण दोनों प्रकारके कर्मोंसे पार हो जाते हैं। फिर उनके चित्तमें किसी प्रकारका ताप नहीं रहता ॥ २२ ॥

इस प्रकार उक्त ब्रह्मविद्याके फलके विषयमें मन्त्रका संवाद दिखाते हैं, यथा—

तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्म-लोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥२३॥

भावार्थ—इस मन्त्रमें निष्काम ब्रह्मवित् की प्रशंसा की गई है। पहले जिस संन्यासका जैसा वर्णन किया गया है, ऋचाके द्वारा भी वैसा ही प्रकाशित है, वह यह है—ब्रह्मवित् पुरुषकी यह पूर्वोक्त महिमा स्वाभाविक है, वह महिमा न कर्मसे बढ़ती है और न स्वल्प ही होती है, उसी महिमाके मार्गवेत्ता मनुष्य हों। उसको जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता, अर्थात् ज्ञानी पापकर्ममें आसक्त नहीं होता। इस लिए ऐसा ज्ञाता पुरुष शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है यानी सबको आत्मतुल्य ही देखता है। इसको पाप नहीं प्राप्त होता, यह साधक ही सब पापोंसे तैर जाता है। इसको पाप तपाता नहीं किन्तु यही पापको तपाता है। यह पापरहित, रजोगुणरहित और संशयरहित ब्राह्मण होता है। यह ब्रह्मलोक यानी ब्रह्मवित् पुरुषोंका लोक है। हे सम्राट्, यहाँ तक आप पहुँच गये हैं, इस प्रकार याज्ञवल्क्यने कहा। यह सुनकर राजा जनक कहते हैं कि हे परमगुरो, सो मैं आपको सम्पूर्ण विदेहराज्य देता हूँ, और सेवाके लिए मैं अपनेको भी समर्पित करता हूँ॥ २३॥

अब ब्रह्मज्ञानका अवान्तर फल कथन करते हैं, यथा—

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥

भावार्थ—निश्चय ही यह महान्, अजन्मा परमात्मा ही अन्नका संहर्ता और धनदाता है। जो ऐसा जानता है, वह धन पाता है। कोई विद्वान् इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि अवश्य ही यह महान्, अज, आत्मा यानी परमात्मा अन्नाद—अत्ता, सबका उपसंहार करनेवाला तथा वसुदान—सबका कर्मफलदाता है। जो उसको इस प्रकार जानता है, वह सब प्रकारकी कामनाओंको प्राप्त होता है॥ २४॥

अब उपसंहारमें ब्रह्मज्ञानका मुख्य फल कथन करते हैं, यथा—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥ २५ ॥

भावार्थ—निश्चय करके यह महान् अज आत्मा सर्वव्यापक, अजर, अमर, अमृत तथा अभयरूप ब्रह्म है। जो इस प्रकार ब्रह्मको अभय जानता है वह अवश्यमेव अभय पदको पा जाता है, यानी मोक्षधाममें जा पहुँचता है।

वि० वि० भाष्य०—इस आरण्यकमें जिस विषयका प्रतिपादन किया गया है

वह सब इसी कण्डिकामें संगृहीत करके बतलाया गया है, यानी पूरे आरण्यकका इतना ही तत्त्व है, इसमें याज्ञवल्क्य महर्षिने महाराज जनकको यह उपदेश दिया है कि सूर्यादि ज्योतियोंके ज्योति, सर्वके अधिष्ठान, आकाशके समान व्यापक, अजन्मा, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव इस आत्माको गुरु तथा शास्त्रके उपदेशसे जानकर मुमुक्षुजन आत्माकार वृत्तिको ही धारण करे। जिज्ञासुको चाहिए कि वह अनात्म वार्ताकी चर्चामें अपना तथा दूसरेका समय नष्ट न करे। ऐसा करना केवल कण्ठको शुष्क करना है, तथा मनको विक्षेप देना है। जो विद्वान् ऐसे आत्माको जान लेता है उसकी पापकर्मोंसे किञ्चित् भी हानि नहीं होती और न पुण्यकर्मोंसे उसका उत्कर्ष ही होता है। अभिप्राय यह है कि सर्व प्रपञ्चको मिथ्या जाननेवाला तथा अपने आपको परमानन्दस्वरूप मानता हुआ पापोंके विषयमें कर्तृत्वबुद्धिके अभावसे प्रवृत्त नहीं होता है और न वह जो पिलीलिकामर्दनादि अज्ञात पाप हैं, उनसे लिपायमान ही होता है। उसके पूर्व जन्मके संचित पुण्य पाप ज्ञानरूपी अग्निसे भस्मीभूत हो जाते हैं। कमलमें जलकी तरह आगामी कर्म लिपायमान नहीं कर सकते, प्रारब्धका भोगसे नाश हो जाता है, इस प्रकार सर्वबन्धरहित हुआ विद्वान् मोक्षको प्राप्त होता है। हे जनक, ऐसे ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही वेदका पठन पाठन, यज्ञ, दान, तप आदि साधन हैं। इस आत्माके जाननेकी इच्छा करते हुए अधिकारी जन विधिपूर्वक विविदिषासंन्यासको धारण करते हैं। तथा इस आत्माको जानकर भी जीवन्मुक्ति सुखकी प्राप्तिके लिए पुत्र, वित्त और लोक इन तीनोंकी एषणाका त्याग कर विद्वत्संन्यासको विधिपूर्वक ग्रहण करते हैं। हे जनक, यतः साधनोंके बिना आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती अतः जिज्ञासुको बाह्य इन्द्रियोंके निरोधरूप दमसे युक्त तथा शान्तमन हो संन्यास आश्रमका ग्रहण करना उचित है। फिर जिज्ञासु श्रद्धा तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वसहनरूप तितिक्षा एवं चित्तकी सावधानता इन साधनोंसे सहित होकर अपने अन्तःकरणमें स्व स्वरूपका प्रत्यक्ष करे। उस आत्माके प्रत्यक्षसे सर्व पुण्य पापादिकोंको दूर कर निःसन्देह ब्रह्मको प्राप्त होता है। हे जनक, तू ऐसे अभय ब्रह्मको प्राप्त हुआ है।

यह सुनकर जनक बोला—हे भगवन्, आपकी कृपासे मैं अभय ब्रह्मको प्राप्त हुआ हूँ, इस कारण आप मेरे विदेहनामक देशोंको यानी मेरे सम्पूर्ण राज्यको ले लीजिये। मेरा शरीर भी आपकी सेवामें काम आवे, यानी मुझे अपना सेवक जानकर अङ्गीकार कीजिये ॥ २२-२५ ॥

—॰❀❀❀—

पञ्चम ब्राह्मण

पूर्व ब्राह्मणमें विस्तारपूर्वक जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है, फिर उसी परमात्मतत्त्वकी दृढ़ताके लिए मैत्रेयीब्राह्मणका आरम्भ करते हैं, यथा—

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥१॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्यकी मैत्रेयी और कात्यायनी दो स्त्रियाँ थीं, यह सर्वजनविदित बात है। उनमेंसे मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी उतनी ही प्रज्ञावाली थी जितनी कि साधारण स्त्रियाँ होती हैं। तब याज्ञवल्क्यने दूसरी चर्याका प्रारम्भ करनेकी इच्छासे कहा, यानी जब याज्ञवल्क्य संन्यास ग्रहण करनेकी अभिलाषासे वनको जाने लगे तब उन्होंने मैत्रेयीसे कहा ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियोंमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी यानी ब्रह्मसम्बन्धी भाषण करनेवाली थी। उसका यह स्वभाव था कि वह आत्मसम्बन्धी विचार करनेमें प्रवृत्त रहती थी, उसे संसारी वार्ता करनेमें किञ्चित् भी अनुराग नहीं था। दूसरी जो कात्यायनी थी वह गृहसम्बन्धी प्रयोजनकी ही खोजमें रहनेवाली बुद्धि रखती थी। भाव यह कि वृद्धावस्थाको प्राप्त हुए, विषयोंमें अनेक प्रकार का दोष देखकर परम वैराग्यको प्राप्त याज्ञवल्क्यने संन्यासाश्रम ग्रहण करने का विचार किया। याज्ञवल्क्य जानते थे कि मेरी बड़ी भार्या संसारको दुःखरूप जानकर मोक्षकी उत्कट इच्छा रखती है। संन्यास धारण करनेकी अपनी इच्छा प्रकट करनेके लिए वे पहले उसीको बुलाकर पूछने लगे ॥ १ ॥

अब मैत्रेयीसे याज्ञवल्क्यका जो संवाद हुआ था उसका वर्णन करते हैं, यथा—

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽयमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ २ ॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्यने ऐसा कहा कि हे मैत्रेयि, तुझको तथा कात्यायनीको अलग अलग धन देकर मैं तुम्हारा विभाजन करना चाहता हूँ, क्योंकि मेरा संन्यास लेनेका संकल्प है। यानी मैं इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास धारण करना चाहता हूँ। इस लिए मेरा विचार है कि मैं सम्पूर्ण धन तुम दोनोंको बाँटकर दे जाऊँ ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यका विचार सुनकर मैत्रेयीने उत्तर दिया, यथा—

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्यका कथन सुनकर मैत्रेयीने कहा कि हे भगवन्, यदि सम्पूर्ण भूमण्डल धनसे पूर्ण हो जाय तो क्या मैं उससे अमृत यानी मुक्ति प्राप्त कर सकती हूँ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया-नहीं, यह बात नहीं है, यह अवश्य है कि जिस प्रकार भोगसामग्रीसे सम्पन्न मनुष्योंका जीवन होता है उसी प्रकार तेरा भी हो जायगा। क्यों कि धनसे मोक्ष तो कदापि प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

मैत्रेयीने याज्ञवल्क्यसे मोक्षप्राप्तिविषयक जो प्रश्न किया, उसे कहते हैं, यथा—

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ४ ॥

भावार्थ—मैत्रेयीने कहा कि जिससे मैं अमृतत्वको प्राप्त नहीं हो सकती उस धनसे मुझे क्या लाभ? कृपा करके आप मेरे लिए भी वही साधन बतलावें जिससे मेरी मुक्ति हो ॥ ४ ॥

वि० वि०भाष्य—अब मैत्रेयी कहती है—हे भगवन्, धन धान्यसे परिपूर्ण सारी संपत्ति भी यदि मुझे मिल जाय, तो उससे एवं धनसे तथा धनसे होनेवाले अग्निहोत्रादि कर्मोंसे क्या मैं मुक्त हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्यने कहा—हे मैत्रेयि, इस संसारमें धनसे नाना प्रकारके भोग प्राप्त हो सकते हैं, धन प्राप्त होनेसे भोजन आच्छादनादि द्वारा तेरा जीना ही हो सकता है, बस धनसे मोक्षकी आशा नहीं करनी चाहिए। यह सुनकर मैत्रेयीने कहा—हे भगवन्, जिस धनसे

गृहत्यागेच्छुक याज्ञवल्क्यका मैत्रेयी और कात्यायनीके प्रति बँटवारा ।

ગૃહત્યાગેચ્છુક યાજ્ઞવલ્કયનો મૈત્રેયી અને કાત્યાયનીને ભાગ કરી આપવો.

मेरा मोक्ष नहीं हो सकता उसको मैं क्या करूँगी ? मुझे आप मोक्षका साधन बताइए। आप मुक्तिके साधनको अवश्य जानते हैं। आपके सदुपदेशसे जनकादि बहुतसे जिज्ञासुओंका कल्याण हो गया है। आपकी कृपासे मेरा भी अवश्य उद्धार होगा इसकी मुझे पूर्ण आशा है ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्यजी सान्त्वना प्रदान करते हुए कहते हैं, यथा—

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥

भावार्थ—तब याज्ञवल्क्यने कहा-मैत्रेयि, वास्तवमें तू प्रिय है, क्योंकि प्रिय कथन करती है, आ, मेरे समीप बैठ, मैं तुझको मुक्तिका साधन कथन करता हूँ। तू मेरी बातको ध्यानपूर्वक सुन ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जब मैत्रेयीने याज्ञवल्क्यसे आत्मज्ञानविषयक जिज्ञासा की तो वे बड़े प्रसन्न हुए, और बोले कि हे देवि, तेरे शील औदार्य प्रभृति गुणोंके कारण मैं तेरे ऊपर पहले ही प्रसन्न था, और अब भी तूने ऐसा प्रश्न करके प्रियकी ही वृद्धि की है याने प्रसन्नताको ही बढ़ाया है। अर्थात् इस सन्तोषकारक निश्चयसे मुझे तूने परम प्रसन्न किया है। मैं तेरे लिए उस अमृतत्वकी व्याख्या करूँगा, जिससे बहुतोंका परमोद्धार हो गया है, जिसके जाननेसे शुक सनकादि ऋषि तथा अन्य जिज्ञासु अमर हो गये ॥ ५ ॥

संसारमें कोई किसीका प्रिय नहीं है, सब अपने प्रयोजनसे प्रिय प्रतीत होते हैं। प्रियतम तो आत्मा है, इसीके लिए सब वस्तुएँ प्रिय लगती हैं, यह कथन किया जाता है, यथा—

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं

प्रियं भवति । न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—याज्ञवल्क्य बोले कि हे मैत्रेयि ! इसमें सन्देह नहीं है कि पतिकी कामनाके लिए पति प्रिय नहीं है, किन्तु आत्माकी कामनाके लिए पति प्रिय होता है। स्त्रीके प्रयोजनके लिए स्त्री प्रिया नहीं होती किन्तु अपने ही प्रयोजनके लिए स्त्री प्रिया लगती है। पुत्रोंकी कामनाके लिए पुत्र प्रिय नहीं होते किन्तु अपने ही प्रयोजनके लिए पुत्र प्रिय होते हैं। धनकी कामनाके लिए धन प्रिय नहीं होता किन्तु अपने प्रयोजनके लिए धन प्रिय लगता है, पशुओंकी कामनाके लिए पशु प्रिय नहीं होते किन्तु अपने प्रयोजनके लिए पशु प्रिय होते हैं। ब्राह्मणकी कामनाके लिए ब्राह्मण प्रिय नहीं होता किन्तु अपनी कामनाके लिए ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रियके प्रयोजनके लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता किन्तु अपने ही प्रयोजनके लिए क्षत्रिय प्रिय होता है। लोकोंकी कामनाके लिए लोक प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामनाके लिए

लोक प्रिय होते हैं। देवोंके प्रयोजनके लिए देव प्रिय नहीं होते किन्तु अपने ही प्रयोजनके लिए देव प्रिय होते हैं। वेदोंकी कामनाके लिए वेद प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी ही कामनाके लिए वेद प्रिय होते हैं। भूतोंके प्रयोजनके लिए भूत प्रिय नहीं होते किन्तु अपने ही प्रयोजनके लिए भूत प्रिय होते हैं, और सबके प्रयोजनके लिए सब प्रिय नहीं होते किन्तु अपने ही प्रयोजनके लिए सब प्रिय होते हैं।

अतः हे मैत्रेयि, आत्मा ही द्रष्टव्य है यानी तत्त्वज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य है, श्रोतव्य है यानी श्रुतिवाक्योंसे श्रवण करने योग्य है, मन्तव्य है यानी वेदाऽविरोधी तर्कोंसे मनन करने योग्य है, और निदिध्यासितव्य है यानी चित्त-वृत्तिनिरोध द्वारा बारंबार अभ्यास करने योग्य है। हे मैत्रेयि, निश्चय करके आत्माके श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उत्पन्न हुए विज्ञानसे ही सब कुछ जाना जाता है॥ ६॥

वि० वि०भाष्य—प्रथम याज्ञवल्क्य मुनि आत्मज्ञानका साधन वैराग्यकी उत्पत्तिके लिए कथन करते हैं कि यह वार्ता संसारमें प्रसिद्ध है कि भार्याको पतिके प्रयोजनके लिए पति प्रिय नहीं है किन्तु अपने प्रयोजनके लिए भार्याको पति प्रिय है। ऐसे ही पतिको जायाके प्रयोजनके लिए जाया प्रिय नहीं है किन्तु अपने प्रयोजनके लिए पतिको जाया प्रिय है। इसी प्रकार पुत्र, धन, ब्राह्मणजाति, क्षत्रियजाति, भूआदिलोक, देवता तथा भूत प्रभृति सर्व जगत् अपने प्रयोजनके लिए ही प्रिय हैं, पुत्रादिकोंके प्रयोजनके लिए पुत्रादि प्रिय नहीं हैं। इस कारण सर्व जगत्में गौण प्रीति है, मुख्य प्रीति तो आत्मामें ही है। हे मैत्रेयि, परम प्रीतिका विषय जो आत्मा है वह साक्षात् करने योग्य है, उस आत्माके साक्षात्के लिए शास्त्र तथा आचार्यसे श्रवण कर्तव्य है, तथा भेदबाधक युक्तियोंसे मनन तथा बारंबार ध्यान करने योग्य है। आत्माके श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन पूर्वक प्रत्यक्ष करनेसे सर्व प्रपञ्चका ज्ञान होता है॥ ६॥

यह जो भी कुछ दृश्यादृश्य है सब आत्मा ही है, इस तत्त्वका उपदेश देते हुए भेददृष्टिमें हानि दिखाते हैं, यथा—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं

पराद्‌र्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे पृथक् समझता है, ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है। जो क्षत्रियजातिको आत्मासे अतिरिक्त जानता है, उसे क्षत्रियजाति परास्त कर देती है। जो लोकोंको आत्मासे पृथक् जानता है, उसे लोक परास्त कर देते हैं। जो देवताओंको आत्मासे भिन्न जानता है, उसे देवता परास्त कर देते हैं। जो वेदोंको आत्मासे पृथक् जानता है, उसे वेद परास्त कर देते हैं। जो भूतोंको आत्मासे पृथक् जानता है, उसे भूत परास्त कर देते हैं। जो सबको आत्मासे अतिरिक्त जानता है, उसे सब परास्त कर देते हैं। हे मैत्रेयि, यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत तथा ये सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—जो कोई पुरुष भेदरहित इस आत्मासे ब्राह्मणजाति तथा क्षत्रियजातिको भिन्न जानता है, वह ब्राह्मणजाति तथा क्षत्रियजाति उस भेद-द्रष्टाका तिरस्कार कर देती है। नीचजातिको प्राप्त होकर ब्राह्मणादि उत्तम जातियोंकी प्राप्ति न होना, यह ही उन जातियों द्वारा उस भेददर्शीका तिरस्कार है। इसी प्रकार स्वर्गादिलोक, देवता तथा भूतादि सर्वजगत् उस भेदद्रष्टाका तिरस्कार करते हैं। इस कारण अभिन्न आत्मामें भेद नहीं देखना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक तथा देवादि सर्व जगत् रूपसे यह सब कुछ आत्मा ही प्रतीत हो रहा है। तात्पर्य यह है कि ये उस अनात्मदर्शीको 'यह मुझे अनात्मरूपसे देख रहा है' इस अपराधसे परास्त कर देते हैं, यानी कैवल्यसे सम्बन्धरहित कर देते हैं। किसी भी पदार्थको आत्मासे भिन्न न समझे, नहीं तो ये पदार्थ इसके लिए भयदायक हो जायँगे। द्वैतसे भय होता है, अभेदज्ञानी किसीसे नहीं डरता। 'अभय' यह दैवी सम्पत्तिके भण्डारका पहला रत्न है। जो डरता रहता है, वह स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ कर नहीं सकता। इस लिए सबको अपना आत्मा ही समझना चाहिए ॥ ७ ॥

अब सबको आत्मरूपसे ग्रहण करनेमें दृष्टान्त कथन करते हैं, यथा—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्-

ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार दुन्दुभि (नकारे) के ताड़न करने पर बाह्य शब्द नहीं सुने जाते, किन्तु दुन्दुभिगत शब्दके ग्रहणसे ही बाह्य शब्दोंका ग्रहण होता है ॥८॥

अब दूसरा और दृष्टान्त कथन करते हैं, यथा—

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार शंखध्वनि होनेपर बाह्य शब्द नहीं सुने जाते, किन्तु शंखध्वनिके ग्रहणसे ही बाह्य शब्दोंका ग्रहण होता है ॥ ९ ॥

अब तीसरे दृष्टान्तका कथन करते हैं, यथा—

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वीणाके बजनेपर और शब्द नहीं सुने जाते किन्तु वीणाके शब्दसे ही अन्य शब्दोंका ग्रहण होता है। इसी प्रकार ब्रह्मकी सत्तासे ही सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं। कोई विद्वान् महात्मा इसका यह भी अर्थ करते हैं कि जिस प्रकार शब्दोंके मन्द, तीव्र तथा पटु आदि भेद शब्दत्वसामान्यसे पृथक् नहीं होते, इसी प्रकार पदार्थमात्रकी सत्ता ब्रह्मके अन्तर्गत है। अर्थात् ब्रह्माश्रित होनेसे ही सब पदार्थोंकी प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—हे मैत्रेयि, जैसे दुन्दुभि, शंख तथा वीणा इनसे उत्पन्न हुए जो अनेक प्रकारके विशेष शब्द हैं, उन सब शब्दोंमें रहनेवाले शब्दत्वरूप सामान्यके ग्रहणके विना उन दुन्दुभि आदिकोंसे उत्पन्न हुए विशेष शब्दोंका ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु शब्दत्वरूप सामान्यके ग्रहण होनेसे ही उन विशेष शब्दोंका ज्ञान होता है। वैसे ही अस्ति, भाति तथा प्रिय रूपसे व्यापक जो आत्मा है उसके भान बिना किसी पदार्थकी प्रतीति नहीं होती। जिस प्रकार यह सर्व जगत् ब्रह्म में स्थित है, इसमें दुन्दुभि आदिका दृष्टान्त दिया गया है ॥ ८–१० ॥

अब यह चौथा दृष्टान्त कथन किया जाता है, यथा—

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार गीली लकड़ी जिसमें लगी हैं ऐसी अग्निसे नाना प्रकारके धूम तथा चिनगारियाँ निकलती हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्यायें, उपनिषद्, ब्राह्मणमन्त्र, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञ, होम, आशित यानी खाद्यपदार्थ, पायित यानी पीनेके पदार्थ, यह लोक, परलोक और सब प्राणी उसी परमात्माके निःश्वासभूत हैं यानी तदधीन हैं।११।

वि० वि० भाष्य—यहाँ उत्पत्तिमें अग्निके दृष्टान्तसे समझाते हैं, जैसे गीली लकड़ियोंवाली प्रज्वलित अग्निसे धूम स्फुलिङ्गादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही इस विभु आत्मासे पुरुषके श्वास की तरह चारों वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, ब्राह्मणमन्त्र, वैदिक वस्तुसंग्रहवाक्य, विवरणवाक्यादि सर्व जगत् उत्पन्न होता है। सब कुछ उस परमात्मासे उत्पन्न हुआ है जो सबका नियन्ता है। वास्तवमें वही सर्वरूप हो गया है, ज्ञानी लोग सब में उसीको देखते हैं। अखिल विश्वमें जालकी तरह सर्वमयतासे वही फैल रहा है। वह जहाँ नहीं है, ऐसा कोई स्थान ही नहीं है। ११।

अब पाँचवा दृष्टान्त कहा जाता है, यथा—

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेका-

यनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सब जलोंका एक समुद्र आश्रय यानी प्रलयस्थान है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक आश्रय है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकायें एक अयन है, समस्त रसोंका जिह्वा एक आश्रय है, सम्पूर्ण रूपोंका चक्षु एक आश्रय है, सम्पूर्ण शब्दोंका श्रोत्र एक आश्रय है, सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका मन एक आश्रय है, समग्र विद्याओंका हृदय एक आश्रय है, समस्त कर्मोंका दोनों हाथ एक आश्रय हैं, सम्पूर्ण आनन्दोंका उपस्थ एक आश्रय है, सम्पूर्ण विसर्गोंका पायु एक आश्रय है, समस्त मार्गोंका दोनों चरण एक आश्रय हैं और ऐसे ही सम्पूर्ण वेदोंका वाक् एक आश्रय है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे सब नदियोंके जलोंका समुद्र आश्रय होता है, वैसे ही सर्व स्पर्शोंका त्वक् आश्रय है, रसोंका जिह्वा, गन्धोंका नासिका, रूपोंका चक्षु, शब्दोंका श्रोत्र तथा सर्व सङ्कल्पोंका मन आश्रय है। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंकी आश्रयता है। पूर्वोक्त दृष्टिसृष्टिवादके अभिप्रायसे शब्दादि विषयोंका श्रोत्रादि इन्द्रिय कारण हैं, अतः शब्दादि विषय अपने कारण श्रोत्रादिकोंमें लीन होते हैं। श्रोत्रादि अपने कारण आकाशादि भूतोंमें लीन होते हैं और सब भूत मायाशबल ब्रह्ममें विलीन होते हैं ॥ १२ ॥

अब छठे दृष्टान्तका वर्णन करते हैं, यथा—

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे नमकका ढेला भीतर तथा बाहरसे समग्र रसघन ही है, हे मैत्रेयि, ऐसे ही यह आत्मा आन्तर बाह्य भेदसे रहित समस्त प्रज्ञानघन ही है। विशेषतया यह इन भूतोंसे उठकर इन्हींके साथ विनाशको प्राप्त हो जाता है,

इस प्रकार मृत्युको प्राप्त हो जाने पर इसका कुछ भी नाम नहीं रहता। याज्ञवल्क्यने 'हे मैत्रेयि, मैं इस प्रकार कहता हूँ' ऐसा कहा ॥ १३ ॥

अब मैत्रेयी शङ्का करती है और याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं. यथा—

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥

भावार्थ—हे भगवन्, आपने मुझे यहाँ भ्रममें डाल दिया है, मैं इस आपके कथनको विशेष रूपसे नहीं समझ सकी। मैत्रेयीका यह कथन सुनकर ऋषिने कहा—अरी मैत्रेयि, मैने मोहकी कोई बात नहीं कही है, यह जो आत्मा है सो अवश्य ही विनाशरहित तथा जिसका उच्छेद न हो सके ऐसे धर्मवाला है, अर्थात् अनुच्छेदरूप धर्मयुक्त है। भाव यह है कि इसका न तो विकाररूप विनाश होता है और न उच्छेदरूप ही ॥ १४ ॥

अब याज्ञवल्क्यके संन्यासग्रहण करनेके साथ उपदेशका उपसंहार करते हैं, यथा—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥

भावार्थ—अविद्यावस्थामें जहाँ द्वैतभाव सा होता है वहीं दूसरा दूसरेको देखता है, अन्य अन्यको सूँघता है, दूसरा दूसरेका रसास्वादन करता है, दूसरा दूसरेका अभिवादन करता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, अन्य अन्यका मनन करता है, अन्य अन्यका स्पर्श करता है तथा दूसरा दूसरेको विशेष रूपसे जानता है। पर जहाँ इसका सब अपना आप ही है यानी सब अपना आत्मा ही हो गया है, वहाँ कौन किसको देखे, किसके द्वारा किसे सूँघे, कौन किसका रसास्वादन करे, कौन किसका अभिवादन करे, कौन किसे सुने, कौन किसका मनन करे तथा कौन किसके द्वारा किसे जाने ? मनुष्य जिससे इस सबको जानता है, उसे किस उपायसे जाने ? यह जो आत्मा है जिसका 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया है, वह अगृह्य है यानी उसका किस भी साधनसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह अशीर्य है, यानी वह विनाशशील नहीं है। वह आत्मा असङ्ग है, यानी कहीं आसक्त नहीं होता, वह अबद्ध है यानी किसी प्रकारके बन्धनको नहीं प्राप्त होता और न किसी दुःखको प्राप्त होता है। हे मैत्रेयि, जो सबका विज्ञाता है उसे किस साधनसे जाने ? अर्थात् वह अपना पूर्ण ज्ञाता आप ही है। मैत्रेयि, निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है, और वही अमृत है। ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य परिव्राजक यानी संन्यासी बनकर वनको चले गये ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—उपर्युक्त तेरहवें मन्त्रमें दृष्टान्तसे आत्यन्तिक प्रलयका उपपादन किया गया है, जैसे—लवणका खण्ड जलमें गिरा हुआ जलभावको ही प्राप्त हो जाता है, उस विलीन लवणखण्डको कोई मनुष्य पुनः नहीं निकाल सकता। ऐसे ही त्रिविध परिच्छेदशून्य जो यह विज्ञानघन आत्मा है, शरीरके उत्पन्न होनेसे यह आत्मा भी प्रतिबिम्बरूपसे उत्पन्न होता है। ब्रह्मवेत्ताके शरीराकार भूतोंका नाश होनेसे 'मैं अमुक देवदत्त नामक हूँ, अमुकका पुत्र हूँ, मेरा यह क्षेत्र है और मेरा यह धन है' इत्यादि सर्व विशेष ज्ञान नष्ट हो जाते हैं।

यह सुनकर मैत्रेयीने शंका की कि ब्रह्मन्, आपने तो मुझे मोह उत्पन्न करनेवाला वचन कहा है, पहले आपने कहा था कि आत्मा विज्ञानघन है, किन्तु अब यह कहते हो कि मृत्युको प्राप्त हुआ यह ज्ञानसे रहित होता है। इस कारण पूर्वोत्तर विरोध होनेसे मुझको मोह उत्पन्न हो रहा है। यह सुनकर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि हे मैत्रेयि, इस शरीरका ही नाश होता है, अविनाशी आत्माका नाश नहीं होता। शरीरका विनाश होनेसे यहाँ मन आदिकोंसे होनेवाले विशेष ज्ञानका अभाव कहा है,

विज्ञानघन, स्वभावनित्य आत्माका कदाचित् भी नाश नहीं होता। अज्ञानी अज्ञानकला में ही अपनेको भिन्न मानता हुआ स्वभिन्न गन्धको ग्रहण करता है, रूपको देखता है, शब्दको श्रवण करता है तथा वाणीसे शब्दका उच्चारण करता है। जिस ज्ञानकालमें विद्वान्के सर्व नाम रूप प्रपंच आत्मरूपताको ही प्राप्त हुए हैं उस ज्ञानसमयमें किस इन्द्रियसे रूपको देखे, गन्धको ग्रहण करे, तथा किसका कथन, किसका मनन एवं किसका निश्चय करे ? विदेह कैवल्यावस्थामें इन्द्रियादिकोंका अभाव होनेसे किसी पदार्थका भी दर्शन, श्रवण, मननादि नहीं होता। जिस आत्मासे नाम रूप प्रपञ्चको यह पुरुष जानता है उस आत्मदेवको किस साधनके द्वारा जाने ? सर्वके विज्ञाता आत्माको कोई श्रोत्रादिकोंका विषय नहीं कर सकता। इस प्रकारका उपदेश देनेवाले याज्ञवल्क्य मुनिने मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानोपदेश करके संन्यासाश्रम स्वीकार कर लिया और प्रारब्ध कर्मका भोगसे क्षय करते हुए मोक्षधामको प्राप्त हो गये। उन्होंने यहीं प्रारब्ध कर्मका भोग द्वारा क्षय कर लिया। ज्ञानाग्निदग्धकर्मा ज्ञानियोंके कर्म भुने हुए बीजकी तरह कभी फलोन्मुख नहीं होते। ज्ञानी लोग यहीं सब कुछ कर धर जाते हैं, उन्हें आगे करनेको कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

याज्ञवल्क्यसे प्रदर्शित जो यह 'नेति नेति' इस प्रकार अद्वैत आत्माका साक्षात्कार करना है, वही किसी दूसरे सहकारी कारणकी अपेक्षासे रहित अमृतत्वका साधन है ॥ १५ ॥

——❀❀❀——

षष्ठ ब्राह्मण

अब ब्रह्मविद्याकी स्तुति के लिए वंशब्राह्मणका वर्णन करते हैं, यथा—

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण

उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्य-न्दिनायनान्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥ घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्या-यणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातू-कर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपज-न्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादा-त्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्या-द्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विद-र्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सन-पाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसाद-यास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपा-त्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्य-ङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्ते-र्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस ब्रह्मविद्याका उपदेश निम्नलिखित परंपरा द्वारा एक ऋषिने दूसरे ऋषिसे प्राप्त किया है, यथा—

१—पौतिमाष्यने गौपवनसे,
२—गौपवनने पौतिमाष्यसे,
३—पौतिमाष्यने गौपवनसे,
४—गौपवनने कौशिकसे,
५—कौशिकने कौण्डिन्यसे,
६—कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे,
७—शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे,
८—गौतमने आग्निवेश्यसे,
९—आग्निवेश्यने गार्ग्यसे,
१०—गार्ग्यने गार्ग्यसे,
११—गार्ग्यने गौतमसे,
१२—गौतमने सैतवसे,
१३—सैतवने पाराशर्यायणसे,
१४—पाराशर्यायणने गार्ग्यायणसे,
१५—गार्ग्यायणने उद्दालकायनसे,
१६—उद्दालकायनने जाबालायनसे,
१७—जाबालायनने माध्यन्दिनायनसे,
१८—माध्यन्दिनायनने सौकरायणसे,
१९—सौकरायणने काषायणसे,
२०—काषायणने सायकायनसे,
२१—सायकायनने कौशिकायनसे,
२२—कौशिकायनने
२३—घृतकौशिकसे,
२४—घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे,
२५—पाराशर्यायणने पाराशर्यसे,
२६—पाराशर्यने जातूकर्णसे,
२७—जातूकर्णने आसुरायण और यास्कसे,
२८—आसुरायणने त्रैवणिसे,
२९—त्रैवणिने औपजन्धनिसे,
३०—औपजन्धनिने आसुरिसे,
३१—आसुरिने भारद्वाजसे,
३२—भारद्वाजने आत्रेयसे,
३३—आत्रेयने माण्टिसे,
३४—माण्टिने गौतमसे,
३५—गौतमने गौतमसे,
३६—गौतमने वात्स्यसे,
३७—वात्स्यने शाण्डिल्यसे,
३८—शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे
३९—कैशोर्य काप्यने कुमार हारितसे,
४०—कुमार हारितने गालवसे,
४१—गालवने विदर्भी कौण्डिन्यसे,
४२—विदर्भी कौण्डिन्यने वत्सनपाद् बाभ्रवसे,
४३—वत्सनपाद् बाभ्रवने पन्था सौभरसे,
४४—पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे,
४५—अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे,
४६—आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे,
४७—विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे,
४८—अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे,
४९—दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे,
५०—अथर्वा दैवने मृत्यु प्राध्वंसनसे,
५१—मृत्यु प्राध्वंसनने प्रध्वंसनसे,
५२—प्रध्वंसनने एकर्षिसे,
५३—एकर्षिने विप्रचित्तिसे,
५४—विप्रचित्तिने व्यष्टिसे,
५५—व्यष्टिने सनारुसे,
५६—सनारुने सनातनसे,
५७—सनातनने सनगसे,
५८—सनगने परमेष्ठीसे,
५९—परमेष्ठीने ब्रह्मासे यह विद्या प्राप्त की। ब्रह्मा स्वयंभू है, ब्रह्मको नमस्कार है ॥१-३॥

वि० वि० भाष्य—यह याज्ञवल्क्यकांडीय वंशपरंपराकी तालिका दी गई है ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिए। ब्रह्मविद्या जिसका प्रयोजन है, उस याज्ञवल्क्यकांडका ऐसे ही वर्णन किया गया है जैसे पहले इसी उपनिषद्में मधुकाण्डका वंश बतलाया गया था। यह मन्त्र भी उसीकी तरह स्वाध्याय तथा जपके लिए है। यहाँ ब्राह्मणभागीय आचार्यपरम्परा 'वंश' नामसे कही गई है। इसमें प्रथमान्त शिष्य हैं और पञ्चम्यन्त आचार्य हैं। परमेष्ठी यानी विराट्ने ब्रह्मा हिरण्यगर्भसे यह विद्या प्राप्त की। उसके आगे आचार्यपरम्परा नहीं है, क्योंकि जो ब्रह्मा है वह नित्य स्वयंभू है, उस स्वयंभू ब्रह्मको नमस्कार है।

जो विद्या सम्प्रदायपूर्वक प्राप्त होती है, वह पूर्ण होती है, जिसमें पूर्णता है उससे पूरा लाभ होता है। जो बात अपने मनसे जान ली जाती है, उससे लाभ न हो यह बात तो नहीं है, पर अपने आपसे जाना हुआ विषय त्रुटियुक्त हो सकता है। जैसे योगाभ्यासानुष्ठान स्वयं किया, उससे जितनी फलसिद्धि होती है, उससे अधिक तथा सौकर्यसे गुरुके द्वारा प्राप्त ज्ञानसे हो जाती है। इसीसे इस अध्यायमें वंशका वर्णन किया गया है॥ १-३॥

षष्ठ ब्राह्मण और चतुर्थ अध्याय समाप्त।
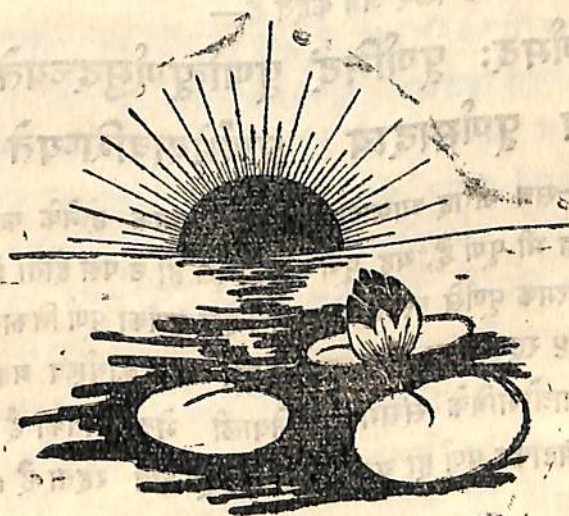
पंचम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

अब 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि परिशिष्ट प्रकरणका आरम्भ करते हैं। इसे खिल काण्ड कहते हैं, खिल नाम उसका है जो पूर्वप्रतिपादित विषयसे बाकी रह जाय। गत चार अध्यायोंमें उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म, सर्वान्तर, निरुपाधिक तथा 'नेति नेति' आदि सङ्केतोंके लक्ष्य आत्मतत्त्वका निश्चय किया गया है, जिसका सम्यक् ज्ञान ही अमृतत्वका एकमात्र साधन है। शब्दार्थादि व्यवहारकी विषमताको प्राप्त हुए उसी सोपाधिक आत्माकी जिन उपासनाओंका पहले उल्लेख नहीं हुआ है, जो कर्मानुकूल, परमोत्तम, अभ्युदयकी साधनभूत और क्रम-मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाली हैं, अब उनका वर्णन करना है, इसी अभिप्रायसे आगेका ग्रन्थ कहा जाता है। सम्पूर्ण उपासनाओंके अङ्गस्वरूपसे ओङ्कार, दम, दान और दया, इनका विधान करनेके लिए अब कहते हैं—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

भावार्थ—सब जगह आकाशकी तरह व्यापक होनेके कारण ब्रह्म पूर्ण है, वह सोपाधिक ब्रह्म भी पूर्ण है, यह पूर्ण उस पूर्णसे ही उत्पन्न होता है, यह पूर्ण कार्य-रूप है जो कारणात्मक पूर्णसे उत्पन्न होता है। इस पूर्णका पूर्ण निकाल लिया जाय तो भी पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। यानी पूर्ण नाम कार्यरूप ब्रह्मका है, पूर्ण नाम अविद्याकृत भूतमात्रोपाधिके संसर्गसे होनेवाली भेदप्रतीतिका है। उसे 'आदाय' नाम हटाकर या मिटाकर पूर्ण ही यानी शुद्ध ब्रह्म ही शेष रहता है।

वि० वि० भाष्य—आदित्य, चंद्रमा, तारे, नक्षत्र, पृथिवी, जल आदि चराचर जगत् जिसकी सत्तासे उत्पत्ति स्थिति तथा लयको प्राप्त होता है, या ऐसे समझो कि जो सब कार्यकारणसंघातका कर्ता, धर्ता तथा हर्ता है वह सदा एकरस एवं आकाशकी तरह व्यापक होनेके कारण पूर्ण कहा जाता है । ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उसकी व्याप्तिसे रहित हो और न कोई ऐसी चीज है जो उसकी सत्ताके बिना आत्मलाभ कर सके यानी अपना अस्तित्व कायम रख सके । वह छोटी एवं बड़ी चीजोंमें व्याप रहा है । सारे संसारके व्यवहार उसीसे चल रहे हैं । वह शक्तियोंका केन्द्र है, उसी भण्डारसे सब शक्तिमानोंको सामर्थ्य प्राप्त होती है । वह पहलेसे है और अन्ततक रहेगा । वह बड़ेसे बड़ा और छोटेसे छोटा है ।

अब 'ख' ब्रह्मकी उपासनाके फलका कथन करते हैं, यथा—

ॐ खं ब्रह्म । खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥ १ ॥

भावार्थ—यह जो आकाश ब्रह्म है सो ॐकार है । ख—आकाश चिरन्तन ब्रह्म है । यहाँ आकाशसे प्रसिद्ध जड़ाकाश अभिप्रेत नहीं, यानी भौतिक आकाश न समझ लिया जाय, यहाँ आकाशका अर्थ परमात्माकाश है । वह आकाश ही ख है जिसमें वायुका निवास रहता है । ऐसा कथन कौरव्यायणीपुत्रका है । ब्राह्मण ऐसा समझते हैं कि ओंकार वेद है, क्योंकि इससे उसका बोध होता है जो ज्ञातव्य है ॥१॥

वि० वि० भाष्य—यह जो 'खं' ब्रह्म है वह ॐ शब्दसे वाच्य है, अथवा ॐशब्दस्वरूप ही है । यहाँ 'खम्' इससे भूतान्तर्गत आकाशका ग्रहण नहीं है । किन्तु सनातन आकाश यानी परमात्मस्वरूपका ग्रहण है । वह जो परमात्माकाशरूप पुरातन आकाश है वह चक्षु आदिका विषय न होनेके कारण निरालम्ब है और ग्रहण नहीं किया जा सकता । इसलिए श्रुति श्रद्धाभक्तिपूर्वक भावविशेषके द्वारा उसका ओङ्कारमें आवेश करती है । जिस प्रकार लोग विष्णुके अङ्गोंसे अङ्कित शिलादिकी प्रतिमामें विष्णुका आवेश करते हैं, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए ।

'वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुः' इस वाक्यके भाष्यकारने कई अर्थ किये हैं, जैसे—यह ओङ्कार वेद यानी वेदितव्य है, जिसका जिससे ज्ञान हो उसे वेद कहा जाता है, अतः ओङ्कार वेदवाचक है यानी नाम है । उस नामसे जो वेदितव्य-प्रकाशित होनेवाला अर्थात् कहा जानेवाला ब्रह्म है, उसे साधक उपलब्ध करता है, इसलिए

यह वेद है ऐसा ब्राह्मण जानते हैं। अतः ब्राह्मणोंको यह मान्य है कि 'ओम्' यह शब्द अपने नामसे ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन है।

अथवा 'वेदोऽयम्' इत्यादि वाक्य अर्थवाद है, क्योंकि ॐकारका ब्रह्मके प्रतीकरूपसे विधान किया गया है। क्योंकि 'ॐ खं ब्रह्म' इस प्रकार उनका समानाधिकरण है। अब वेदरूपसे उसकी स्तुति की जाती है कि यह सारा वेद ॐकार ही है। इससे प्रकट होनेवाला और इसीका स्वरूपभूत यह सब ऋक्, यजु और सामरूप भेदोंमें विभिन्न हुआ श्रुतिसमुदाय भी ओङ्कार ही है। यह वेद इसलिए भी ओङ्कार है, क्योंकि जो वेदितव्य है वह सब इस ओङ्काररूप वेदसे ही जाना जा सकता है, अतः यह ॐकार वेद है। इसीलिए इससे भिन्न वेदका भी वेदत्व है, उससे विशिष्ट जो यह ॐकार है इसे साधनरूपसे जानना चाहिए।

अथवा 'वेदोऽयम्' वह वेद है, कौन वह ? जिसे ब्राह्मण लोग ॐकाररूपसे जानते हैं, क्योंकि यह ॐकार ब्राह्मणोंके लिए प्रणव उद्गीथादि विकल्परूपसे विज्ञेय यानी उपास्य है। इसका साधनरूपसे प्रयोग करनेपर मानो समस्त वेदका प्रयोग हो जाता है॥ १॥

द्वितीय ब्राह्मण
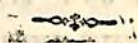
इस प्रकार सब उपासनाओंका अन्तरङ्ग साधन जो ॐकार है उसे कहकर शमादि तीन बाह्य साधनोंका विधान करनेके लिए प्रथम अर्थवादको कहते हैं, यथा—

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥ १॥

भावार्थ—देवता, मनुष्य और असुर-भेदसे प्रजापतिके तीन पुत्रवर्ग थे, उन तीनोंने ब्रह्मप्राप्तिके लिए अपने पिताके निकट ही ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण किया। ब्रह्मचर्यकी समाप्तिके अनन्तर देवोंने पितासे कहा—आप हमें उपदेश दीजिये। यह

प्रजापति ब्रह्मा अपने संतान देव, असुर, मनुष्योंको तीन 'दकारों'का उपदेश दे रहे हैं।

પ્રજાપતિ બ્રહ્મા પોતાના સંતાન દેવ, અસુર, મનુષ્યોને ત્રણ 'દકારો'નો ઉપદેશ કરી રહ્યા છે.

सुन देवताओंसे प्रजापतिने 'द' यह अक्षर कहा और बोले कि 'समझ गये न ?' यह सुन देवोंने उत्तर दिया कि समझ गये, आपने हमें 'इन्द्रियोंका दमन करो' ऐसा उपदेश दिया है। यह सुन प्रजापतिने कहा—हाँ ठीक है, तुम समझ गये ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—प्रजापतिके तीनों पुत्रोंने पिताके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया। शिष्यभावसे वर्तनेवाले पुरुषके जितने धर्म हैं, उनमें ब्रह्मचर्य की प्रधानता है, उसके धारणपूर्वक उन्होंने शिष्य होकर वास किया; यह भाव है। उपदेशके लिए प्रार्थना करनेपर प्रजापतिने उनको 'द' यह केवल वर्णमात्र कहा। 'तुम लोग समझे कि नहीं' यह प्रजापतिके पूछनेपर देवताओंने उत्तर दिया कि हाँ हम समझ गये, आपने हमसे कहा है 'दमन करो, तुम लोग स्वभावसे अदान्त हो—अजितेन्द्रिय हो इसलिए दमनशील बनो।' यह सुन प्रजापतिने कहा—हाँ तुम लोग ठीक समझे हो॥१॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

भावार्थ—देवोंके अनन्तर मनुष्योंने पितासे कहा कि प्रभो, हमने ब्रह्मचर्य समाप्त कर लिया है, अतः आप हमें भी उपदेश दें। उनसे भी देवताओंकी तरह प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा—समझे कि नहीं ? मनुष्योंने कहा समझ गये, आपने हमें 'दान करो' ऐसा कहा है। यह सुन प्रजापतिने कहा 'समझ तो ठीक गये' ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य॰—मनुष्योंने प्रजापतिके पूछनेपर कहा कि आपने हमें ऐसा समझकर यथाशक्ति दान देनेको कहा है कि तुम स्वभावतः लोभी हो, अतः संविभाग करो यानी दान दो। आपने हमारे हितकी वह बात कह दी है जो सबसे बढ़कर है ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति

दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्योंने उपदेश ग्रहण कर लिया तो फिर असुरोंने कहा—पिताजी, आप हमें उपदेश दीजिये। उनसे भी प्रजापतिने 'द' यही अक्षर कहा। फिर पूछा—समझे? असुरोंने उत्तर दिया—'हाँ समझ लिया, आपने हमें दया करनेका उपदेश दिया है। प्रजापतिने कहा—बहुत ठीक समझे।

प्रजापतिके इस अनुशासनका मेघगर्जनरूपी दैवी वाणी आज भी 'द-द-द' इस प्रकार अनुवाद कर रही है। अर्थात् मेघोंसे भी वही ध्वनि निकलती है कि दमन करो, दान करो, दया करो। अतः मनुष्य दम, दान और दया इन तीनोंकी शिक्षा ग्रहण करे ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रजापतिके पूछनेपर असुरोंने 'द' का अभिप्राय बताया कि दया करो, क्योंकि हम क्रूर और हिंसापरायण हैं इसलिए प्राणियोंपर दया किया करें। प्रजापतिके इस अनुशासनकी आज भी अनुवृत्ति हो रही है। जिस प्रजापतिने पूर्वकालमें देवादिका अनुशासन किया था वह आज भी मेघगर्जनरूपी दैवी वाणीसे उनका अनुशासन करता है। अर्थात् आजकलके समयमें जो प्रजापति है यानी शासक है वह भी प्रजाको यही कह रहा है कि दम, दान और दया इन तीनोंको सीखो। वर्तमान कालके लोग इसलिए दुःखी हैं कि वे इन्द्रियोंके दास हो रहे हैं, उनमें संयम नहीं है, फिर इस कारण भी कष्ट पा रहे हैं कि दैवात् जिनके पास विभूति है वे उसे दूसरोंको न देकर स्वयं भोगना चाहते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिए कि 'भोगे रोगभयम्' का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। धन सम्पत्ति भोगके लिए नहीं होती, वह तो जीवनोपयोगी व्यावहारिक वस्तुओंको समयपर एकत्र कर देनेका साधन मात्र है। जो लोग यह समझ रहे हैं कि 'हम खूब मजेमें भोग भोग रहे हैं' वे भूलमें हैं। क्योंकि भोग ही उनको भोग रहा है, 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।'

जनतामें दयाकी भावना भी कम है। अनेक मूक प्राणी हाहाकार कर रहे हैं पर शरीरसे लाचार होकर वे कह नहीं सकते, वे खानेको नहीं पाते। अशक्त होनेसे काम न देने पर निर्दयतासे मार खाते खाते उस निर्दयको कोसते कोसते, तथा ऐसी सृष्टिका सत्यानाश मनाते मनाते असमयमें ही परलोकका रास्ता लेते हैं। अतः मनुष्यको 'द- द- द' इस प्रजापतिके उपदेशको हर समय याद करके

उसे आचरणमें लाकर अपना मनुष्यजन्म सफल करना चाहिए। अर्थात् दम, दान, दया इन तीनोंका सदनुष्ठान अवश्य करते रहना अपना पवित्र कर्तव्य समझना चाहिए।

यहाँ यह शङ्का होती है कि देवादि अलग अलग उपदेशके इच्छुक थे फिर उन्हें प्रजापतिने एक ही प्रकारका उपदेश क्यों दिया ? दूसरे, वे देवादि प्रजापतिके एक ही 'द' अक्षरके तीन भिन्न भिन्न अर्थ कैसे समझ गये ? उत्तर यह है कि प्रजापति उन देवादि तीनोंके मनोभावको जान गये थे क्यों कि प्रजापतिके पास वे ब्रह्मचर्य पालनार्थ कुछ दिन रहे थे। उन्हें अजितेन्द्रियता, कृपणता और निर्दयता-रूप दोषके कारण अपनेको अपराधी मानकर शङ्कित रहते हुए ही अपनी आशङ्काके कारण 'दकार' के श्रवणमात्रसे ही उस उस अर्थकी प्रतीति हो गई। आजकल भी यह व्यवहार प्रसिद्ध है कि जिसका अनुशासन करना हो उसे पहले दोषसे ही निवृत्त करना चाहिए। अतः प्रजापतिका 'द' उच्चारण करना उचित ही है। दम, दान, दया इन तीनोंमें 'द' का अन्वय होनेसे अपने दोषके अनुसार देव, मनुष्य तथा असुरोंका उन्हें अलग अलग समझ लेना भी उचित ही है। इसका फल यही है कि अपने दोषका ज्ञान होने पर थोड़ेसे उपदेशसे भी दोष निवृत्त किया जा सकता है।

अब यह शंका होती है कि देव, मनुष्य, असुर इन तीनोंने जैसे 'द' का एक एक अर्थ स्वीकार कर लिया, तो फिर मनुष्यको दानका ही केवल अनुष्ठान करना चाहिए, उसके लिए अन्य दो दम और दया उपादेय नहीं हैं, क्यों कि वे दूसरोंने अपना लिये। इसका समाधान यह है कि प्रजापतिने तीनों बातें अपने पुत्रोंके हितार्थ कही हैं अतः मनुष्यको तीनोंको मानना चाहिए। देवता लोग समर्थ हैं अतः उनका 'दमन' इसी उपदेशसे काम चल गया और राक्षस नासमझ हैं अतः वे भी एक ही बातको पकड़कर बैठ गये। पर मनुष्य तो दुर्बल है, उसे अपने उद्धारके लिए विशेषतः दानको तथा सामान्यतः दमन तथा दयाको समान रूपसे अङ्गीकार करना चाहिए।

इस विषयको आधुनिक रीतिमें इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि मनुष्योंके अतिरिक्त न कोई देव है न असुर है। मनुष्योंमें ही जो दमनशील नहीं हैं किन्तु अन्य उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं उन्हें ही देव कहते हैं। ऐसे ही लोभप्रधान व्यक्ति मनुष्य कहे गये हैं और हिंसापरायण तथा क्रूर व्यक्ति असुर हैं। वे मनुष्य ही

अजितेन्द्रियता, कृपणता, निर्दयता इन तीन दोषोंकी अपेक्षा तथा सत्त्व, रज, तम इन अन्य गुणोंके अनुसार देवता, मनुष्य तथा असुर नाम धारण करते हैं। अतः ये तीनों साधन मनुष्योंको ही सीखने चाहिएँ। उनको उद्देश्य करके ही प्रजापतिने इनका उपदेश किया है। मनुष्योंमें अजितेन्द्रिय, लोभी और क्रूर प्रकृतिके लोग देखे भी जाते हैं। भाव यह है कि इन्द्रियोंका दमन करना, दान देना तथा प्राणियों पर दयादृष्टि रखना—ये तीनों कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिके मुख्य साधन हैं और इन्हींके अनुष्ठानसे शेष साधनोंकी प्राप्ति होती है। अतएव पुरुषको उचित है कि वह उक्त साधनोंके अनुष्ठानद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि सम्पादन करे, ऐसा करनेवाला मनुष्य सदा सुख भोगता हुआ परमात्मपरायण होता है ॥ ३ ॥

तृतीय ब्राह्मण

सम्पूर्ण उपासनाओंके अङ्गभूत दमादि तीन साधनोंका यहाँ विधान किया गया। दान्त, निर्लोभ तथा दयालु होने पर ही पुरुषका समस्त उपासनाओंमें अधिकार होता है। यहाँ तक निरुपाधिक ब्रह्मज्ञानका निरूपण समाप्त हो चुका, अब सोपाधिक ब्रह्मकी अभ्युदयरूप फलवाली उपासनाएँ कहनी हैं, अतः आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है, यथा—

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद् ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत् त्र्यक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—यह प्रजापति है जो हृदय है, क्योंकि उपासक लोग हृदयदेशमें ही उसका ध्यान करते हैं। यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह हृदय तीन अक्षरोंवाला नाम है। 'हृ' एक वर्ण हुआ; उस मनुष्यके प्रति अपने और पराये लोग भेट देते हैं जो ऐसा जानता है। 'द' यह भी एक अक्षर है; जो इस प्रकार जानता है उसे स्वजन और अन्य लोग देते हैं। 'यम्' यह एक अक्षर है; जो ऐसा जानता है उसी पुरुषको स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जो हृदय है, वह प्रजापति है यानी अनुशासनकर्ता है, यहाँ 'हृदयम्' इस पदके द्वारा हृदयस्थ बुद्धि कही जाती है, जिसमें कि शाकल्य ब्राह्मणके अन्तमें दिग्विभागके द्वारा नाम, रूप और कर्मोंका उपसंहार बतलाया गया है। यह सम्पूर्ण भूतोंमें प्रतिष्ठित तथा सबका आत्मस्वरूप हृदय प्रजाओंका रचयिता है, यह ब्रह्म है-बृहत् है, यानी सबका आत्मा होनेके कारण यह ब्रह्म है। आगे 'हृदय' इस नामके अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासना कही जाती है। यह 'हृदयम्' त्र्यक्षर है। 'हृ' यह एक अक्षर है, जिसका अपहरण कर्म है, इन्द्रियाँ और शब्दादि दूसरे विषय अपने अपने कार्यका अभिहरण करते हैं और हृदय उन्हें अपने भोक्ताके पास ले जाता है। जो ऐसा जानता है उसे स्व-पर जन बलि देते हैं। 'द' यह भी एक अक्षर है, दानार्थ 'दा' धातुका 'द' यह रूप 'हृदय' नामके अक्षर रूपसे निबद्ध है, यहाँ भी हृदयरूप ब्रह्मको इन्द्रियाँ और अन्यान्य विषय अपना अपना वीर्य देते हैं। इसी तरह गत्यर्थक 'इण्' धातुका 'यम्' यह रूप इस नामसे प्रसिद्ध एक अक्षर है—ऐसा जाननेवाला स्वर्गलोकको जाता है। इस प्रकार नामके अक्षर मात्रसे जब मनुष्य ऐसा विशिष्ट फल प्राप्त कर लेता है तो हृदयस्वरूप ब्रह्मकी उपासनासे जो फल मिलेगा उसके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ १ ॥

——❀❀❀——

चतुर्थ ब्राह्मण

अब इस हृदयब्रह्मकी ही सत्यरूपसे उपासना कहते हैं, यथा—

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेतन् महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यᳬ ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

भावार्थ—निश्चय करके वही हृदय वह ब्रह्म है जो कि सत्य है। इस महत्, यक्ष-पूजनीय, प्रथम उत्पन्न हुए को 'यह सत्य ब्रह्म है' जो ऐसा जानता है वह इस लोकको जीत लेता है। उसका प्रतिपक्षी भी अधीन हो जाता है और असत् हो जाता है, यानी शत्रुका अस्तित्व ही मिट जाता है। जो इस प्रकार इस महत्, पूज्य, प्रथम

उत्पन्न हुएको 'सत्य ब्रह्म' इस प्रकार जानता है उसे पहले कहा गया फल मिलता है, क्योंकि ब्रह्म सत्य ही है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—निश्चय करके ब्रह्म सत्यस्वरूप है, क्योंकि सत्यपद-वाच्य पञ्चभूत उसीकी सत्तासे जगत्को उत्पन्न करते हैं। वही सत्य ब्रह्म सबसे पूज्य तथा सबका आदि कारण होनेसे 'महद्‌यक्ष' कहाता है। जो इस 'महद्यक्ष' सत्यस्वरूप परमात्माको जान लेता है, अवश्य ही वह सर्वोपरि विराजमान होकर परमात्माके अपहतपाप्मादि गुणोंको धारण करनेसे पूज्य ब्रह्म हो जाता है ॥ १ ॥
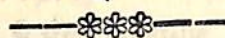
पञ्चम ब्राह्मण

अब उस सत्य ब्रह्मकी स्तुतिके लिए उसकी सर्वप्रथम उत्पत्ति बोधन करते हैं, यथा—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत् त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैनं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—पहले यह आप ही था, यानी यह अव्यक्त जगत् जल ही था। उस जलने सत्यको उत्पन्न किया, सत्य ब्रह्म ही है, ब्रह्मने विराट्‌को और विराट् यानी प्रजापतिने देवताओंकी सृष्टि की। वे देवता लोग सत्यकी ही उपासना करते हैं। वह यह सत्य तीन अक्षरोंवाला है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ति' यह एक अक्षर है, और 'यम्' यह एक अक्षर है। इनमें पहला और अन्तका अक्षर सत्य है, और बीचका अक्षर अनृत है। यह जो अनृत है दोनों ओर सत्यसे व्याप्त है यानी दोनों ओरके 'स' तथा 'यम्' इन अक्षरोंसे अन्तर्भावित है, इस कारण यह प्रधान ही है यानी सत्यप्राय ही है। जो ऐसा जानता है उसे अनृत (असत्य) नष्ट नहीं कर सकता ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—'आप' शब्दसे यहाँ कर्मसम्बन्धी अग्निहोत्रादिकी आहुतियाँ कही गई हैं। ये आहुतियाँ द्रव्यरूप ही हैं, इस कारण जल हैं। अग्निहोत्र कर्मकी समाप्तिके बाद वह आप (जल) किसी सूक्ष्म रूपसे, जो दिखाई नहीं देता, अपने कर्मसंबन्धको न छोड़ते हुए अन्य भूतोंके साथ ही रहता है। कर्मसम्बन्धिता रहनेके कारण प्रधानता जल की ही है, इसीसे यहाँ उसे 'आप' कहा गया है। पश्चात् उस आपने सत्यकी रचना की, अतएव सत्य ब्रह्म प्रथमज है। वही यह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति है जो कि अव्याकृत जगत्‌का व्यक्त होना है। वह सत्य महत्ताके कारण ब्रह्म है। उसकी महत्ता सबका स्रष्टा होनेके कारण है। यानी सत्य ब्रह्मने सूर्यादि इन्द्रियोंवाले, प्रजाके स्वामी प्रजापति विराट्‌को उत्पन्न किया, फिर उसने देवगणोंको। बस इस क्रमसे सब कुछ सत्य ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, यही कारण सत्य ब्रह्मके महत्त्वमें है। सत्यमें जो 'स' 'ती' और 'यम्' ये तीन अक्षर हैं इनमें जो 'ती' है वह अनुबन्ध है याने स्पष्ट उच्चारणके लिए है। इनमें पहला और अन्तका अक्षर सत्य है क्योंकि उनके मृत्युरूपका अभाव है और बीचका जो 'ती' यानी 'त्' है वह अनृत है, क्योंकि मृत्यु और अनृत इनकी तकारमें समानता है। 'सत्यम्' इस शब्दमें सत्यका बाहुल्य है और असत्य कम है, अतः वह अकिञ्चित्कर है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण अक्षरके सत्यबाहुल्य और मृत्युरूप अनृतके अकिञ्चित्करत्वको जो जानता है, इस प्रकार जाननेवालेको कभी प्रमादसे बोला हुआ अनृत (असत्य) नहीं मारता है ॥ १ ॥

अब उस सत्य ब्रह्मकी संस्थानविशेषमें उपासना बताई जाती है, यथा—

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—जो यह सत्यब्रह्म है वही आदित्य है। जो आदित्यमण्डलवर्ती पुरुष है, और जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, ये दोनों एक दूसरेमें प्रतिष्ठित-संस्थित हैं, यानी दोनों सखा हैं। रश्मियोंसे यह आदित्य इस चाक्षुष पुरुषमें प्रतिष्ठित

है और प्राणोंसे चाक्षुष पुरुष आदित्यमें प्रतिष्ठित है। जिस समय अक्षिस्थ पुरुष उत्क्रमण करने लगता है उस समय यह इस मण्डलको शुद्ध ही देखता है; ये किरणें फिर उसके समीप नहीं आतीं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—किसी महात्माने इस मन्त्रका यह भाव प्रदर्शित किया है—यह सत्य ब्रह्म ही आदित्य (सूर्य) का नियन्ता है। यह आदित्यपद अन्य पदार्थोंका उपलक्षण है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह सत्य ब्रह्म पदार्थ मात्रका नियन्त्रण करनेवाला है। जो आदित्यमण्डलवर्ती पुरुष है और जो चाक्षुष पुरुष है वे परस्पर सखा हैं। आदित्यमण्डलान्तर्गत पुरुष ही सूर्यरश्मियों द्वारा चक्षु आदि सकल इन्द्रियोंका नियामक है। जो मनुष्य उक्त तत्त्वको अच्छी तरहसे जानता है वह सर्वनियन्ता ब्रह्मकी उपासना करनेसे शुद्ध हो जाता है। फिर उसको 'रश्मयः' यानी सांसारिक वासनाओंकी चमक दमक अपनी ओर नहीं खींच सकती। इसे यों समझा जा सकता है कि ऐसा मनुष्य बार बार जन्म जरा मृतिके चक्करमें नहीं फँसता ॥ २ ॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥३॥

भावार्थ—इस आदित्यमण्डलवर्ती पुरुषका 'भूः' यह मूर्द्धास्थानीय है। मूर्द्धा यानी मस्तक एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' ये भुजा हैं, भुजायें दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा यानी पाँव हैं, पाँव दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। इस सत्य ब्रह्मका 'अहः' यह नाम है, यह नाम भी उपनिषद् यानी गूढ़ है, गुप्त है। जो इस प्रकारसे जानता है वह पापको मारता है तथा उसे त्याग देता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—उस सत्य पुरुषके अवयव व्याहृतियाँ कैसे हैं ? सो सुनो—'भूः' यह जो व्याहृति है वह प्रथम होनेके कारण उसका मस्तक है, क्योंकि सिर एक संख्यावाला है, वैसे ही भूः भी एक अक्षर है। दो वर्णोंमें समानता होनेके कारण 'भुवः' यह भुजा है, भुजायें दो होती हैं और ये अक्षर भी दो हैं। तथा 'स्वः' चरण हैं, इसमें दो अक्षर हैं—और प्रतिष्ठा—चरण भी दो ही होते हैं।

"प्रति-तिष्ठति आभ्याम्" इस व्युत्पत्तिसे प्रतिष्ठा नाम पाँवका हुआ। उस व्याहृतिरूप अवयवोंवाले सत्य ब्रह्मका उपनिषद्—रहस्य यानी गूढ नाम (जिसके पुकारे जानेपर वह ब्रह्म अन्य लोगोंके समान अभिमुख हो जाता है) 'अहर्' है। 'अहर्' यह 'हन् हिंसागत्योः' और 'हा' यह 'ओहाक् त्यागे' इन धातुओंका रूप है। जो 'अहर्' संज्ञक ब्रह्मकी उपासना करता है वह पापको मार भगाता है॥ ३॥

इस प्रकार आधिदैविक स्वरूपको कहकर आध्यात्मिक स्वरूपको कहते हैं, यथा—

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकᳪ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषद-हमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥ ४॥

भावार्थ—दक्षिण अक्षिगत जो यह पुरुष है उसका 'भूः' यह सिर है, मस्तक एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है, भुजायें दो होती हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह पाँव हैं, पाँव दो होते हैं और ये अक्षर भी दो हैं। उसका 'अहम्' यह गुप्त नाम है। जो ऐसा जानता है वह पापको पीट देता है और फिर उसे खदेड़ देता है॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—उस सत्य ब्रह्मका 'अहम्' यह उपनिषद् है, क्योंकि यह प्रत्यगात्मस्वरूप है। पूर्ववत् यानी 'अहर्' की तरह 'अहम्' भी 'हन्' और 'हा' इन दो धातुओंका रूप है। जो 'अहम्' संज्ञक ब्रह्मकी उपासना करता है वह पापको मार देता है, यानी अपने भीतर किसी अदृष्ट दोषसे उत्पन्न हुए पापको नष्ट कर देता है और जो पाप उसके पास आना चाहते हैं—उन्हें दूरसे भगा देता है। जिस प्रकार राम कृष्ण शिव आदि परमात्माके नामसंकीर्तनसे दुरित क्षय हो जाते हैं, उसी तरह 'अहम्' इस नामकी महिमा जाननेवालोंके पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं। वैदिकोपासनाप्रसङ्गमें प्रभुके 'अहर्' तथा 'अहम्' जैसे बहुतसे नाम आते हैं, क्योंकि प्रभुके नाम अनन्त हैं, कीर्ति अपरिमित है तथा महिमा अपार है॥ ४॥

षष्ठ ब्राह्मण

अब उस सत्य ब्रह्मकी ही फिर मन-उपाधिविशिष्ट रूपसे उपासना कहते हैं, यथा—

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ १ ॥

भावार्थ—ऐसा यह पुरुष मनोमय है, जिसका प्रकाश ही सत्यस्वरूप है। वह उस अन्तर्हृदयमें धान तथा यव जितने परिमाणवाला है। वह यह सबका स्वामी तथा सबका अधिपति है। जो यह चराचर जगत् प्रतीत हो रहा है वह इस सभीका शासन करनेवाला है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—वह परमात्मा मनमें उपलब्ध होता है इसी कारण वह मनोमय यानी मनःप्राय है, तथा भाः और सत्य है, यानी भास्वर है। मनके सभी विषयोंका अवभासक तथा मनोमय होनेके कारण ही इसकी भास्वरता है। वह हृदयके अन्तर्भागमें योगियों द्वारा जैसा परिमाणतः व्रीहि या यव होता है उतने ही परिमाणवाला देखा जाता है। वह सबका ईशान यानी अपने औपाधिक भेदसमुदायका स्वामी है। प्रत्येक स्वामी मन्त्री आदिके अधीन रहते हैं, पर वह ऐसा नहीं है। इस प्रकार मनोमय ब्रह्मकी उपासनासे तद्रूपताकी प्राप्ति ही फल मिलता है ॥ १ ॥

सप्तम ब्राह्मण

इसी प्रकार सत्य ब्रह्मकी विशिष्टफलवाली एक दूसरी उपासना कहते हैं, यथा—

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

भावार्थ—ऐसा कहते हैं कि विद्युत् ब्रह्म है। विदान (अवखण्डन) याने काट देने या विनाश करनेके कारण वह विद्युत् है। 'विद्युत् ब्रह्म है' जो ऐसा जानता है, वह उन पापोंको नष्ट कर देता है जो आत्माके प्रतिकूल हैं, क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है ॥१॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्मवेत्ताओंका कथन है कि जिस प्रकार यह प्रसिद्ध आकाशस्थ बिजली अथवा आजकल रोशनी, मशीन आदिके काममें आनेवाली बिजली चमक से अन्धकारको नष्ट भ्रष्ट कर देती है। इसी प्रकार उपासकके पापरूप अन्धकारका विनाशक होनेसे परमात्माका नाम विद्युत् है, अर्थात् 'विद्योतत इति विद्युत्' जो प्रकाशस्वरूप हो उसको 'विद्युत्' कहते हैं। इस प्रकार जो प्रकाशस्वरूप परमेश्वरको विद्युत् समझकर या विद्युत्में प्रकाश करनेकी सामर्थ्य देनेवाला जानकर उपासना करता है, वह पापरूप मलसे रहित होकर शुद्धस्वरूप हो जाता है। भाव यह है कि आत्माके प्रतिकूल जितने पाप होते हैं उनका यह खण्डन कर देता है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, उसको अनुरूप फल मिलता है ॥ १ ॥

अष्टम ब्राह्मण

इसके अनन्तर फिर उसीकी वाङ्मयरूप धेनुके सम्बन्धसे उपासना कहते हैं, यथा—

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

भावार्थ—वाणीरूप गौकी उपासना करनी चाहिये। स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार ये उसके चार स्तन हैं। स्वाहाकार और वषट्कार उसके इन दो स्तनोंसे देवतालोग जीवन धारण करते हैं यानी ये दो देवताओंकी जीविका हैं, मनुष्य हन्तकार के उपजीवी हैं, और स्वधाकार के पितृगण। प्राण उस धेनुका वृषभ है तथा मन बछड़ा है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—वाक् नाम है त्रयी का, यानी ऋक्, यजुः और साम इन तीन वेदोंका नाम वाणी है, उसकी धेनुके समान उपासना करे। उसके चार स्तन मूल मन्त्रमें कहे गये हैं, उनमें स्वाहाकार और वषट्कार इन दो का उच्चारण करके देवताओंको हवि दी जाती है। इन दो स्तनोंके वत्सस्थानीय देवगण उपजीवी हैं। हन्तकारके उपजीवी मनुष्य हैं, क्योंकि हन्त ऐसा कहकर मनुष्योंको अन्न दिया जाता है। और स्वधाके उपजीवी पितृगण हैं, इस को कहकर ही पितरोंको भाग समर्पण किया जाता है। उस धेनुका प्राण वृषभ है, क्योंकि प्राणके द्वारा ही वाक् प्रसव करती है। मनसे प्रस्नवित—पन्हानेके कारण मन उसका बछड़ा है। मनसे आलोचना किये हुए विषयमें ही वाणीकी प्रवृत्ति होती है अतएव मन वत्सस्थानीय है। इस प्रकार वाक्रूपी धेनुका उपासक तदुपाधिक ब्रह्मभावको ही प्राप्त हो जाता है।

इसे स्पष्ट रीति से यों समझा जाय कि वेदवाणी गौके समान है जैसे गायके चार स्तन होते हैं उसी प्रकार वेदवाणीरूप धेनुके भी मूलोक्त चार स्तन हैं। उनमें दो स्वाहाकार तथा वषट्कार अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठानरूप दुग्धका दोहन करते हुए देवताओंके जीवनाधार हैं। हन्तकार नामवाला तीसरा स्तन मनुष्योंका आश्रय है, अर्थात् जो अन्य वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें किसी कारणवशात् अवकाश न मिलनेके कारण केवल अतिथियज्ञको ही पूर्ण करते हैं, उनका पवित्र जीवन कृतकृत्य हो जाता है। मनुष्यको 'हन्त' कहकर अन्न जलादि द्वारा, नहीं तो वाङ्मात्रसे ही सही सत्कार करना सबसे श्रेष्ठ व्यापार है। और स्वधाकार यह प्रयत्न पितृगणोंकी तृप्ति का साधन है।

जिस प्रकार साँड़से बछड़ा पैदा करके गाय दूध देती है, उसी तरह प्राणात्मक वृषभ द्वारा मनरूप वत्ससे वागूरूप धेनु पुण्यरूप दुग्ध को स्रवण करती है। ऐसे ही प्राणात्मक वृषभ द्वारा मनरूप वत्ससे वागूरूप धेनु पुण्यरूप दुग्धका स्रवण करती है, बरसाती है। क्योंकि प्राणके बलसे ही वाणी का उच्चारण होता है और मन द्वारा सङ्कल्प करके स्वाहाकारादि स्तनोंसे पुण्यरूप दूधका दोहन किया जाता है। जो इस प्रकार वेदवाणीकी धेनुरूपसे उपासना करता है उसे अमृतकी प्राप्ति होती है। यहाँ तक कहनेका तात्पर्य यही हुआ कि वेदवाणीरूप गाय मनुष्यजीवनको सफल बना देनेका सबसे बड़ा साधन है। वेदवाणी और धेनु ये दोनों जीवन हैं। धेनु मानवशरीरको पुष्ट करती है, और वेदवाणीसे आध्यात्मिक जीवन सफल होता है॥ १॥
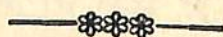
नवम ब्राह्मण

प्रकृत सत्य ब्रह्मको ही जठराग्निरूप से अपरोक्ष दिखाते हुए उसकी जठराग्निरूप से उपासना कहते हैं, यथा—

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳ शृणोति ॥ १ ॥

भावार्थ—यह अग्नि वैश्वानर है, जो कि यह पुरुषके भीतर है। जो अन्न भक्षण किया जाता है वह उस अग्निसे पकाया जाता है। जिसे मनुष्य कानोंको बन्द करके सुनता है यह शब्द उसीका है। जिस समय मनुष्य उत्क्रमण करने लगता है, उस समय इस घोषको नहीं सुनता ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इसमें महात्मा लोग कहा करते हैं कि अग्नि यानी प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही वैश्वानर है, क्योंकि जो कुछ भक्षण किया जाता है उसे परमेश्वरकी सत्तासे ही वैश्वानर—जठराग्नि जीर्ण करनेमें समर्थ होता है, स्वतः नहीं। और जो दोनों कान बन्द करनेसे घोषात्मक शब्द सुनाई पड़ता है वह इसी वैश्वानर अग्निका शब्द है, उसका श्रवण आसन्नमृत्यु यानी गतायु पुरुषको नहीं होता ॥ १ ॥

———❀❀❀———

दशम ब्राह्मण

इस प्रकरणमें उक्त समस्त उपासनाओंकी गति और जो फल नहीं कहा गया है, वह कथन किया जाता है, यथा—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व

आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य जिस समय इस संसारसे परलोकमें जाता है, उस समय वह वायुको प्राप्त होता है। वहाँ उसे वायु रास्ता दे देता है, इतना मार्ग जैसा कि रथके पहियेका छेद होता है, उससे वह ऊपरको चढ़ता है। ऐसा होनेपर वह आदित्यलोकमें पहुँच जाता है, वहाँ उसके लिए सूर्य भी वैसा ही छिद्र यानी मार्ग दे देता है, जैसा कि डम्बर नामक बाजेका छेद होता है, वह उसमें होकर ऊर्ध्वगामी होता है। इसके अनन्तर वह चन्द्रलोकमें पहुँचता है। उसके प्रति चन्द्रमा भी मार्ग दे देता है, ऐसा मार्ग जैसा दुन्दुभिका होता है, उससे वह ऊपरको चढ़ जाता है। ऐसा करके वह शोकरहित तथा हिमरहित लोकमें पहुँच जाता है और वहाँ अनन्त काल तक निवास करता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस समय उपासक पुरुष इस लोकसे मरकर जाता है, उस समय वायुको प्राप्त होता है। वायु आकाशमें तिरछा होकर अभेद्य रूपसे रास्ता रोके रहता है, वह उपासकको देखकर मार्ग दे देता है। यानी अपनेमें रथके पहिये जैसा छिद्रयुक्त हो जाता है, उसमेंसे विद्वान् ऊर्ध्वोन्मुख होकर जाता है। जाते जाते वह आदित्यलोकमें जा पहुँचता है, आदित्य ब्रह्मलोकका मार्ग रोके खड़ा है, वह भी उपासकको अपनेमें डम्बर बाजेके छेद जैसा छिद्र करके उसे रास्ता दे देता है। उसमेंसे होकर उपासक ऊपरकी ओर चढ़ता है, चढ़ते चढ़ते चन्द्रलोक तक जा पहुँचता है। वहाँ वह भी उसके लिए अपनेको छिद्रयुक्त कर देता है, जैसा कि दुन्दुभिका छिद्र होता है। वह उपासक इस खिड़कीसे होकर ऐसे लोकमें पहुँचता है, जो मानसिक दुःखसे शून्य और शारीरिक दुःखसे भी रहित है। वहाँ जाकर वह विद्वान् उपासक ब्रह्माके अनेकों कल्पों तक निवास करता है ॥ १ ॥

———❀❀❀———
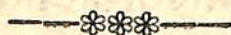
एकादश ब्राह्मण

इसके अनन्तर अनायास यानी यदृच्छासे होनेवाले ज्वरादिकोंके कारणभूत जो तीन अनात्म पदार्थ हैं, उनकी उपासनाकी सफलताके विषयमें कहा जाता है, यथा—

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परम ꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्य ꣳ हरन्ति परम ꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परम ꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—जो रोगग्रस्त मनुष्यको ताप होता है—निश्चय ही वह 'परम तप' है। ऐसा जाननेवाला परम लोकको ही जीत लेता है। मृतक पुरुषको जंगलमें ले जाना यह भी निश्चय ही परम तप है, जो ऐसा जानता है वह परम लोकको जीत लेता है। मरे हुए मनुष्यको चितामें रखना भी अवश्य ही परम तप है, ऐसा जाननेवाला भी परमके ऊपर विजय पा लेता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—ज्वरादि व्याधिसे ग्रस्त हुआ पुरुष जो तपता है वह परमतप है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए तप और ताप इनमें समान ही क्लेश है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले उस विद्वान् का, जो कि स्वतः प्राप्त हुए रोगादिकी निन्दा नहीं करता तथा उससे विषाद को प्राप्त नहीं होता, वही तप कर्मक्षयका हेतु हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है वही उस विज्ञानरूप तपके द्वारा पापोंको दग्ध करके परम लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार मरणासन्न पुरुष पहले ही कल्पना करता है कि मर जाने पर मुझे ऋत्विग्गण अन्त्येष्टि कर्मके लिए जो ग्रामसे वनमें ले जायँगे, वह निश्चय ही तप होगा। यानी ग्रामसे वनगमनमें समानता होनेके कारण वह परम तप होगा। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ग्रामसे वनमें जाना परम तप है, जो ऐसा जानता है वह अवश्य ही परम लोक को जीत लेता है, यानी उसे मरनेमें कष्ट अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार मृतकको सब ओरसे अग्निमें रखना, यह उसके लिए परम तप है,

क्योंकि अग्निप्रवेशमें इसकी उससे समानता है। ऐसा जाननेवाला भी अवश्य परलोकविजयी होता है, यानी मरनेवाला जानता है कि मरनेके बाद यह मेरा शरीर पञ्चाग्नि आदि धूनियोंमें तपनेवाले साधु की तरह अग्नि में तप करेगा ।

इस उपर्युक्त अखिल सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि ज्वरादि रोगोंसे सन्तप्त होकर अनेक प्रकारके दुःखका भोगना परम तप है, अर्थात् मनुष्यको उचित है कि जब ज्वरादिकोंसे किसी प्रकारकी पीड़ा प्राप्त हो तो बड़ी धीरतासे उसको सहन करे, ऐसा तितिक्षु पुरुष उत्तम लोकको प्राप्त होता है। या यों समझो कि सहनशील पुरुष किसी प्रकारके क्लेशसे सन्तप्त नहीं होता, वह अपने जीवनमें मृत्युके दुखःको भी तुच्छ जानकर अपने कर्तव्य पर दृढ रहता है ॥ १ ॥

——***——

द्वादश ब्राह्मण

इसके अनन्तर फिर अन्न तथा प्राणोपाधिविशिष्ट वीरगुणयुक्त ब्रह्मकी ही उपासनाका विधान करनेके लिए युक्ति कथन करते हैं, यथा—

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋते-ऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छत-स्तद्ध स्माऽऽह प्रातृदः पितरं किꣳ स्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माऽऽह पा-णिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि वि-शन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—कई आचार्यों का कहना है कि अन्न ही ब्रह्म है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि प्राणके बिना अन्न सड जाता है, यानी प्राणधारी जीवोंके भोगे बिना

निरर्थक पड़ा हुआ उपादेय नहीं रहता। कोई कहते हैं कि प्राण ब्रह्म है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अन्नके विना प्राण सूख जाता है। किन्तु ये दोनों देव एकरूपताको प्राप्त होकर परम भावको प्राप्त होते हैं। ऐसा विचार कर प्रातृद नामक ऋषिने अपने पिताके प्रति कहा कि हे पितः, इस प्रकार जानकर मैं किसीका क्या अच्छा करूँ अथवा क्या बुरा करूँ? यानी किसीके प्रति शुभ अशुभ कौनसा कर्म करूँ? अथवा मैं कौनसा पक्ष ठीक समझूँ? अर्थात् जो अन्न तथा प्राणको पृथक् पृथक् समझता है वह पूजनीय होता है या नहीं? क्योंकि कृतकृत्य हो जानेके कारण उसका न तो कोई शुभ किया जा सकता है और न अशुभ ही। तब उसके पिताने सत्कारपूर्वक पुत्रका हाथ पकड़कर कहा, अथवा हाथ हिलाकर निवारण करते हुए कहा—हे प्रातृद, ऐसा मत कहो, इन दोनोंकी एकताको प्राप्त होकर कौन परमताका लाभ कर सका है? फिर पुत्रसे पिताने 'वि' ऐसा कहा। निश्चय करके अन्नका नाम 'वि' है, क्योंकि सब भूत 'वि' रूप अन्नमें ही प्रविष्ट हैं यानी इसीके द्वारा जीवित रहते हैं। 'रम्' यह प्राण है, क्योंकि 'रं' में अर्थात् प्राणमें ही ये सब भूत रमण करते हैं, यानी प्राणके बलसे ही सब प्राणी स्वच्छन्द विचरते हैं एवं जितने बलसाध्य काम हैं उनको सब कोई प्राणकी ही सामर्थ्यसे करते हैं। जो इस प्रकार अन्नको 'वि' तथा प्राणको 'रम्' जानकर दोनोंसे यथायोग्य लाभ उठाता है, या यों समझो कि जो सबके प्रति यथाधिकार अन्न वितरण तथा विभक्त करता है तथा परोपकारार्थ अपने बलको अर्पण करता है, उसके साथ सब प्राणी प्रेम करते हैं। उसके आश्रय या अधीन सब रहते हैं, यानी उसमें ये सब भूत प्रविष्ट होते हैं तथा उसमें सभी भूत रमण करते हैं॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—किसी महापुरुषने कहा—अन्न ब्रह्म है, कौन अन्न, जो खाया जाता है। दूसरेने कहा—प्राण ब्रह्म है। अन्न ब्रह्म होता तो वह सड़ता गलता नहीं, उसमें दुर्गन्ध न आने लगती। फिर वह ब्रह्म किस प्रकार है? ब्रह्म तो वही हो सकता है जो अविनाशी है, इससे अन्न ब्रह्म नहीं है, प्राण ब्रह्म है। प्राण भी ब्रह्म नहीं हो सकता वह अन्नके बिना सूख जाता है, वह बिना अन्नके अपनेको धारण करनेमें समर्थ ही नहीं हो सकता। अतः यह समझो कि इनमें एक एकका ब्रह्मत्व सम्भव नहीं है अतएव ये अन्न और प्राण दोनों एकरूप होकर परम भावको यानी ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाते हैं।

ऐसा विचार प्रातृद ऋषिने अपने पितासे प्रकट किया कि मैंने जिस प्रकार ब्रह्मकी कल्पना की है उस प्रकार जाननेवालेका मैं क्या साधु करूँ? यानी पूजा करूँ

या न करूँ ? तात्पर्य यह है कि वह तो कृतकृत्य है, ऐसा जाननेवाला पण्डित पुरुष अशुभ करनेसे खण्डित नहीं होता न शुभ करनेसे मण्डित ही होता है। पिताने हाथके संकेतसे उससे कहा—नहीं ऐसा मत समझ, यानी इन अन्न और प्राणकी एकरूपताको प्राप्त होकर कौन परम भाव प्राप्त कर सकता है ? इस ब्रह्मदर्शनके द्वारा कोई भी विद्वान् परम भावको प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिए तुम्हें ऐसे किसीको कृतकृत्य नहीं कहना चाहिए। यह सुन पुत्रने कहा—तब आप ही बताइए किस प्रकार परम भाव प्राप्त होता है ? तब उसके पिताने यह कहा—'वि' तथा 'रम्' इनमें अन्न ही 'वि' है और 'रम्' ही प्राण है। अन्न समस्त भूतोंके आश्रय गुणवाला है और प्राण सम्पूर्ण प्राणियोंके रतिरूप गुणवाला है। जो मनुष्य अन्नके आश्रय गुणवाला है उसके सब भूत आश्रय हो जाते हैं और जो प्राणके रति गुणवाला है उसमें सब भूत रमण करते हैं। इस प्रकार जाननेवाले उपासकको यह फल होता है ॥ १ ॥

——❀❀❀——

त्रयोदश ब्राह्मण

अब प्राणका महत्त्व कथन करते हुए प्रथम उसको उक्थरूपसे वर्णन करते हैं, यथा—

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीद४ँ सर्वमुत्थापयत्यु-द्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्य४ँ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—उक्थ निश्चय करके प्राण है, इस प्रकार उपासना करे। प्राण ही उक्थ है, क्योंकि सभी चराचरका उठानेवाला प्राण ही है। ऐसी उपासना करने-वालेको उक्थका ज्ञाता पुत्र प्राप्त होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह प्राणके सायुज्य और सालोक्यको प्राप्त करता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—उक्थ शस्त्र है, वही महाव्रत क्रतुमें प्रधान है, प्राण ही उक्थ है। प्राण इन्द्रियोंमें प्रधान है और उक्थ शस्त्रोंमें प्रधान है। ऐसी उपासना करे कि प्राण उक्थ है। प्राणहीन कोई भी उठ नहीं सकता, अतः उठानेके कारण प्राण उक्थ है ॥ १ ॥

अब प्राणको यजुःरूप कथन करते हैं, यथा—

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्य ᳬ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥

भावार्थ—इस प्रकार यजुः प्राणकी उपासना करे—सब भूतोंका प्राणमें ही योग होनेके कारण प्राण ही यजुः है यानी यजुः नाम दूसरेसे सम्बन्ध करानेवाला है। क्योंकि प्राणकी श्रेष्ठताके कारण इसमें सम्पूर्ण भूत संयुक्त होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है वह यजुः के सायुज्य तथा सालोक्यको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अब प्राणको सामरूप कथन करते हैं, यथा—

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्य ᳬ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ—निश्चय करके साम ही प्राण है, 'साम' इस प्रकारकी उपासना करे, क्योंकि प्राणमें ही सब भूत मिलते हैं यानी सम्मिलित—सुसंगठित होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है वह सामके सायुज्य तथा सालोक्यको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—प्राण ही साम है, क्योंकि प्राणमें ही सब भूत संगत होते हैं, सङ्गमन यानी साम्य प्राप्तिके कारण प्राण साम है। सम्पूर्ण भूत इसके ज्ञाताके साथ संगत हो जाते हैं, केवल संगत ही नहीं होते उसके श्रेष्ठ भावके लिए भी समर्थ होते हैं ॥ ३ ॥

अब प्राणको क्षात्ररूपसे कथन करते हैं, यथा—

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्य ᳬ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ—निश्चय करके प्राण क्षत्र है, इस प्रकार उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है, यह प्रसिद्ध है। प्राण शस्त्रके घावसे इस देहकी रक्षा करता है। 'अत्रम्'

यानी यह प्राण किसीसे रक्षा न पानेवाले क्षत्रको प्राप्त होता है। जो ऐसी उपासना करता है वह क्षत्रके सायुज्य तथा सालोक्यको विजय कर लेता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—यह प्रसिद्ध है कि प्राण ही क्षत्र है, यह प्रसिद्धि इस लिए है कि प्राण क्षतसे यानी शस्त्रादिकी पीड़ासे शरीरकी रक्षा करता है, याने उसमें होनेवाले घावको फिर मांससे भर देता है। अतः क्षतसे रक्षा करनेके कारण प्राणका क्षत्रत्व प्रसिद्ध है। यह प्राण 'अत्र' है, क्योंकि इसका किसी दूसरेसे त्राण नहीं किया जा सकता, यह प्राण अत्र [त्राणहीन] क्षत्र है। इसकी उपासना करनेवाला उस अत्र क्षत्ररूप प्राणको प्राप्त होता है। भाव यह है कि प्राण ही क्षत्र यानी क्षत्रिय जातिका बल है, क्योंकि प्राणकी सामर्थ्यसे ही क्षत्रिय लोग धर्मकी रक्षा करते हैं। अर्थात् प्राण ही सब प्रकारकी क्षतिसे बचानेवाला है, जो महाप्राण हैं वे श्रेष्ठ हैं और जो अल्पप्राण हैं वे निकृष्ट हैं। यानी जिसके प्राणमें ओज है, जो साहसी है, वह साहस भी जिसका दूसरेकी रक्षा करनेके लिए है, वह क्षत्रधर्मावलम्बी है। प्राणायामकी विद्यासे योगी लोग मृत्युको जीत लेते हैं, जिन्होंने प्राण व शक्तिको अपनाया—बढ़ाया, वे सब कुछ कर गये। आजकलके साधारण लोग सभी कुछ त्याग कर एवं अनेकों अनर्थ करके भी अपने प्राण बचाना चाहते हैं, पर वे सफलता प्राप्त करनेमें विफल रहते हैं। इसका कारण क्या है? उत्तर यह है कि मनुष्य प्राणको क्षत्र नहीं बनाते, यानी दृढ़ नहीं करते, जिससे शरीरके क्षतको—आघातको बचा सकें। प्राणमें दृढ़ता कैसे आवेगी, उसका क्या साधन है, वह कहाँ कैसे तथा कब मिल सकता है? इत्यादि और भी अनेक जटिल प्रश्नोंका उत्तर उपनिषदोंमें तथा सन्तोंके सत्सङ्गमें ही मिलता है ॥ ४ ॥

———❀❀❀———

चतुर्दश ब्राह्मण

हृदय आदि अनेक उपाधियोंसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना कही गई है, अब आगे गायत्रीरूप उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना कहते हैं, यथा—

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे भूमि, अन्तरिक्ष तथा द्यौ ये तीन पद आठ अक्षरोंके हैं, वैसे ही गायत्रीका एक पाद आठ अक्षरोंवाला है। ये ही इस गायत्रीके प्रथम पाद हैं। इसके इस पादको जो इस प्रकार जानता है वह इस त्रिलोकीमें जो भी कुछ है उस सबको विजय कर लेता है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि गायत्री प्राणरक्षाका मुख्य साधन है। भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ (दियौ), इनमें आठ अक्षर हैं, और 'तत्सवितुर्वरेण्यम् (णियम्)' गायत्री मन्त्रके इस प्रथम पादमें भी आठ ही अक्षर हैं। जो उपासक इस प्रकार पदसाम्य विज्ञानको जानता है वह सर्वजित् सिद्ध हो जाता है। समग्र छन्दोंमें गायत्री छन्द ही प्रधान है, उसका प्रयोग करनेवाले गयका त्राण करनेके कारण वह गायत्री है। अन्य छन्दोंमें अपने प्रयोक्ताके प्राणोंकी रक्षा करनेका सामर्थ्य नहीं है। किन्तु यह प्राणकी स्वरूपभूत है, और प्राण सम्पूर्ण छन्दोंका आत्मा है तथा क्षतसे त्राण करनेके कारण प्राण क्षत्र है यह पहले कहा गया है। प्राण ही गायत्री है अतः उसकी उपासनाका विधान करना अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि यह गायत्री द्विजोत्तम जन्मका कारण है, द्विजोत्तमका द्वितीय जन्म गायत्रीके कारण है, क्योंकि 'गायत्रीसे ब्राह्मणको रचा, त्रिष्टुप्से क्षत्रियको और जगतीसे वैश्यको' ऐसा श्रुतिमें कहा है। अतएव गायत्री प्रधान है। अनेक श्रुतियोंमें ब्राह्मणका उत्तम पुरुषार्थसे सम्बन्ध प्रदर्शित किया है, और वह ब्राह्मणत्व गायत्रीजन्ममूलक है। जो गायत्री द्वारा रचा हुआ द्विजश्रेष्ठ है, उसीका उत्तम पुरुषार्थ साधनमें अधिकार है अतः परम पुरुषार्थका सम्बन्ध गायत्रीमूलक है। इस लिए उसकी उपासनाका विधान करनेके लिए प्रकृत श्रुतिका अवतार है।

गायत्रीमन्त्रमें प्राधान्येन बुद्धिको शुभकर्मोंमें प्रेरणा करनेकी प्रार्थना की गई है। जिनकी बुद्धि शुभकामोंमें ही लगती है, अशुभोंमें नहीं, उनकी प्राणनशक्ति (जीवनसामर्थ्य) बढ जाती है। सद्बुद्धि ही दानवसे मानव बनाकर उसे पहाड़ोंकी चट्टानके समान दृढ़ बना देती है। सद्बुद्धिवाला पुरुष सदाचारी होता है, सदाचार दीर्घ एवं सुखी जीवनका हेतु है॥ १॥

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥ २॥

भावार्थ—'ऋचः, यजूंषि, सामानि' इन तीनों का योग करनेसे आठ अक्षर होते हैं। गायत्रीका द्वितीय पाद भी आठ अक्षरोंवाला है। यही इस गायत्रीका द्वितीय पाद है, जो इस प्रकार इसके इस चरणका ज्ञाता है, वह सभी त्रयी विद्याको जीत लेता है ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जिस प्रकार 'ऋचः, यजूंषि, सामानि' इन तीनों वेदोंके वाचक तीन पदोंके अक्षरोंका योग करनेसे आठ होते हैं, उसी प्रकार 'भर्गो देवस्य धीमहि' यह गायत्री मन्त्रका दूसरा पाद भी आठ अक्षरोंवाला है। अर्थात् जो गायत्रीके इस दूसरे पादको भली प्रकार जानता है वह तीनों वेदोंसे होनेवाले फल का उपार्जन करता है। कोई कहते हैं कि जो गायत्रीके इस दूसरे पादका जप करता है, वह सब वेदोंके ज्ञानसे परिचित हो जाता है ॥ २ ॥

अब गायत्रीके तृतीय पादमें उभय प्रकारके जगत्को धारण करनेवाली प्राणादिरूपता है, इसका वर्णन करते हैं, यथा—

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरᳪ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवᳪ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ—'प्राण, अपान, व्यान (वियान)' ये आठ अक्षर हैं, और यह गायत्रीका तृतीय पाद भी आठ अक्षरोंवाला है, यह प्राणादि ही इस गायत्रीका तृतीय पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार गायत्रीके इस पादको जानता है, वह जितना भी प्राणिसमूह है सबको जीत लेता है। तथा यह जो तपता है, वही इसका 'तुरीय, दर्शत, परोरजा पद' है, चौथेको ही तुरीय कहते हैं। 'दर्शतं पदम्' मानो यह दीखता है, यह कौन? आदित्यमण्डलस्थ पुरुष। परोरजा का अर्थ है; रजोगुण तथा तत्कार्यसे रहित। अथवा रज नाम लोकका है, भाव यह हुआ कि यह सभी लोकोंके ऊपर रहकर प्रकाशमान हो रहा है। जो गायत्रीके इस चतुर्थ

पदको इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार शोभा तथा कीर्तिसे प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—'प्राण, अपान, व्यान [वियान]' इन प्राणवाची आठ अक्षरोंके समान ही 'धियो यो नः प्रचोदयात्' यह गायत्रीका तृतीय पाद भी आठ अक्षरोंवाला है। आगे शब्दात्मिका त्रिपदा गायत्रीका अभिधेयभूत चतुर्थ पाद भी कहा है। यह जो तपता है, वही इस प्रकृत गायत्रीका आगे कहा जानेवाला 'तुरीय दर्शत परोरजा' पाद है। यहाँ 'चतुर्थ' से वही अर्थ लेना जो उसका लोक-प्रसिद्ध है। 'दर्शतं पदम्' इसका अर्थ 'यह मण्डलान्तर्गत पुरुष दीखता-सा है' यह है। 'परोरजा' का अर्थ है कि वह मण्डलस्थ पुरुष सम्पूर्ण रजःसमूहको यानी चतुर्दिक् आधिपत्यभावसे सम्पूर्ण लोकरूप रजःसमूहको प्रकाशित करता है। जो फल है वह पहले कहा ही गया है। यानी जो इस प्रकार गायत्रीके महत्त्व को जानता है वह श्रीमान् तथा यशस्वी होता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार अभिधान और अभिधेयरूपा गायत्रीको कहकर अब 'अभिधान (शब्द) अभिधेय (अर्थ) के अधीन है' यह कहते हैं, यथा—

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहम-श्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्द-ध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोगीय इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह प्रसिद्ध गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पदमें स्थित है, वह पद सत्यमें स्थित है। नेत्र सत्य है, यह प्रसिद्ध है कि चक्षु ही सत्य है। अत

एव दो मनुष्योंमें झगड़ा हो जाय और वे यह कहते हुए आवें कि मैंने देखा है, तथा मैंने सुना है, तो हमें उसीका विश्वास होगा जो यह कह रहा होगा कि 'मैंने देखा है'। वह सत्य जो तुरीय पादका आश्रयरूप है बलमें प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है। वह सत्य प्राणमें स्थित है। इसीसे कहा जाता है कि सत्यकी अपेक्षा बलमें ओजस्विता है। इस तरह यह गायत्री अध्यात्म प्राणमें स्थित है। उस गायत्रीने वागादि प्राणरूप गयोंका त्राण (रक्षा) किया था। ये प्राण ही गय हैं। इन प्राणोंका इसने त्राण किया था। इसीसे इसका नाम गायत्री पड़ा कि इसने गयोंका त्राण किया था। उपनयनके समय आठ वर्षके बटुकको आचार्यने जिस सावित्रीका उपदेश दिया था वह यही है। वह जिस जिसको इसका उपदेश करता है यह उसके प्राणोंकी रक्षा करती है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—आदित्य जगत्का सार है, मूर्तामूर्तात्मक जगद्रूप त्रिपदा गायत्री तीनों पादोंके सहित आदित्यमें प्रतिष्ठित है। इसलिए गायत्री सरस है। प्राण और वागादि इन्द्रियोंका नाम गय है, उनकी रक्षा करनेवालीको गायत्री कहते हैं। भाव यह हुआ कि जो मनुष्य अहर्निश गायत्रीका जप करते हैं उनकी इन्द्रियाँ पापोंसे लिपायमान नहीं होतीं। उपनयन कराकर आचार्य जिस गायत्रीके एक पाद, अर्द्ध, सम्पूर्ण अथवा एक अक्षरका उपदेश करता है, उसे गायत्री कहते हैं। क्योंकि सविता (जो सबकी उत्पत्ति करता है) इसका देवता है। वह उन सब शिष्योंकी रक्षा करता है जो गायत्री मन्त्रसे दीक्षित हुए हैं ॥ ४ ॥

मतान्तरमें दोष दिखाते हुए गायत्री सावित्रीकी विशेषता दिखाते हैं, यथा—

ताꣳ हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति ॥ ५ ॥

भावार्थ—किसी शाखावाले आचार्य उपनयनोत्तरकालमें अनुष्टुपछन्दवाली सावित्रीका उपदेश करते हैं। उनका कथन है कि वाक् अनुष्टुप् है, इसीलिए हम वाक्का ही उपदेश करते हैं। पर ऐसा करना ठीक नहीं, उचित तो गायत्री छन्दवाली सावित्रीका ही उपदेश है, यानी इसीका उपदेश करे। ऐसा समझनेवाला चाहे जितना भी ले तो वह गायत्रीके एक पदके समान भी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—कई आचार्योंका कथन है कि यज्ञोपवीत संस्कारके अनन्तर ब्रह्मचारीके प्रति अनुष्टुपछन्द द्वारा ही सावित्रीका उपदेश करना चाहिए, क्योंकि अनुष्टुप् वाणीका स्वरूप है। यानी वे लोग गायत्री छन्दवाली सावित्रीका उपदेश न करके अनुष्टुपछन्दकी सावित्रीका उपदेश करना ही स्वमतानुसार उचित समझते हैं। किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि गायत्री सब छन्दोंमें मुख्य है, मुख्यके रहते अमुख्य नहीं लिया जाता। अतएव गायत्रीछन्द द्वारा ही सावित्रीका उपदेश करना चाहिए। जो इस प्रकार गायत्रीके रहस्यको जानता है वह बहुत प्रतिग्रह यानी दान लेनेपर भी प्रतिग्रहजन्य दोषका भागी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि शिष्य गायत्रीके उपदेष्टा आचार्यके प्रति चाहे जितना भी धन दे, सर्वस्व ही क्यों न अर्पण कर दे, तो भी वह दान गायत्रीके एक पाद क्या, एक अक्षरके उपदेशके लिए भी पर्याप्त नहीं है, यानी एक मात्राके तुल्य भी नहीं है। ऐसे महत्त्व-विशिष्ट तत्त्वका उपदेश देनेवाला दान लेकर दोषभागी हो जाय, यह कथा ही अनोखी है। अनुष्टुप् चार पादोंका होता है और गायत्रीछन्द तीन पादोंका। दोनोंके पाद आठ आठ अक्षरके होते हैं। अनुष्टुपछन्दमें उपलब्ध मन्त्रके देवता भी सविता हैं, इसीसे यह मतभेद सा है ॥ ५ ॥

अब उक्त अर्थमें और विशेषता कथन करते हैं, यथा—

स य इमाᳬंस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाऽऽप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह गायत्रीका वेत्ता धन-धान्यपूर्ण इन भूरादि तीनों लोकोंका प्रतिग्रह कर ले तो वह उस गायत्रीके प्रथम पादको ही व्याप्त करता है। यानी यदि गायत्रीका तत्त्ववेत्ता आचार्य विविध पदार्थोंसे त्रिलोकीको गुरुदक्षिणामें ग्रहण करे तो वह गायत्रीके प्रथम पादसम्बन्धी विज्ञानके फलके समान ही है।

इससे गायत्रीके प्रथम पादका फल ही खर्च होता है, अधिक दोष नहीं होता। बहुत होगा तो यह हो जायगा कि गायत्रीके प्रथम पादका फल ही खर्च हो जायगा और अधिक दोष नहीं होगा। जितनी यह त्रयी विद्या है उसका जो प्रतिग्रह करता है वह इसके इस द्वितीय पादको व्याप्त करता है, यानी इससे गायत्रीके दूसरे पादका फल व्यय हो जा सकता है। इसी प्रकार ये जितने भी प्राणी हैं, उनका जो ग्रहण करता है यानी उनका दानादि लेता है, वह प्रतिग्रहण इसके तृतीय पादको व्याप्त करता है। यही इसका दर्शत परोरजा पद है यह जो प्रकाशमान है यानी तपता है। उसे कोई नहीं प्राप्त कर सकता, यानी वह किसीके द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि इतना परिग्रह कोई कर कहाँसे सकता है ? यानी गुरूपदेश द्वारा गायत्रीके चतुर्थ पादके उपदेशसे जिस शिष्यका परमलाभ हुआ है उसके बदले शिष्यके पास कोई पदार्थ है ही नहीं, जिसको वह भेट दे सके। अतः सर्वोत्कृष्ट गायत्री है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो गायत्रीका उपासक इन गो, अश्व आदि धनसे पूर्ण भूर्लोकादि तीन लोकोंका दान अङ्गीकार करता है वह 'दान लेना' गायत्रीके इस प्रथम पादको, जिसकी कि व्याख्या की गई है, व्याप्त करता है। यानी उसके द्वारा केवल प्रथम पादके विज्ञानका फल भोगा जाता है। यह प्रतिग्रह इससे अधिक दोष उत्पन्न करनेवाला नहीं है। यह जितनी भी त्रयी विद्या है उसका प्रतिग्रह करके इस द्वितीय पादको ही व्याप्त करता है, यानी उसके द्वारा द्वितीय पादके विज्ञानका फल ही भोगा जाता है। एवं जितने ये प्राणी हैं उनके बराबर जो प्रतिग्रह करता है वह प्रतिग्रह इसके तृतीय पादको ही व्याप्त करता है। उसके द्वारा तृतीय पादके विज्ञानका फल ही भोगा जाता है। यह गायत्रीकी उपासनाकी स्तुतिके लिए कहा गया है। यह जो तपता है, यही इसका चौथा दर्शत परोरजा पाद है, यह किसी भी प्रतिग्रहके द्वारा प्राप्तव्य नहीं है, जैसे कि पूर्वोक्त तीन पाद हैं। ऐसी गायत्री सदा उपास्य है ॥ ६ ॥

उक्त विज्ञानका संग्राहक जो मन्त्र है वह ऐहिक आदि फलोंका भी साधक है, ऐसा कहनेके लिए प्रस्ताव करते हैं, यथा—

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै

कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे गायत्रि, आप एकपदी हैं, द्विपदी हैं, त्रिपदी हैं तथा चतुष्पदी हैं। आप अपद हैं, क्योंकि किसी इन्द्रियका विषय नहीं हैं, यानी जानी नहीं जातीं। अतः आपके तुरीय रूपको नमस्कार है, दर्शनीय स्वरूपको अभिवादन है, आपके सर्वलोकोंसे ऊपर विराजमान स्वरूपको प्रणाम है, और आपके व्यवहारके अविषय-भूत तत्त्वको वन्दन है। ऐसी कृपा करो कि यह पापरूपो शत्रु विघ्नकरणरूप कार्यमें सफल न हो। 'उसकी कामना सफल न हो' ऐसा कहकर यह ज्ञाता जिससे द्वेष करता हो उसके प्रति उपस्थान करे। जिसके लिए इस प्रकार उपस्थान किया जाता है उसकी इच्छा सफल नहीं होती। अथवा यह भी है कि 'मुझे यह पदार्थ प्राप्त हो जाय' ऐसी अभिलाषासे उपस्थान करे। यह गायत्रीका उपस्थान है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—विद्वान् कहता है कि हे गायत्रि, आप पूर्वोक्त प्रकारसे तीन लोकरूपी प्रथम पाद द्वारा एकपदी हैं, अर्थात् यह चराचर प्राणियोंका निवास-भूत ब्रह्माण्ड आपके एकदेशमें है। आप वेदत्रयीरूप द्वितीय पादसे द्विपदी हैं, अर्थात् वेदोंकी प्रकाशक हैं। आप ही प्राणापानव्यानरूप तीसरे पादसे त्रिपदी हैं, यानी वागादि समस्त इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री होनेसे त्रिपदी हैं। तथा आप चतुर्थ पाद होनेसे चतुष्पदी हैं यानी सूर्यमण्डलकी नियामिका होनेके कारण चतुष्पदी हैं। इस प्रकार उपासकोंसे चार पादोंवाली जानी गई हैं। आप अपने सर्वोत्तम निरुपाधिक स्वरूपसे अपद हैं, क्योंकि आपका कोई पद नहीं है जिससे कि आपका ज्ञान हो। क्योंकि 'नेति नेति' स्वरूप होनेके कारण आपका ज्ञान नहीं होता। अतः व्यवहाराविषय, तुरीय, दर्शनीय तथा सर्वलोकोपरि विराजमान आपको प्रणाम है। यह पाप मेरा बड़ा भारी शत्रु है, यह आपकी प्राप्तिमें विघ्न करनेके कार्यमें समर्थ न हो।

इस प्रकारसे गायत्रीमन्त्रका उपासक किसीका बुरा चाहे तो उसका अनिष्ट हो जाता है अथवा वह जो भी अपना भला करना चाहे तो ऐसा ही हो जाता है। इस मन्त्रके उपासकका ब्रह्मवर्चस बढ़ जाता है ॥ ७ ॥

अब अन्तमें गायत्रीविज्ञानकी परिपूर्णताके लिए उसका अर्थवाद कहा जाता है, यथा—

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच

यन्नु हो तद्गायत्रीविद्ब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥ ८॥

भावार्थ—अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे विदेहजनकने कहा था कि हे बुडिल, तू जो अपनेको गायत्रीतत्त्ववित् कथन करता था, तो फिर हाथी होकर बोझ क्यों ढो रहा है ? यानी प्रतिग्रह दोषसे हाथी बनकर मुझे क्यों वहन कर रहा है ? यह सुन उसने उत्तर दिया था कि हे सम्राट्, मैं गायत्रीका मुख नहीं जानता था। यह प्रत्युत्तर सुनकर जनकने बताया कि इसका अग्नि ही मुख है। अग्निका स्वभाव है कि उसमें लोग चाहे जितना अधिक इन्धन रख दें तो वह उस सबको दग्ध कर देता है। ऐसे ही ऐसा जाननेवाला गायत्री-उपासक बहुत सा पाप करता रहा हो, तो भी वह उन सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर एवं अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—विदेह जनकने बुडिल नामसे प्रसिद्ध अश्वतराश्विसे कहा था कि अहो ! तू जो कहता था कि मैं गायत्रीका ज्ञाता हूँ, सो तेरे वचनके विपरीत यह क्यों है या क्या हो रहा है ? तू यदि गायत्रीका ज्ञाता है तो प्रतिग्रहण दोषके कारण हाथी बनकर बोझ क्यों ढो रहा है ? बुडिल बोला कि मैं गायत्रीका मुख नहीं जानता था। अतः एक अङ्गसे रहित होनेके कारण मेरा गायत्रीविज्ञान निष्फल हो गया। राजाने अग्निको उसका मुख बताया। भाव यह है कि इस मन्त्रमें जनकबुडिल आख्यायिकासे यह बोधन किया गया है कि जो मनुष्य गायत्रीको अच्छी तरह जानकर उसका मनन करता है, वह सब पापोंसे रहित होकर अमृतपदको प्राप्त होता है।

गायत्री मन्त्रकी शास्त्रों तथा विद्वानोंने बड़ी महिमा कथनकी है, यहाँ तक कहा गया है कि गायत्रीमन्त्रोपासक चाहे जैसा प्रतिग्रह यानी दान ग्रहण कर ले, तो भी उसकी कोई हानि नहीं हो सकती। केवल यही हो सकता है कि उसका गायत्रीके प्रथम पादसे प्राप्त हुआ पुण्य नष्ट हो सकता है, कदाचित् किसी दान लेनेसे दूसरे पादका अथवा बहुत हुआ तो तीसरे पादका पुण्य क्षीण हो सकता है, पर चतुर्थ पादजन्य पुण्य तो अक्षय है, संसारमें ऐसा प्रतिग्रह ही नहीं है जो उसके पुण्यपर

असर पहुँचा सके। जो ब्राह्मणवर्ग सर्वपूज्य है, जिसका देवादि भी सम्मान करते हैं, यह गायत्री देवीका ही प्रभाव है। ब्राह्मणोंका इसीलिए सम्मान है कि वे गायत्रीका अनुष्ठान करते हैं और गायत्रीमें प्रतिपादित शुभकामोंमें बुद्धिकी प्रेरणाको आचरणमें लाते हैं यानी अपनी बुद्धिशक्तिको कभी भी कुमार्गमें नहीं जाने देते। सब ग्रन्थोंमें वेद प्रधान हैं, उनका सार गायत्री है, उससे जो लाभ उठाते हैं, उन्हें धन्य है, वे नमस्कार्य हैं—आर्य हैं—शिरोधार्य हैं ॥८॥
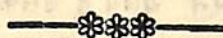
पञ्चदश ब्राह्मण
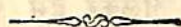
ज्ञान-कर्मसमुच्चयकारी अन्त समयमें आदित्यकी प्रार्थना करता है, यहाँ आदित्यका प्रसङ्ग है क्योंकि यह गायत्रीका तुर्य चरण है। प्रकरण भी उसके उपस्थानका है, अतः उसीकी प्रार्थना की जाती है, यथा—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १ ॥

भावार्थ—सत्यसंज्ञक ब्रह्मका मुख सुवर्णकी तरह प्रलोभन करनेवाले एषणात्रयरूप पात्रसे ढका है। हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके पोषक सूर्यदेव, आप उसको अपने सत्य स्वरूपके दर्शनार्थ खोल दें, यानी ऐसी कृपा करें जिससे हम लोग एषणाओंसे निवृत्त होकर आपके यथार्थ स्वरूपका दर्शन कर सकें। हे पूषन्! (पुष्टिकारक!) हे एकर्षे! (प्रधान ऋषे या सबके ज्ञातः!) हे यम! (सबके नियन्तः!) हे सूर्य! (सर्वोद्भासक, सर्वोत्पादक!) हे प्राजापत्य! (सबके स्वामिन्!) अपनी किरणों

को और तेजको समेट लीजिए अर्थात् आप उक्त हिरण्मय पात्रकी प्रलोभनरूप रश्मियोंको भली प्रकार उपसंहार करें जिससे कि आपका जो कल्याण देनेवाला तेजोमय स्वरूप है हम उसका दर्शन कर सकें। यह जो पुरुष है जो कि आदित्य-मण्डलान्तर्गत है, वही मैं हूँ जो अमृतस्वरूप हूँ। देहावसानके अनन्तर इस शरीरके अन्तर्गत जो प्राणवायु है वह इस बाह्यवायुको यानी महावायुको प्राप्त हो और यह शरीर भस्मसात् होकर पृथिवी में मिल जाय। हे प्रणवरूप तथा मनोमय क्रतुरूप अग्निदेव! जो स्मरण करने योग्य है उसका स्मरण कर, मैंने जो किया है उसका स्मरण कर। हे क्रतुरूप अग्निदेव! जो स्मरण करने योग्य है, उसका स्मरण कर, मैंने जो किया है उसका स्मरण कर। हे अग्ने! तू हमें शुभ मार्गसे ले जा, यानी देवयान मार्गसे ले चल जहाँ चलकर हम कर्मफलोंको भोग सकेंगे। हे देव! तू समस्त प्राणियोंके सभी प्रज्ञानोंको जानता है। हमारे उन पापोंको दूर कर दे जो हमारे कल्याण मार्गमें आड़े आ रहे हैं, यानी जो पाप बड़े ही कुटिल हैं। हम बार-बार अभिवादन करते हैं॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जैसे किसी पात्रसे कोई अपनी अभीष्ट वस्तु ढक दी जाती है, उसी तरह यह सत्यसंज्ञक ब्रह्म मानो ज्योतिर्मय मण्डलसे ढका हुआ है। क्योंकि जिनका चित्त समाहित नहीं है यानी स्थिर तथा विशुद्ध नहीं है उन पुरुषोंके लिए यह अदृश्य है। हे भगवन्! वह आपका दुर्दर्श स्वरूप मैं देखना चाहता हूँ। ऐसी विनम्र प्रार्थनाके साथ परलोकप्रयाणेच्छु साधक निवेदन करता है कि शरीर-पात होनेपर मुझ अमृतरूप सत्यका जो प्राण है वह बाह्यवायुको प्राप्त हो जाय, तथा दूसरे देव अपने अपने मूलको प्राप्त हो जायँ और यह शरीर भस्म होकर पृथिवीमें मिल जाय। इस मन्त्रमें मनमें स्थित अपने संकल्पभूत अग्नि देवताकी प्रार्थना की गई है, जैसे—ॐ शब्द और क्रतु यह शब्द सम्बोधनके लिए है। अग्नि ॐकाररूप प्रतीकवाला होनेके कारण ॐ, तथा मनोमय होनेके कारण क्रतु है। हे ॐ! हे क्रतो! जो स्मरण करने योग्य है उसका स्मरण कर, अन्तकालमें तेरे स्मरणके अधीन ही इष्टगति प्राप्त की जाती है। अतः प्रार्थना है कि मैंने जो कुछ किया है उसे स्मरण कर। पुनरुक्ति आदरार्थ है। इस मन्त्रमें अग्निसे प्रार्थना की गई है कि वह मुझे दक्षिण यानी धूममार्गसे न ले जाय, किन्तु देवयानमार्गसे ही ले चले। मैं तेरी परिचर्या-सेवा करनेमें समर्थ नहीं हूँ, अतः अनेकों बार नमउक्ति है यानी नमस्कार-वचनोंका विधान है। अर्थात् और कुछ करनेमें असमर्थ होनेके कारण नमस्कारोक्ति द्वारा तेरी परिचर्या करता हूँ। इस मन्त्रकी पूरी व्याख्या ईशावास्योपनिषद्में की

जा चुकी है। यह मन्त्र आजकलके व्यवहार पर अच्छा प्रकाश डालता है। आजकल सचाईको, सच्चे व्यवहारको सोनेके आवरणने ढक रखा है। यानी रुपयेका बल ऐसा है कि उसने सच्चे लोगोंकी बातें जहाँ तहाँ जानेसे रोक रखी हैं। कोई चाहे कितना ही अनर्थ कर डाले, परवाह नहीं, हिरण्मयपात्र याने चाँदीके टुकड़े उसकी बुराईको कहीं भी बाहर जाने या फैलनेसे रोक लेंगे। राजाको रुपये देनेवाला सभी तरहकी सुविधाओंका पात्र है, अधिकारी पुरुषको सुवर्ण समर्पण करनेवाला वर्जितसे वर्जित कर्म करनेका अधिकारी हो जाता है। सोनेके पात्रने यानी द्रव्यने सचाईको दवा रखा है। इस मन्त्रसे विज्ञोंने यहां प्रार्थना की है कि धनसे सचाई छिप रही है, यदि वह आवरण दूर हो जाय तो मनुष्य सत्य प्रदीपके सहारेसे अपना कर्तव्य मार्ग देख लें। इस मन्त्रका आध्यात्मिक अर्थ पहले कहा ही है॥ १॥

पञ्चदश ब्राह्मण और पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

पहले कह आये हैं कि प्राण गायत्री है, सो इसमें भी प्राणकी उत्कृष्टता है, वागादिकी नहीं। इस कारण प्राण ज्येष्ठ श्रेष्ठ है, वागादि इसके पात्र नहीं हैं। प्राणमें ही ज्येष्ठता-श्रेष्ठता क्यों है ? अगले ग्रन्थसे इसका निश्चय करते हैं, यथा—

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है वह अपने सम्बन्धियोंमें ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ होता है, यानी ऐसा होकर अपने ज्ञातिजनोंमें मान पाता है। प्राण ही ज्येष्ठ श्रेष्ठ हैं। जो ऐसी उपासना करता है वह अपने संबन्धियोंमें तथा औरोंमें भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। जिस प्रकार प्राण सब इन्द्रियोंको बल देनेसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार प्राणकी तरह सबकी सहायता करनेवाला पुरुष भी अपने सम्बन्धीवर्गमें सम्मानको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—प्राणकी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता गर्भाधानके समय जानी जाती है। यद्यपि प्राण, इन्द्रिय, सभीका शुक्र और शोणितसे समान सम्बन्ध है तो भी बिना प्राणके शुक्रमें शरीरका अङ्कुर नहीं होता। इसीसे चक्षु आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षा प्राणको पहले वृत्तिलाभ होता है, अतः वायुके द्वारा प्राण श्रेष्ठ है। गर्भाधानके समयसे ही प्राण गर्भका पोषण करता है। प्राणके वृत्तियुक्त हो जानेके बाद चक्षु आदिको वृत्तिलाभ होता है। इस लिए चक्षु आदिकी अपेक्षा प्राण श्रेष्ठ है। जैसे अन्न पान भक्षण आदिके कारण नेत्र आदि इन्द्रियोंमें जो वृत्तिलाभ होता है उसका कारण

होनेसे प्राण श्रेष्ठ है, वैसे ही अन्य प्राणियोंका जीवन प्राणोंकी उपासना करनेवालेके अधीन है, इसीसे वह श्रेष्ठ है, आयुके कारण कोई श्रेष्ठ नहीं है ॥ १ ॥

इस समय प्राणके ही वसिष्ठत्व आदि पाँच गुण दिखानेके लिए पहले उनमेंसे प्रत्येकके क्रमसे वाक्, त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, मन और रेतके गुण कहते हैं, यथा—

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ २ ॥

भावार्थ—जो वसिष्ठाको जानता है वह सगे सम्बन्धियोंमें वसिष्ठ होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनों तथा दूसरोंमें भी वसिष्ठ होता है ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह वाणी ही वसिष्ठा है, यह अतिशयरूपसे वसाती है क्योंकि जो वाग्मी होते हैं, यानी अच्छे वक्ता होते हैं, वे धनवान् होनेके कारण अच्छी तरह निवास करते हैं। वाक्-कुशल लोग वाणीसे दूसरोंका पराभव कर देते हैं। जिसे युक्तियुक्त बोलना आता है, उसका सामना कोई नहीं कर सकता। वह सम्पत्तिवाला होकर आरामसे निवास करता है ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ—अवश्य ही चक्षु ही प्रतिष्ठा—श्रेष्ठ है। जो प्रतिष्ठाको जानता है वह सम देश कालमें प्रतिष्ठित होता है और उसी चक्षुसे विषम देशमें भी प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसी उपासना करता है वह सम-दुर्गममें प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो गुणवती प्रष्ठिताको जानता है, वह शान्तिके समय भी तथा दुर्गम्य देश एवं दुर्भिक्ष आदि कालोंमें भी प्रतिष्ठित होता है। यह नेत्र ही प्रतिष्ठा है, इसीसे निम्नोन्नत स्थान देखे जाते हैं ॥ ३ ॥

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ—निश्चय करके श्रोत्र ही सम्पत् है यानी ऐश्वर्य देनेवाला है। वह जिस भोगकी इच्छा करता है वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्रमें ही ये सब वेद सर्वप्रकारसे निष्पन्न हैं, क्योंकि सब वेदशास्त्र श्रोत्रद्वारा ही सुने जाते हैं, और धारण किये जाते हैं। जो ऐसी उपासना करता है वह जिस भोगकी इच्छा करता है वही उसे मिल जाता है यानी उसकी सब कामना पूर्ण हो जाती हैं, जिन्हें वह चाहता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—सम्पद् गुणवाला श्रोत्र इस प्रकार है—क्योंकि श्रोत्रके रहते ही वेदाध्ययन किया जा सकता है। भोग भी वेदविहित कर्मोंके ही अधीन हैं। जैसा विज्ञान होता है वैसा ही फल मिलता है। श्रोत्र सम्पद् है, अतः जो श्रोत्रकी सम्पत्तिको जानता है वह विभूतिमान्, सबका आश्रय हो जाता है ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो आयतनको जानता है वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य लोगोंका भी आयतन होता है। मन ही आयतन है। जो इस तरह मनको आयतन जानता है वह सम्बन्धियों तथा अन्य लोगोंका आयतन होता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—आयतन आश्रयको कहते हैं, वह आयतन मन है यानी इन्द्रिय और विषयोंका आश्रय है। मनके आश्रित ही विषय आत्माके भोग्यत्वको प्राप्त होते हैं। मनके सङ्कल्पके अधीन ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयमें प्रवृत्त निवृत्त होती हैं। जो ऐसी उपासना करता है वह सबका आयतन होता है अर्थात् जैसे मन इन्द्रियोंका सहायक है, उसी प्रकार वह पुरुष सबका सहायक और पूज्य होता है॥५॥

यो ह वै प्रजापतिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥

भावार्थ—जो कोई निश्चय करके प्रजापतिको जानता है, वह प्रजा और पशुओंसे सम्पन्न होता है। रेतस् ही प्रजापति है। जो ऐसा जानता है वह प्रजा और पशुओंसे सम्पन्न होता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ रेतस् शब्दसे प्रजननेन्द्रियका ग्रहण करना। रेतस

उसका उपलक्षक है। प्रकृतमें प्रजननेन्द्रियकी उपासनाका यह भाव है कि जो पुरुष सदा ब्रह्मचारी रहता है वह सब प्रकारकी विभूतियोंवाला हो जाता है। जो गृहस्थ है, संयमी रहता हुआ ऋतुगामी होता है, उसीके यहाँ उत्तम प्रजा और बलवान् होनेसे सब प्रकार की सम्पत्ति होती है। सदाचारीके पास ऐश्वर्य आता है और आया हुआ टिकता है। किन्तु जो दुराचारी है उसके समीप पहले तो सम्पत्ति आवेगी ही नहीं, यदि किसी पूर्वकृत पुण्यमहिमासे आ भी गई तो उसका संरक्षण नहीं किया जा सकता ॥ ६ ॥

उक्त वसिष्ठादि गुण प्राणमें ही हो सकते हैं, इसे दिखानेके लिए आख्यायिका का प्रारम्भ किया जाता है, यथा—

ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥ ७ ॥

भावार्थ—वे ये प्राण यानी इन्द्रियाँ 'सबमें मैं श्रेष्ठ हूँ' इस तरहका कलह करते हुए ब्रह्माके पास गईं और उनसे कहने लगीं, हममें कौन वसिष्ठ है ? उसने कहा—तुममेंसे जिसके निकल जानेपर यानी शरीरसे अलग हो जानेपर यह देह अपनेको अतिशय पापी मानता है वही तुममें वसिष्ठ है। यानी जिसके हट जानेपर शरीर अमङ्गलसा हो जाता है वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—वे सब इन्द्रियाँ अपनेको श्रेष्ठ बोधन करती हुई प्रजापतिके पास गईं। प्रजापतिने कहा—जिसके निकल जानेपर पहलेकी अपेक्षा शरीर अत्यन्त अपवित्र हो जाय, वही सर्वोपरि विराजमान है। यह स्मरण रखना चाहिये, अनेकों अपवित्र वस्तुओंका संघात होनेके कारण जीवित पुरुषका शरीर भी पापमय है, किन्तु जिसके उत्क्रमण करनेपर यह उससे भी अधिक दुर्दशाग्रस्त हो जाय वही तुममें वसिष्ठ होगा। शरीरकी अपवित्रतामें इतने हेतु शास्त्रकारोंने बतलाये हैं—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्पन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता अशुचिं विदुः ॥

अर्थात्—जिस जगहसे यह शरीर उत्पन्न हुआ है—सोचो, वह मातृकुक्षि कितनी गन्दी है ? एक तो यह हेतु इसकी अपवित्रता में है, दूसरा यह रजोवीर्य रूपी गंदे कारणोंवाला है, तीसरे यह हड्डी, रुधिर आदिके आधारपर टिका

हुआ है, ये चीजें कितनी गन्दी हैं। चौथे, इसमेंसे मल मूत्र आदि ही निकलता है। पाँचवे, मरनेपर कितना दुर्दशाग्रस्त हो जाता है, लाश तो मानो गन्दगीका ढेर है। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि इस शरीरको धो-धाकर साफ स्वच्छ रखना पड़ता है, अन्यथा दुर्गन्धित होने लगे। इतने तो सामान्य कारण हैं इस शरीरकी मलिनता में। ब्रह्माजीने इन्द्रियोंको यही कहा कि तुम्हारे बीच बड़ा वही माना जाना चाहिए, जिसके अभावमें यह अपवित्र शरीर किसी भी उपाय-उपचार-अनुष्ठान करनेपर पवित्र न रहे ॥ ७ ॥

ब्रह्माजीके ऐसे उत्तरको सुनकर प्राणोंने अपनी महिमाकी परीक्षा करनेके लिए क्रमशः उत्क्रमण करना आरम्भ किया, यथा—

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

भावार्थ—सबसे पहले वाणीने उत्क्रमण किया, यानी शरीररूपी स्थानको छोड़ा। वह एक वर्ष तक बाहर रहकर फिर लौट आयी और अन्य इन्द्रियोंसे कहा—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहीं? यह सुन उन्होंने उत्तर दिया कि जैसे मूक लोग वाणीसे न बोलते हुए भी प्राणोंसे जीवित रहते, चक्षुसे देखते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और उपस्थसे प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहीं। यह सुन वागिन्द्रिय अपनेको वसिष्ठ न समझकर शरीरमें प्रवेश कर अपना व्यापार करने लगी ॥ ८ ॥

ऐसे ही चक्षुका उत्क्रमण और फिर लौटना कहते हैं, यथा—

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

भावार्थ—वाणीके पुनः प्रवेशके बाद नेत्रेन्द्रिय शरीरसे उत्क्रमण कर एक

वर्ष पर्यन्त बाहर रहकर लौट आयी और बाकी इन्द्रियोंसे बोली कि तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहीं ? वे बोलीं—जिस प्रकार अन्धा मनुष्य नेत्रोंसे न देखते हुए प्राणसे प्राणन करता, वाणीसे बोलता, श्रोत्रसे सुनता, मनसे जानता और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करता हुआ जीवित रहता है, उसी प्रकार हम जीवित रहीं। यह सुन चक्षुने प्रवेश करके अपना काम आरम्भ किया, साथ ही वह यह भी समझ गयी कि मैं वसिष्ठ नहीं हूँ ॥ ९ ॥

फिर श्रोत्रका भी वैसा ही हाल हुआ, यथा—

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रोत्रने शरीरसे उत्क्रमण किया, फिर एक वर्ष बाहर रहकर वह फिर आ गया और शरीरमें प्रवेश कर अन्य साथी इन्द्रियोंसे बोला—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहीं ? यह सुन उन्होंने उत्तर दिया कि जिस प्रकार बहरा मनुष्य कानसे न सुनते हुए भी प्राणोंसे जीवित रहता, वाणीसे बोलता, आँखोंसे देखता, मनसे जानता और उपस्थसे प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहता है, उसी प्रकार हम भी जीवित रहीं। यह सुनकर श्रोत्र इन्द्रिय शरीरमें प्रवेश कर अपना काम करने लगी ॥ १० ॥

अब मनका उत्क्रमण कथन करते हैं, यथा—

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

भावार्थ—श्रोत्र अपने पुराने स्थानपर लौट आया तब मन शरीरसे निकल गया, वह एक वर्षके बाद लौटा। आकर अपनी साथी इन्द्रियोंसे पूछा कि तुम मेरे

बिना कैसे जीवित रहीं ? उन्होंने उत्तर दिया—जिस प्रकार मुग्ध यानी बिना मनके बालक आदि मनसे कुछ भी न समझते हुए प्राणसे जीवित रहते, वाणीसे बोलते, आँखोंसे देखते, कानोंसे सुनते और रेतस्से सन्तान उत्पन्न करते हुए जिन्दे रहते हैं उसी प्रकार हम भी रहीं। यह सुनकर मन अपने काममें लग गया ॥ ११ ॥

अब रेतस्का अभिमान भङ्ग दिखाते है, यथा—

रेतोहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनके अनन्तर प्रजननशक्ति उत्क्रमण कर एक वर्ष पर्यन्त बाहर रहकर लौट आई और अन्य इन्द्रियोंसे कहा—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहीं ? उन्होंने उत्तर दिया—जैसे नपुंसक लोग प्रजा न उत्पन्न करते हुए भी प्राणोंसे जीवित रहते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते और मनसे जानते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहीं। यह सुनकर रेतस्ने शरीरमें प्रवेश किया।१२।

वि० वि० भाष्य—वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन और रेतस् ये प्रधान नहीं हैं, क्योंकि इनमेंसे किसीके न रहनेपर भी शरीर नष्ट नहीं होता, न इनकी आपसमें ही कुछ हानि होती है। हाँ जिसके न रहनेसे इनकी स्थिति नहीं रह सकती, उस प्राणका आगे वर्णन किया जायगा ॥ ८-१२ ॥

अब प्राणकी सबमें श्रेष्ठता दिखाते हैं, यथा—

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर जब प्राण उत्क्रमण करने लगा तब जैसे सिन्धुदेशोद्भव बलवान् घोड़ा बाँधनेकी खूँटियोंको उखाड़ देता है, उसी प्रकार सब

इन्द्रियाँ अपने अपने स्थानोंसे चलायमान हो गईं। इसी स्थितिमें उन इन्द्रियोंने कहा—हे भगवन्, कृपा कर आप इस शरीरसे उत्क्रमण न करें, क्योंकि आपके बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकतीं। प्राणने कहा—अच्छा तुम मुझे भेंट दिया करो। इन्द्रियोंने 'तथास्तु' कहकर स्वीकार किया ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—यह प्राणसंवादरूप कल्पित आख्यायिका है। इससे विद्वान्को श्रेष्ठ पुरुषकी परीक्षा करनेके प्रकारका उपदेश दिया गया है। वास्तवमें श्रेष्ठ वही है जिसके रहनेसे दूसरोंका उपकार हो सके। यद्यपि लोक में जातिसे भी श्रेष्ठता मानी गई है, पर असल श्रेष्ठ वही है जो बहुतोंके हितसाधनमें समर्थ हो। उपनिषदोंमें प्राण की उपासना कही गई है, क्योंकि वह प्रधान है। प्राणकी उपासना यह है कि प्राणायामादि विधियोंसे प्राणको सबल—स्वच्छ बनाना, उसे महाप्राण बनाना। जो अल्पप्राण हैं वे कुछ नहीं कर सकते। सदाचारसे प्राणनशक्ति—जीवनी शक्ति प्राप्त होती है। पापसे प्राणोंकी जीवनसामर्थ्यका ह्रास हो जाता है अतः प्राणों को संभालो, इनको बचाओ, अपने एवं दूसरोंके प्राणोंको पूजो ॥ १३ ॥

अब प्रधान प्राणके लिए बलि प्रदानका वर्णन करते हैं, यथा—

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचा श्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध वागिन्द्रियने कहा कि हे प्राण, जो मैं वसिष्ठ हूँ, यानी शब्दार्थ प्रकाशरूप ऐश्वर्यवाली हूँ, उस ऐश्वर्यसे युक्त आप हों, क्योंकि आपकी

शक्तिके बिना मैं अपने व्यापारको नहीं कर सकती। चक्षुने कहा—हे भगवन्, जो रूपादि ग्रहण करनेकी मेरी प्रतिष्ठा है वह आपकी हो। श्रोत्रने कहा—प्रभो, जो मेरी श्रवण-सामर्थ्य है, वह आपकी महिमा है। मनने कहा—महात्मन्, जो मैं संकल्प विकल्पात्मक क्रियामें प्रवृत्त होकर रूपादि विषयोंके लिए इन्द्रियोंका सहायक होता हूँ, वह आपके साहाय्यका फल है। रेतस्ने कहा—मैं जो प्रजापति हूँ सो आप ही प्रजापतिसे युक्त हूँ। यह सुन प्राणने कहा—

मैं ऐसे गुणोंसे युक्त हूँ, ठीक है, पर मेरा अन्न क्या है और वस्त्र क्या है ? वागादि इन्द्रियोंने उत्तर दिया कि कुत्ते, कृमि तथा कीट, पतंग आदिसे लेकर यह जो कुछ भी है वह सब आपका अन्न है और जल ही वस्त्र है। जो इस प्रकार प्राणके अन्नको जानते हैं वे कभी अभक्ष्य भक्षण नहीं कर सकते। वे कभी भक्षणके लिए वर्जित पदार्थका संग्रह भी नहीं करते। ऐसा जो जानते हैं वे श्रोत्रिय भोजन करनेसे पहले आचमन करते हैं, और भोजनोत्तर भी वे आचमन करते हैं। वे इसीको उस प्राणका अनग्न करना मानते हैं, यानी वे समझते हैं कि हमने प्राणको नग्न होने नहीं दिया, उसे ढक दिया ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रथम बलि देनेमें प्रवृत्त वागादि इन्द्रियोंने प्राणसे कहा कि हम जो वसिष्ठ, श्रेष्ठ हैं उस वसिष्ठत्वादिरूप गुणसे तुम ही वह वसिष्ठादि हो। प्राणके अन्न वस्त्रके उत्तरमें दूसरी इन्द्रियोंने कह दिया कि जो कुछ भी कुत्ते, कृमि, कीट, पतङ्गोंका अन्न है उसके सहित प्राणियों द्वारा भक्षण किया जानेवाला जितना अन्न है, वह सभी तुम्हारा अन्न है। तात्पर्य यह है कि जब सब इन्द्रियोंने निरभिमान होकर अपने अपने ऐश्वर्यको प्राणके अर्पण कर दिया तब प्राणने इन्द्रियोंसे यह जानना चाहा कि मेरे लिए अन्न वस्त्रका क्या प्रबन्ध होगा ? इन्द्रियोंने उत्तर दिया कि यह जो कीट-पतङ्ग-पशु-पक्षी आदि चराचर हैं वे आपका अन्न हैं और जल वस्त्र है। क्योंकि विद्वान् लोग भोजनसे पहले और भोजनके बाद आचमन द्वारा अन्नका आच्छादन करते हैं। जो इस प्रकार प्राणके अन्न तथा वस्त्रको जानता है वह अन्नके दोषसे लिपायमान नहीं होता, यानी ऐसा पुरुष भक्ष्याभक्ष्यके विवेक द्वारा युक्ताहारविहारी होनेसे रोगार्त तथा धर्मसे च्युत नहीं होता। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में भी प्राणविद्याका अच्छा वर्णन आया है ॥ १४ ॥

——❀❀❀——

द्वितीय ब्राह्मण

अब श्वेतकेतुकी आख्यायिका द्वारा पञ्चाग्नि विद्याका कथन करते हैं, यथा—

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमारा ३ इति स भो ३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चाल देशकी सभामें आया। वह जीवलके पुत्र प्रवाहण राजाके पास पहुँचा जो सेवकोंसे सेवा करा रहा था। श्वेतकेतुको देखकर राजा प्रवाहणने कहा—'ओ कुमार !' वह बोला 'जी हाँ।' प्रवाहणने पूछा—क्या तुमको पिताजीने शिक्षा दी है, यानी तुम पिता द्वारा शिक्षित हो कि नहीं ? श्वेतकेतुने उत्तर दिया— ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—श्वेतकेतु अपने पितासे पढ़कर अपना यश फैलानेके लिए पाञ्चालोंकी सभामें गया था। यानी वह प्रवाहण राजाके समीप इस साहसपूर्वक आया कि इस सभामें ब्राह्मणोंको जीतकर राजाको भी परास्त करूँगा। क्योंकि पञ्चालदेशीय विद्वान् प्रसिद्ध हैं, इनको जीतनेसे मेरा नाम सर्वत्र प्रसिद्ध होगा।

'मैं सभा सहित राजाको जीत लूँगा' इस प्रकार वह गर्व करता हुआ वहाँ गया। राजाने पहलेसे ही उसके विद्याभिमानके गर्वके विषयमें सुन रखा था, इस लिए श्वेतकेतुको आता देखकर 'ओ कुमार !' इस प्रकार सम्बोधन करके पुकारनेमें राजाका अभिप्राय यह था कि इसे विनीत करना चाहिए। यहाँ पुकारनेमें 'कुमारा' यह प्लुत स्वर भर्त्सना यानी फटकारनेके लिए है। इस प्रकार पुकारे जाने पर श्वेतकेतुने 'जी हाँ' यह जो उत्तर दिया सो क्षत्रियके सामने 'जी' कहकर उत्तर देना उचित नहीं था, यह प्रत्युत्तर तो आचार्योंके समक्ष देने योग्य है। तो भी क्रुद्ध होकर उसने ऐसा कहा—क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है ? राजाके ऐसा पूछने पर श्वेतकेतुने उत्तर दिया कि पिताने मुझे शिक्षा दी है, आप चाहें तो पूछ सकते हैं। तात्पर्य यह है कि विद्याध्ययन करके मनुष्यको नम्र हो जाना चाहिए, उद्धतोंकी विद्या सफल होने नहीं पाती ॥ १ ॥

राजा श्वेतकेतुसे प्रश्न करते हैं कि यदि ऐसी बात है तो—

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यांꣳ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वाऽपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम् । द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥ २ ॥

भावार्थ—हे श्वेतकेतो, यहाँसे यह सब प्रजा मरने पर कहाँ जाती है, तू जानता है ? श्वेतकेतुने उत्तर दिया कि मैं नहीं जानता। फिर राजाने प्रश्न किया कि जो प्रजा पुनः लौटकर आती है उसको जानता है ? उसने कहा—मैं नहीं जानता। राजाने पूछा—इस प्रकार पुनः पुनः बहुतोंके मरकर जाने पर भी परलोक भरता नहीं है, इसे तू जानता है ? ऋषिकुमारने इसका उत्तर भी नहीं में दिया। राजाने पूछा—कितनी बार आहुतियोंसे हवन करने पर जल पुरुषरूप होकर पुनः वागादि व्यापार करते हैं, क्या इसे जानता है ? उसने कहा—नहीं। राजाने पूछा—देवयान मार्गके कर्मरूप साधनको अथवा पितृयान मार्गके कर्मरूप साधनको क्या तू जानता है, जिसे करके मनुष्य देवयानमार्गको प्राप्त होते हैं या पितृयानमार्गसे जाते हैं ? हमने तो मन्त्रका यह अर्थ सुना है कि एक मार्ग पितरों का है और दूसरा देवों का। इसमें ये दो मार्ग जो मनुष्योंसे सम्बन्ध रखते हैं, सुने हैं तथा ये मार्ग पिता और माताके बीच में हैं। यानी ये दोनों मार्ग द्यौ तथा पृथिवी लोकके मध्य वर्तमान हैं, जिनके द्वारा सब प्राणी एक स्थानसे दूसरे स्थान

को जाते हैं। इसका भाव यह है कि प्राणी एकके पश्चात् दूसरा जन्म ग्रहण करते हैं। यह सुन श्वेतकेतुने उत्तर दिया कि इन प्रश्नोंमें से एकका भी उत्तर मैं नहीं जानता ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—मनुष्यको यह कभी नहीं समझना चाहिये कि मैं सब कुछ जान गया। संसारमें मनुष्यका संबन्ध ज्ञानकी अपेक्षा अज्ञानसे अधिक है। यानी मनुष्य जानता कम है, इसमें अनजानपना ही बहुत है। माया अपार है, इसका पार पाना कठिन है। श्वेतकेतुको इस सर्वज्ञंमन्यताके कारण ही पाञ्चालोंकी सभामें निरुत्तर हो लज्जित होना पड़ा। श्वेतकेतुरूपी महापात्र विद्वत्तारूपी दुग्ध से परिपूर्ण है, किन्तु उसमें शास्त्राभिमानरूपी खटाईका सम्पर्क हो गया ॥ २ ॥

अपने पिताके पास जाकर श्वेतकेतुने जो उलाहना दिया उसे कहते हैं, यथा—

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳ होवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोच इति कथꣳ सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥ ३ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर जब श्वेतकेतुका विद्याभिमान कुछ कम हुआ तब उससे राजाने कहा—यहाँ ठहरिये। किन्तु वह कुमार वहाँ रहना स्वीकार न कर चल दिया। वह अपने पिताके पास आया और कहने लगा—आपने समावर्तन के समय मुझसे कहा था कि तुझे सब विषयोंकी शिक्षा दी गई है। यह सुन पिता बोला—हे सुन्दर धारणाशक्तिवाले पुत्र, क्या हुआ? पुत्रने कहा—मुझसे एक क्षत्रियबन्धुने पाँच प्रश्न पूछे थे, पर उनमें से मैं एकको भी नहीं जानता, यानी एकका भी जवाब न दे सका। पिताने पूछा—वे प्रश्न कौनसे थे? पुत्रने उन प्रश्नोंके प्रतीक बता दिये, यानी दिङ्मात्र कह सुनाया ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—राजाने जब यह समझ लिया कि ऋषिकुमारका विद्याभिमान टूट गया है, तब उससे कुछ दिन अपने यहाँ ठहर जाने की प्रार्थना की

और नौकरोंको आज्ञा दी कि ऋत्विके लिए सम्मान पूजाकी सामग्री लाओ। किन्तु राजाकी इस विनयपूर्वक की हुई ठहरनेकी प्रार्थना पर कुछ ध्यान न देकर श्वेतकेतु पिताके पास आ गया और पिताको उलाहना देते हुए, उसने पांचालोंकी सभामें किये गये प्रश्न और वहाँ निरुत्तर होनेका सब समाचार कह सुनाया। यानी पुत्रने पिताको सब वृत्तान्त सुनाते समय यह भी कहा कि एक क्षत्रियबन्धुने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे थे। यहाँ यह 'क्षत्रबन्धु' शब्द तिरस्कारसूचक है, इसका भाव यह है कि उस ब्राह्मणकुमारने पितासे यह कहा कि एक उद्धत ठाकुरने मुझसे ऐसा पूछा था॥ ३॥

अब पिता इस विषयमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर पुत्रको समझाकर राजा प्रवाहणके पास गया, यह कहते हैं, यथा—

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति॥ ४॥

भावार्थ—पिताने कहा—हे तात, मैं जो कुछ जानता था वह सब तेरे प्रति वर्णन किया, तू मेरे कथनानुसार ऐसा समझ। यदि मैं उक्त प्रश्नोंमें से किसीको जानता होता तो अवश्य तेरे प्रति कथन करता। आओ, अब हम दोनों चलें और वहीं विद्याके लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करेंगे। श्वेतकेतुने कहा—आप ही जाइए, मैं नहीं जाता। इसके अनन्तर गौतम वहाँ आया जहाँ जैवलि प्रवाहणका निवास था। राजाने सत्कारपूर्वक आसन देकर जल मँगवाया, उसको अर्घ्य दिया। इसके अनन्तर कहा कि हे गौतम, आप पूज्य हैं, मैं आपको वर देता हूँ, यथेच्छ माँगिये॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—क्रुद्ध पुत्रको पिताने यह कहकर शान्त किया कि जो कुछ विज्ञान मैं जानता था वह सब तुझे कह दिया था, क्या तुझसे अधिक मुझे कोई दूसरा प्रिय है जिसके लिए मैं कुछ छिपाकर रख छोड़ूँ? अब हम दोनों वहीं

जाकर राजासे पूछें। पुत्रने जाना स्वीकार न किया क्योंकि वह अपमानित हो गया था, अतः अकेला गौतम राजाके पास गया। राजाने उसका बड़ा सत्कार किया और कहा कि कहिये क्या चाहते हैं, मैं आप जैसे महात्माके लिए गौ अश्व आदि सब कुछ दे सकता हूँ ॥ ४ ॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥

भावार्थ—गौतमने कहा कि हे राजन्, आपने जो कुमारके सन्मुख पाँच प्रश्न किये थे, कृपा करके उनका उत्तर कथन करें, यही मेरा वर या प्रार्थना है। इस संवन्धमें मैं जानकार नहीं हूँ किन्तु जिज्ञासा है ॥ ५ ॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा प्रवाहणने कहा कि हे गौतम, आपने जो वर माँगा है वह देवताओंके लिए है, आप वह माँग सकते हो जो मनुष्योंसे सम्बन्ध रखता है। अर्थात् आप भोग्य पदार्थोंमें से कोई वर माँगो, त्रिद्वत्सम्बन्धी ज्ञेय पदार्थ न माँगो ॥६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिदानस्य मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥ ७ ॥

भावार्थ—ऐसा कहे जाने पर उस गौतमने कहा—आप जानते हैं कि मेरे पास हिरण्य, गौ, अश्व, दासियाँ और पहरने योग्य विविध वस्त्र इत्यादि सब प्रकारकी सामग्री और सम्पत्ति उपस्थित है। मुझे किसी प्रकारके मानुष वित्तकी इच्छा नहीं है। फिर आप देवसम्बन्धी वर देनेके लिए क्यों ननु नच करते हैं। यानी आप महान्, अनन्त और निःसीम धनके दाता होकर मेरे लिए अदाता क्यों होते हैं। यह सुनकर राजाने कहा—यदि ऐसा है तो अच्छा, हे गौतम, तुम शास्त्रविधिसे उसे पानेकी इच्छा करो, यानी शास्त्रमर्यादानुसार मेरे शिष्य बनकर विद्या सीखो।

गौतमने कहा—हाँ, मैं शिष्यके नियमको पूर्ण करूँगा। इस प्रकार वाणीमात्रसे शिष्यत्व स्वीकार करके गौतम वहाँ रहने लगा ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—गौतम ब्राह्मण था और प्रवाहण क्षत्रिय। आपत्तिके समय ब्राह्मण विद्याध्ययन करनेकी इच्छासे शास्त्रनियमसे क्षत्रियोंके शिष्य होते थे, कभी वैश्योंके भी। पर वे कथनमात्रसे ऐसा करते थे यानी 'मैं आपका शिष्य हूँ' बस, यह कह भर देते थे। किसी प्रकारकी भेट लेकर या शुश्रूषा द्वारा उनका शिष्यत्व स्वीकार नहीं करते थे। यहाँ गौतमने भी उपसत्तिके कथनमात्रसे ही वहाँ निवास किया। इस कथनका तात्पर्य यह है कि वैदिककालमें पढ़ानेका काम ब्राह्मणोंका ही था इसलिए विद्यामूलक गुरुशिष्यभाव उनमें ही अधिकतर था। उस समय ब्राह्मणोंका तपोबल ऊँचा था, उनका त्याग भी सर्वोपरि था, इसी कारण ब्राह्मणोंकी श्रेणी सब वर्णोंमें श्रेष्ठ मानी जाती थी। उनको क्षत्रिय तथा वैश्यादि सभी अपनेसे ऊँचा मानते थे, क्योंकि उनमें तप, त्यागका गुण ही ऐसा था जो भारतीय सभ्यतामें सबसे अधिक महत्त्व रखता है। ऐसा ब्राह्मण यदि किसी कारणवश क्षत्रिय आदिके पास कभी कुछ शिक्षा लेने जाता था तो अपनेसे तप, त्यागमें कम अथच केवल विद्याविशेषमें अधिक क्षत्रियादिकोंका वाणीमात्रसे शिष्य बनकर विद्या ग्रहण करता था। आचार्यसे नियमपूर्वक प्राप्त की हुई विद्या सफल होती है, इसीलिए ब्राह्मण क्षत्रियादिको कहने भरके लिए ही गुरु बनाता था। न तो उसकी सेवा करता था, न उसके समीप कुछ भेट ही ले जाता था।

पहले गुरुशुश्रूषासे या प्रचुर धन देनेसे अथवा अपनी विद्याके बदलेसे यानी तीन उपायोंसे विद्या प्राप्त की जाती थी, पर अब तो केवल धन रह गया है। आजकल जैसे भी हो विद्या अर्जन करनी चाहिये, फिर क्यों न इसके लिए किसी विजातीयकी सेवा-शुश्रूषा करनी पड़े ॥ ७ ॥

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

भावार्थ— गौतमके इस प्रकार आपदन्तर कहने पर राजाने कहा—हे गौतम, जिस प्रकार आपके पिता-पितामह हमारे बड़ोंको क्षमा प्रदान करते आये हैं, उसी प्रकार

मैं भी आपसे क्षमाका प्रार्थी हूँ। आप जानते हैं कि इससे पहले यह विद्या किसी ब्राह्मणके यहाँ नहीं रही, इसे मैं आपको ही प्रथम कहता हूँ। भला आपके सदृश विनीत बोलनेवालेको कोई विद्या देनेसे निषेध कर सकता है? कभी नहीं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले आपदन्तर शब्द आया है। इसका अर्थ आपत्तिकाल है। राजाने कहा कि हे गौतम, आप जानते हैं कि इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मणको प्राप्त नहीं थी, किन्तु परंपरासे इसकी स्थिति क्षत्रियोंमें ही रही है। जहाँ तक हो सके उस स्थितिकी रक्षा मुझे भी करनी चाहिये थी, सो इसी मर्यादाको स्थिर रखनेके लिए मैंने आपसे कहा था कि दैव यानी आध्यात्मिक वर न माँगकर मानुष सम्पत्तिका ही ग्रहण करें। किन्तु आपका सौजन्य देखकर मैं आपको अभीष्ट विद्या प्रदान करनेको उद्यत हूँ।

यहाँ शंका होती है कि जब राजा प्रवाहण यह जानता था कि इस विद्याको श्वेतकेतु नहीं जानता है, यही नहीं बल्कि उसका जानना भी असम्भव था, क्योंकि यह विद्या केवल क्षत्रियोंके ही पास थी, ब्राह्मणोंके पास नहीं। तो फिर राजा प्रवाहणने श्वेतकेतुको एतद्विद्याविषयक प्रश्न पूछकर क्यों अपमानित किया? क्या इससे राजाके गाम्भीर्य गुणको आँच नहीं आती? उत्तर यह है—राजाको एतद्विद्याविषयक प्रश्न अपनी भरी सभामें किसी आगन्तुक ब्राह्मणसे नहीं पूछना चाहिये था, पर क्या किया जाय, परिस्थिति ही ऐसी आ गई थी। उस राजाको शासन करनेका अधिकार था, उधर ऋषिकुमारको विद्याके गर्वका ज्वर चढ़ा हुआ था, वह मारे अभिमानकी अकड़के किसी दूसरेको कुछ गिनता ही नहीं था। राजाने उसका मद चूर्ण करनेके लिए ऐसे अप्रसिद्ध प्रश्न पूछे। राजाका ऋषिकुमारके अपमानमें तात्पर्य नहीं था, राजा तो उसके उस दोषको दूर करना चाहता था, जिससे वह पद पद पर अपमानित होता। श्वेतकेतुका पिता नम्र था अतः उसको राजाने वह सब कुछ बता दिया जो वह जानना चाहता था ॥ ८ ॥

अब क्रमभंग करके पहले चौथे प्रश्नका निर्णय इस लिए किया जाता है कि इस प्रश्नके निर्णयके अधीन अन्य प्रश्नोंका निर्णय है, यथा—

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥ ९ ॥

भावार्थ—निश्चय करके हे गौतम, प्रसिद्ध द्युलोक ही आहवनीय अग्नि है। उसका आदित्य ही समिध् यानी ईंधन है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है। दिशाएँ अङ्गार हैं, एवं मध्यकी उपदिशाएँ चिनगारियाँ हैं। इस अग्निमें देवता लोग श्रद्धाका हवन करते हैं। फिर उस आहुतिसे सोम उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम, यह द्युलोक अग्नि है। अग्निको दीप्त करता है, इससे आदित्य इसका ईंधन है। किरणें धूम हैं, जैसे लोकमें ईंधनसे धूआँ निकलता है, उसी तरह आदित्यसे किरणें निकलती हैं। प्रकाशमें बराबरी होनेके कारण दिन ज्वाला है। उपशममें समानता होनेसे दिशाएँ अङ्गार हैं। अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं, क्योंकि ये स्फुलिङ्गोंके समान बिखरी रहती हैं। उक्त गुणोंसे युक्त इस द्युलोकरूप अग्निमें इन्द्रादि देवगण आहुतिद्रव्यस्थानीय श्रद्धाका हवन करते हैं। उस आहुतिसे पितरों और ब्राह्मणोंका राजा सोम उत्पन्न होता है। शरीरका आरम्भ कर्मप्रयुक्त ही है और कर्म अप् यानी जलसे सम्बन्ध रखता है, अतः शरीररचनामें अप्की प्रधानता है।

क्रम भंग करके इस मन्त्रमें चतुर्थ प्रश्नका उत्तर पहले इस अभिप्राय से दिया गया है कि शेष प्रश्नोंका निर्णय इस प्रश्नके अधीन है, क्योंकि इसमें पाँचवी आहुतिद्वारा जीवकी उत्पत्तिका प्रकार कथन किया गया है। इसी भावको स्फुट करनेके लिए द्युलोकादिको अग्न्यादिरूपसे वर्णन किया गया है। यह पञ्चाग्निविद्याका वर्णन पिछली उपनिषद्में भी आया है ॥ ९ ॥

अब द्वितीय पर्जन्याग्निका वर्णन करते हैं, यथा—

पर्जन्यो वाग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥ १० ॥

भावार्थ—हे गौतम, निश्चय करके मेघ ही अग्नि है, संवत्सर ही उसकी समिधा है, अभ्र यानी बादल धूम है, बिजली ज्वाला है, इन्द्रका वज्र अङ्गार है एवं मेघगर्जन विस्फुलिङ्ग है। इस पर्जन्यरूप अग्निमें देवता लोग सोम राजाका हवन करते हैं, उस आहुतिसे वर्षा होती है ॥ १० ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—मेघरूप अग्निकी संवत्सर लकड़ी है, क्योंकि शरत्से लेकर ग्रीष्मपर्यन्त अपने अंशों द्वारा विभिन्नरूपसे परिवर्तित होते हुए संवत्सरके द्वारा ही मेघरूप अग्नि दीप्त होती है। अभ्र धूम है, यहाँ मेघ और अभ्र दोनों एक ही नहीं हैं, मेघ नाम है वृष्टिकी सामग्रीके अभिमानी देवताका और अभ्र नाम है बादलका। धूमके समान दिखाई देनेसे अभ्रको धूम कहा गया है। प्रकाश में समानता होनेके कारण विद्युत् ज्वाला है। अशनि अङ्गारे हैं, क्योंकि वे उपशान्तत्व तथा कठिनतामें समान हैं। विक्षेप और अनेकत्वमें समानता होनेके कारण मेघकी गर्जनाएँ विस्फुलिङ्ग हैं। मेघमें सोमकी आहुतिसे वृष्टि होती है ॥ १० ॥

अब तीसरी इहलोकाग्निका वर्णन करते हैं, यथा—

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्नि-र्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्त-स्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे गौतम, निश्चय करके यह प्रसिद्ध भूलोक ही अग्नि है, इसकी पृथिवी ही समिधा है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवतागण वृष्टिरूप आहुति देते हैं, उस आहुतिसे अन्न उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—प्राणियोंके जन्म और उपभोगका आश्रय तथा क्रिया, कारक और फलसे युक्त ऐसा जो यह लोक है वही तृतीय अग्नि है। उसकी पृथिवी समिधा है, प्राणियोंके अनेकों उपभोगोंसे सम्पन्न इस पृथिवीसे ही यह लोक दीप्त होता है। अग्नि धूम है, क्योंकि पृथिवीरूप आश्रयसे उठनेमें इसकी समानता है। बात यह है कि पार्थिव ईंधनद्रव्यको आश्रय करके ही अग्नि उठती है, जैसे लकड़ीसे धूआँ उठता है। समिधाके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेमें रात्रि तथा ज्वालामें समानता है क्योंकि अग्निमें लकड़ीका सम्बन्ध होनेसे ही ज्वाला उत्पन्न होती है। पृथिवीकी छायाको ही रात्रिका अन्धकार कहते हैं। ज्वालासे उत्पन्न होनेमें चन्द्रमा अङ्गारके समान है। ज्वालासे ही अङ्गार होते हैं, इसी प्रकार रात्रिमें से चन्द्रमा होता है। नक्षत्र इधर उधर बिखरे रहते हैं, अतः वे विस्फुलिङ्गके समान हैं। इसमें वृष्टिका होम करनेसे अन्न उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

अब चौथी पुरुषाग्निका वर्णन करते हैं, यथा—

पुरुषो वाऽग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥ १२ ॥

भावार्थ—हे गौतम, निश्चय करके यह पुरुष ही अग्नि है, उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है, प्राण धूम है, वाणी ज्वाला है, आँखें अङ्गार हैं और श्रोत्र स्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवगण अन्नको होमते हैं, उस आहुतिसे वीर्य होता है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—हे पुरुष ही अग्नि है, वह पुरुष जो हाथ-पाँव आदि अवयवोंवाला है चतुर्थ अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख समिधा है, क्योंकि खुले हुए मुखसे ही बोलने और स्वाध्यायादिसे पुरुष दीप्त होता है, जैसे काष्ठसे अग्नि। ईंधनसे उठनेवाले धूमकी प्राणसे समानता है, क्योंकि मुखसे ही प्राण निकलता है। व्यञ्जकतामें तुल्यता होनेसे वाक् ज्वाला है। जिस प्रकार ज्वाला वस्तुको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार वाक् भी वाच्यको अभिव्यक्त करनेवाली होती है। प्रकाशके आश्रय होनेके कारण नेत्र अंगार हैं, विक्षेपमें समानता होनेके कारण श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस पुरुषरूप अग्निमें अन्न होम किया जाता है। उस आहुतिसे वीर्य होता है, क्योंकि वीर्य अन्नका ही परिणाम है ॥ १२ ॥

अब पाँचवीं योषाग्निका वर्णन किया जाता है, यथा—

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥१३॥

भावार्थ—हे गौतम, यह स्त्री ही प्रसिद्ध अग्नि है, उपस्थ ही उसकी समिधा है, लोम धूम है, योनि ज्वाला है, जो अन्तर्गमन है वह अङ्गार है, आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग है। इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं। उस आहुतिसे मनुष्यकी उत्पत्ति होती है। वह जीवित रहता है, वह जब तक कर्म शेष रहते हैं, तब तक जीता रहता है, फिर कर्मोंके फलोपभोगानन्तर मर जाता है ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम, स्त्री यह पाँचवी होमाधिकरणरूप अग्नि है, उसका उपस्थ ही समिधा है, उसीसे वह दीप्त होती हैं। समिधसे उत्पन्न होनेके कारण लोम और धूमकी समानता है, वर्णमें समानता होनेके कारण योनि ज्वाला है। पति-पत्नी संयोग ही अङ्गार है, क्योंकि वीर्यके उपशमहेतु होनेमें उनकी समानता है। क्षुद्रत्वमें समानता होनेके कारण अभिनन्द-लेशमात्रसुख विस्फुलिङ्ग है। वहाँ पर देवगण वीर्यका होम करते हैं, उस आहुतिसे पुरुष उत्पन्न होता है।

इस प्रकार द्युलोक, मेघ, इहलोक, पुरुष और स्त्रीरूप अग्नियोंमें क्रमसे हवन किये गये श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्यरूपसे स्थूल तारतम्य क्रमको प्राप्त हुआ श्रद्धापदवाच्य आप (जल) पुरुषशरीरको आरम्भ करता है। पहले "क्या तू जानता है कि कितनी संख्यामें हवन किये जाने पर आप पुरुषशब्दवाच्य होकर उठकर बोलता है ?" यह चतुर्थ प्रश्न था, उसका निर्णय हो गया कि योषाग्निमें पाँचवीं आहुतिके हवन किये जाने पर वीर्यभूत आप पुरुषशब्दवाच्य होता है। जब तक इस शरीरमें इसकी स्थितिके निमित्तभूत कर्म रहते हैं, तबतक जीवित रहता है, फिर उनका क्षय होने पर वह मर जाता है।

कोई विद्वान् इस मन्त्रकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—निश्चय करके यह प्रकृति ही अग्नि है, उसका सङ्गरूप आसक्ति ही समिधा है, जो रजोगुणके भावोंसे अपनी ओर खींचना है वही धूम है, कारणता ज्वाला है, जो अपने भीतर पुरुषको आसक्त करना है वही अङ्गार है, और प्राकृत आनन्द ही विस्फुलिङ्ग है। इस अग्निमें देवता वीर्यकी आहुति देते हैं, जिससे पुरुष उत्पन्न होता है और वह अपने कर्म फलपर्यन्त उपभोग करके पश्चात् मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

अब प्रथम प्रश्नका उत्तर देते हैं, यथा—

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥ १४ ॥

भावार्थ—इसके बाद यानी मरणानन्तर इसे अग्निके पास ले जाते हैं, उसका अग्नि ही अग्नि होता है, समिधा समिधा होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अङ्गारे अङ्गारे होते हैं, और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं। इस

अग्निमें देवगण पुरुषको होमते हैं। उस आहुतिमें पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् होता है ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—मृत पुरुषको अग्निके ही लिए अन्तिम आहुतिके प्रयोजनसे ऋत्विग्गण ले जाते हैं। वहाँ उसके लिए भौतिक अग्नि ही होमाधिकरण होता है, कोई कल्पित अग्नि नहीं, ऐसे ही प्रसिद्ध समिधादि ही समिधादि होते हैं। तात्पर्य यह कि ये सब जैसे प्रसिद्ध हैं वे ही होते हैं। उस आहुतिसे पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् होता है, यानी वह गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिसंस्कार पर्यन्त कर्मों द्वारा संस्कृत होनेके कारण देदीप्यमान होता है ॥ १४ ॥

अब प्रथम तथा पाँचवें प्रश्नका उत्तर देते हुए देवयान मार्गका वर्णन करते हैं—

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

भावार्थ—वे जो इस प्रकार इसको जानते हैं तथा जो वनमें श्रद्धालु होकर सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिमार्गको प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्ल पक्षको, शुक्ल पक्षसे उत्तरायणको, उत्तरायणसे देवलोकको, देवलोकसे आदित्यको तथा आदित्यसे वैद्युतलोक को प्राप्त होते हैं। और फिर इनको ब्रह्मलोक प्राप्त होकर पुनरावर्तन नहीं होता है ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—जो गृहस्थाश्रमी लोग इस प्रकार अग्नि, समिध्, धूम, ज्वाला, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और श्रद्धादिविशिष्ट पञ्चाग्निविद्याको जानते हैं और इसी प्रकार जो संन्यासी या वानप्रस्थ वनवासी श्रद्धायुक्त होकर सत्य-ब्रह्मकी यानी हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं, वे ज्योतिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं। उनसे दिनके अभिमानी देवताओंको, उनसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको, उससे जिन छः महीनोंमें सूर्य भगवान् उत्तरायण हो जाते हैं उन उत्तरायणके छः मासोंके

अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं। षण्मासाभिमानी देवताओंसे देवलोकको, देवलोकसे आदित्यको और आदित्यसे विद्युत्सम्बन्धी देवताओंको प्राप्त होते हैं। उन वैद्युतदेवोंके पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाता है। ये उन ब्रह्मलोकोंमें अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहते हैं। इनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

जब तक गृहस्थ लोग पञ्चाग्निविद्या अथवा सत्य ब्रह्मको नहीं जानते तब तक वे श्रद्धादि आहुतियोंके क्रमसे पाँचवीं आहुतिके हवन किये जाने पर उससे स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होकर फिर लोकमें उत्थान करनेवाले होकर अग्निहोत्रादि कर्मका अनुष्ठान करनेवाले होते हैं। उस कर्मके द्वारा वे धूमादि क्रमसे पुनः पितृलोकमें जाते हैं और पर्जन्यादि क्रमसे पुनः इस लोकमें लौटते हैं। उसमें पुनः स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होकर फिर कर्म करके पितृलोकमें जाते हैं। इस प्रकार घटीयन्त्र (रहट) के समान गमनागमन द्वारा आते जाते रहते हैं। किन्तु जब वे ऐसा जानते हैं तो इस घटीयन्त्रके समान चक्कर काटनेसे छूटकर अर्चिमार्गको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

अब द्वितीय तथा तृतीय पक्षका उत्तर देते हुए पितृयान मार्गका कथन करते हैं, यथा—

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥१६॥

भावार्थ—जो यज्ञ, दान तथा तपका अनुष्ठान करते हैं, वे धूमको यानी धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। इसी तरह धूमसे रात्रिदेवताको, रात्रिसे अपक्षीयमाण यानी कृष्णपक्षाभिमानी देवताको, कृष्ण पक्षसे जिन छै महीनोंमें सूर्य दक्षिणकी ओर होकर गमन करता है उन छै मासके अभिमानी देवताको, छै माससे पितृलोकको और पितृलोकसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। चन्द्रमामें पहुँचकर ये अन्न हो जाते हैं वहाँ जैसे ऋत्विग् लोग सोमको चमसमें धरकर पी जाते हैं उसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं। जब उनके पुण्य क्षय हो जाते हैं तो वे इस आकाश को ही प्राप्त होते हैं। फिर आकाशसे वायुको, वायुसे वर्षाको और वर्षासे पृथिवी-को प्राप्त होते हैं। उसको प्राप्त होकर वे अन्न हो जाते हैं। फिर उनका पुरुष अग्निमें हवन किया जाता है। फिर पुरुषरूप अग्निमें आहुतिरूप होकर स्त्रीरूप अग्निसे पुनः इसलोकको प्राप्त होते हैं। वे इसी प्रकार बार बार अदल बदल होते रहते हैं। जो इन दोनों मार्गोंको नहीं जानते वे कीट, पतङ्ग, मक्खी, मच्छर आदि होते हैं॥ १६॥

वि० वि० भाष्य—जो उत्तर या दक्षिण इन दोनों ही मार्गोंको नहीं जानते यानी उत्तर अथवा दक्षिण मार्गकी प्राप्तिके लिए ज्ञान अथवा कर्मका अनुष्ठान नहीं करते वे कीट, पतङ्ग, और डाँस, मच्छर आदि योनियोंमें पड़ते हैं। इस प्रकार यह संसारगति बड़ी कष्टमय है। इसमें डूबेहुए का पुनः उद्धार होना ही दुर्लभ है। कर्मों द्वारा उत्तमोत्तमलोक यानी वहाँ होनेवाले भोग्य पदार्थोंकी प्राप्ति होती है पर अन्तमें इनका भी क्षय हो जाता है। अविनाशी सुख तो ब्रह्मात्मैक्यज्ञान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

कोई कोई विद्वान् इस प्रकरणका यह तात्पर्य बताते हैं कि यहाँ देवयान तथा पितृयान मार्गका यह भाव है कि जो लोग परमात्मपरायण होकर अरण्यमें श्रद्धा भक्तिसे परमात्माकी उपासना करते हैं वे अर्चिके समान प्रकाशमान होकर पुनः आदित्यके तुल्य प्रकाशको प्राप्त होते हैं। एवं उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशको पाकर मुक्तिको प्राप्त हो परान्तकालतक वहीं रहते हैं। उनका फिर पुनरावर्तन नहीं होता। जो उक्तमार्गसे भिन्न रागद्वेषपूर्वक लोकोंका विजय करना चाहते हैं वे पहले धूम जैसी अवस्थाको और फिर रात्रि जैसी अवस्थाको प्राप्त होते हैं, एवं उत्तरोत्तर क्षीणा-वस्थाको प्राप्त होकर कीट पतंगादि योनियोंमें जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि परमात्मविषयक उपासनादि साधनोंसे जो ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं उसका नाम 'देवयान' है और जो यज्ञादिकों द्वारा सांसारिक भोग-

प्राप्तिको ही मुख्य मानते हैं वे बारंबार जन्म मरणको प्राप्त होते हैं, इसका नाम 'पितृयान' है। यह मार्ग यानी पितृलोक केवल जन्मका ही साधन है। इस व्याख्यानकी चर्चा भाष्यकारने नहीं की है अतः यह कहाँ तक प्रामाणिक है, इसका विज्ञ स्वयं विचार कर लें।

तृतीय ब्राह्मण

ज्ञान तो स्वतन्त्र है, किन्तु कर्म दैव और मनुष्य इन दो वित्तोंके अधीन है। कर्मके लिए जो प्रत्यवाय न करनेवाला हो ऐसे मार्गसे वित्त उपार्जन करना चाहिये। अतः उसकी महत्त्व प्राप्तिके लिए वह मन्थन कर्म आरम्भ किया जाता है जिससे वित्तकी स्वतः सिद्धि हो सके, जैसे कि कहते हैं—

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति। यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ स्वाहा ॥ १ ॥

भावार्थ—जो महत्त्व प्राप्तिकी इच्छा करता है, वह उत्तरायणमें शुक्ल पक्षकी पवित्र तिथिको बारह दिनों तक पयोव्रती होकर गूलरकी लकड़ीके प्याले या चम्मचमें सभी ओषधियाँ, फल और दूसरी सामग्रियोंको इकट्ठी कर ले। हवन करनेवाली जगहको कुशोंसे बुहार तथा वेदीको गोबर-जलसे लीपकर अग्नि स्थापन करे।

इसके अनन्तर अग्निके चारों तरफ कुशा बिछाकर गृह्यसूत्रोक्त प्रकारसे घृतका संस्कार कर हस्त आदि पुंल्लिङ्ग नक्षत्रमें मन्थनको अपने और अग्निके बीचमें रखकर हवन करे। उस समय हवन करनेवाला उक्त दो मन्त्रोंसे जैसे—

१—'यावन्तो देवास्त्वपि ·····कामस्तर्पयन्तु स्वाहा।'

२—'यातिरश्ची······राधनीमहꣳ स्वाहा।'

इन मन्त्रोंका अर्थ यह है—हे जातवेदः, तेरे अधीन जितने देवगण कुटिलता युक्त होकर मनुष्यकी अभिलाषाओंको पूर्ण नहीं होने देते, उनको उद्देश्य करके यह आज्यभाग मैं तुझमें हवन करता हूँ, वे तृप्त होकर, मेरी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी करके मुझे तृप्त करें। स्वाहा, यानी ऐसा कहकर आहुति डाले। दूसरे मन्त्रका अर्थ मेरे अधीन सबकी मृत्यु है, ऐसे विचारसे जो कुटिलबुद्धि देवता तेरे सहारे रहता है, सम्पूर्ण साधनोंको पूरा करनेमें समर्थ उस देवताके लिए मैं घृतकी धारासे यज्ञ करता हूँ, यानी उसको यह स्वाहाकार है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—जो विद्यार्थी 'मैं महत्त्वको प्राप्त करूँ, ऐसी कामना करता है यानी उच्च गतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है, उस पुरुषके लिए कर्तव्य है कि वह उत्तरायण शुक्लपक्षके किसी पवित्र दिनमें बारह दिन तक केवल दूध तथा दुग्धमिश्रित पदार्थोंका ही सेवन करे और गूलर अथवा कांसेके चमसपात्रमें सब ओषधियों तथा सब फलोंको रखकर फिर वेदीको लीपकर अग्न्याधान करे। तदनन्तर वेदीके चारों ओर कुश बिछाकर घृतका संस्कार कर शुभ पुरुष-नक्षत्रमें होम करे। इसमें हवनकी सब सामग्री तथा ओषधियाँ पृथक् पृथक् स्थानमें रखकर प्रथम यह प्रार्थना करे—हे जातवेदः, जो दैवी यानी प्राकृतशक्तियाँ पुरुषकी कामनाओंका हनन करती हैं, उनके लिए आहुति देते हैं कि वे अनुकूल होकर हमारी तृप्तिका साधन बनें उन सबको हम घृतकी धारासंयुक्त हवनसे तृप्त करें ताकि स्वाहा यानी यह विचार शुभ हो। उक्त सम्पूर्ण ओषधियोंके पिष्टपिण्डको यानी मन्थको उस औदुम्बर चमसमें दही मधु और घृतमें डालकर एक मथानीसे मथकर फिर अपने और अग्निके मध्यमें रखे, फिर गूलरके स्रुवासे आवापस्थानमें घृतसे हवन करे॥ १॥

अब इन्द्रियोंकी शुद्धिके उद्देश्यसे हवनके मन्त्र कहते हैं, यथा—

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा

मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ २ ॥

भावार्थ—'ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा' (जो सबसे बड़ा और मान्य है उसको स्वाहा यानी आहुति अर्पण है) इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको यानी स्रुवेमें रहे अवशिष्ट घीको मन्थमें यानी घोलमें डाले। 'प्राणाय स्वाहा वसिष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाले। 'वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके घृतको पिष्ट-पिण्डमें डाले। 'चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें आहुति प्रदान करके अवशिष्ट आज्यको मन्थमें डाले। 'श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाले। 'मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें आहुति डालकर घृतको पिष्टपिण्डमें डाले। 'रेतसे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाले या मन्थमें डाल देता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो सबसे बड़ा तथा श्रेष्ठ प्राण है, वह हमारा कल्याण साधन करे, जो साधारण प्राण है, उससे भी हम मङ्गलकी कामना करते हैं। इसी प्रकार वाणी, प्रतिष्ठा, चक्षु, सम्पत्, मन तथा प्रजाति ये सब हमारे लिए मङ्गलकारी हों। इस उद्देश्यसे 'ज्येष्ठाय स्वाहा' इत्यादि पढ़कर अग्निमें आहुति दे और शेष बचे हुए आज्य भागको मन्थमें डाले। इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंको पढ़कर भी पूर्ववत् आहुति डाले ॥ २ ॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ

हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूर्भुवःस्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ ३ ॥

भावार्थ—'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाले। 'सोमाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाले। 'भूः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके बाकी बचे घृतको पिण्डमें डाले। 'भुवः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाले। 'स्वः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके अवशिष्ट आज्यको मन्थमें डाल दे। 'ब्रह्मणे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाले 'क्षत्राय स्वाहा' यह वचन कहकर अग्निमें आहुति देकर आज्य को पिष्टपिण्डमें डाले। 'भूताय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें आहुति प्रक्षिप्त करके आज्यको मन्थमें डाले। 'भविष्यते स्वाहा' इस मन्त्रका उच्चारण करके अग्निमें आहुति दे अनन्तर संस्रवको मन्थमें डाल दे। 'विश्वाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें आहुति डालकर संस्रवको मन्थमें डाले। 'सर्वाय स्वाहा' यह मन्त्र उच्चारण करके अग्निमें आहुति दे, अनन्तर संस्रवको मन्थमें डाल दे। 'प्रजापतये स्वाहा' इस मन्त्रका उच्चारण कर अग्निमें आहुति डालकर अवशिष्ट घृतको पिष्टपिण्डमें डाले या डाल देता है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—'ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा' यहाँसे लेकर दो दो आहुतियोंका हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है, यानी स्रुवासे लगे हुए घृतको मन्थमें गिरा देनेकी यह विधि है। भाष्यकार कहते हैं कि इस 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय'

इत्यादि प्राणके लिङ्गसे ही यह निश्चय हो जता है कि इस कर्मविधानमें ज्येष्ठ श्रेष्ठादि रूप प्राणोपासकका ही अधिकार है। 'रेतसे स्वाहा' यहाँसे लेकर एक एक आहुति हवन करके संस्रवको मन्थमें डालता है। फिर दूसरी उपमथानीसे उसका मन्थन करता है। भाव यह है कि ब्रह्म, क्षत्र, भूत, विश्व, सर्व, प्रजापति इत्यादिकोंके उद्देश्यसे आहुति दे और शेष भाग मन्थमें डाले ॥ २-३ ॥

अब उक्त मन्थका अभिमर्शपूर्वक महत्त्व कथन करते हैं, यथा—

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे मन्थ, तू वायुके तुल्य गतिशील, अग्निके सदृश तेजस्वी, ब्रह्मके समान सर्वत्र पूर्ण, आकाशके समान स्थिर और पृथिवीके समान अन्य कर्मोंका आधार है। तू प्रस्तोतासे स्तुति किया जाता है, उद्गातासे गाया जाता है, और अध्वर्युसे सुनाया जाता है। तू आग्नीध्रसे प्रशंसा किया जाता है। तू बिजलीके समान चमकीला है। तू भूतोंका प्राणप्रद होनेके कारण अन्न और अनधिकारियोंके लिए प्रलयस्थान यानी मृत्यु है। अधिक क्या कहें तू संवर्ग है, यानी अपनेमें सब गुण रखनेवाला है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—कुछ कर्म करनेके अनन्तर 'भ्रमदसि' इस मन्त्रसे मन्थका स्पर्श किया जाता है। प्रकृत मन्त्रका अक्षरार्थ इस प्रकार समझना चाहिये—यह जो मन्थ है सो प्राणात्मा होनेके कारण सभी शरीरोंमें घूमता रहता है। अग्निरूपसे सब जगह देदीप्यमान हो रहा है, ब्रह्मकी तरह परिपूर्ण है। आकाशरूपसे कम्प आदिकोंसे रहित है। किसीका भी विरोधी न होनेसे तू यह अखिल विश्वरूप एक सभाके समान है। यज्ञारम्भमें प्रस्तोताकथित हिङ्कृत तू ही है। उसी प्रस्तोता द्वारा यज्ञमें हिङ्क्रियमाण तू ही है। तू ही यज्ञारम्भमें उच्चस्वरसे उद्गाता गान किया गया उद्गीथ है। तू ही यज्ञके मध्यमें उसके द्वारा उद्गीयमान है। अध्वर्यु द्वारा श्रावित तथा आग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावित तू ही है। तू मेघमें स्पष्ट प्रकाश-

मान है। तू विविध धारणकर्ता है। तू समर्थ है। तू भोक्ता अग्निरूपसे ज्योति है। कारणरूपसे सबका प्रलयस्थान है और सर्वसंहारी होनेसे तू संवर्ग है।

पहले कहा गया है कि 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रसे इस मन्थका स्पर्श करना चाहिये। इस मन्त्रमें मन्थकी प्रशंसा की गई है, वह इस तात्पर्यसे की गई है कि मन्थ यज्ञका शेष होनेसे उत्तम पदार्थ है, जो मनुष्य यज्ञ करता है वही इस उत्तम पदार्थको पाता है, अन्य नहीं। इसलिए प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह यज्ञ द्वारा इस उत्तम पदार्थको उपलब्ध कर अपने जीवनको सफल बनावे ॥ ४ ॥

स्तुतिपूर्वक मन्थपात्रका उठाना कहते हैं, जैसे—

अथैनमुद्यच्छत्याम७ँ स्याम७ँ हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स मा७ँ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

भावार्थ—'अमंसि' यानी तू जानता है, मुझे तेरा माहात्म्य अच्छी रीतिसे मालूम है, यह प्राण राजा ईशान तथा अधिपति है। वह मुझे राजा, ईशान और अध्यक्ष बनावे ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—वह हम सबका राजा, ईशान यानी शासनकर्ता और स्वामी है, वह हमें भी उक्त गुणोंसे विभूषित करे, इस प्रकार स्तुति करके पात्रके सहित मन्थको हाथपर ऊपर उठावे। यह सौभाग्यकी बात है कि यज्ञशेषको पाकर, जो यज्ञ करने जैसे शोभन व्यापारसे सिद्ध हो सकता है, यज्ञकर्ता परम प्रसन्नताका अनुभव करता है। जिन कर्मोंसे प्रसन्नता होती है, उनके करनेवालोंके अन्तःकरण शुद्ध होते हैं, यही ज्ञानाङ्कुरकी पूर्वपीठिका है ॥ ५ ॥

अब मन्थका आचमन यानी भक्षण करना कहते हैं, यथा—

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । भूः स्वाहा । भर्गो देवस्य धीमहि । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव७ँ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । भुवः स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ३ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । स्वः

स्वाहेति । सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वांश्च मधुमतीरह-मेवेदᳳसर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेक-पुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वᳳशं जपति ॥ ६ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस मन्त्रसे इस मन्थको भक्षण करे। 'मैं उस आदित्यके सर्वोत्तम पदका ध्यान करता हूँ।' 'वायु मधुर मन्द गतिसे बह रहा है।' 'नदियोंमें शहद जैसा रस प्रवाहित हो रहा है।' 'हमें ओषधियाँ मधुर रसप्रद हों।'

उक्त अर्थ जिन मन्त्रोंके हैं, उन अर्थोंवाले मन्त्रोंका उच्चारण करके मन्थका पहला भाग भक्षण करे। 'भूः स्वाहा।'

'हम सवितादेवके तेजका ध्यान करते हैं।' 'अहर्निश सुखप्रद हों।' 'भूमिके रजःकणोंसे किसी प्रकार घबराहट न हो।' 'पितृस्थानीय द्युलोक हमें सुखकारी हो।'

उपर्युक्त अर्थवाले मन्त्रोंसे मन्थका दूसरा ग्रास भक्षण करे। 'भुवः स्वाहा।' 'जो सवितादेव हमारी बुद्धियोंका प्रेरक है।' 'हमारे प्रति वह मधुर रसमय वनस्पति यानी सोम हो।' 'हमारे लिए आदित्य मधुवाला हो।' 'दिशाएँ या किरणें या गौएँ हमारे लिए सुखप्रद हों।'

इस अर्थवाले मन्त्रोंसे तीसरा ग्रास खावे। 'स्वः स्वाहा।'

इसके अनन्तर 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि समस्त गायत्रीमन्त्र, 'मधुवाता ऋता-यते' इत्यादि सम्पूर्ण मधुमती ऋचा, तथा 'अहमेवेदं सर्वं भूयासम्' 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर अन्तमें सम्पूर्ण मन्थको खाकर दोनों हाथ धोकर अग्निके पश्चिम भागमें बैठे किन्तु सिर पूर्वकी ओर रहे। फिर सबेरेके समय 'दिशामेक······ भूयासम्' (तू दिशाओंमें प्रसिद्ध एक पूर्ण सर्वोत्तम है, मैं मनुष्योंमें एक पुण्डरीक—श्रेष्ठ होऊँ) इस मन्त्रसे सूर्यका उपस्थान करे, यानी भास्करदेवको नमस्कार करे। इसके अनन्तर जिस रास्तेसे गया था उसीसे वापिस लौटकर अग्निके पश्चिमकी ओर बैठे और वहाँ वंशको जपे जो आगे कहा जा रहा है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ मन्थ भक्षण करनेका यह प्रकार है, यथा—गायत्रीके प्रथम पाद, एक मधुमती ऋचा, और एक व्याहृतिसे प्रथमग्रास करे, गायत्रीके द्वितीय पाद, द्वितीय मधुमती ऋचा और द्वितीय व्याहृतिसे दूसरा ग्रास खावे, और गायत्रीके तृतीय पाद, तृतीय मधुमती ऋचा तथा तीसरी व्याहृतिसे अन्तमें तीसरा ग्रास भक्षण करे। इसके अनन्तर सम्पूर्ण गायत्री, समग्र मधुमती ऋचा, और 'मैं ही यह सब हो जाऊँ' ऐसा कहते हुए 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' ऐसा कह कर समस्त मन्थको भक्षण करना। पहलेसे ही सारे द्रव्यके ऐसे चार भाग करलेने जिससे चार ग्रासोंमें सारा द्रव्य समाप्त हो जाय। जो कुछ पात्रमें लगा रह जाय उस पात्रको धोकर उस सबको चुप चाप पी जाय। फिर हाथ धो ले। किसी किसी महात्माका यह कहना है कि इस मन्त्रमें मन्थद्रव्यको उद्देश्य करके परमात्मासे प्रार्थना की गई है। उनके कथनका तात्पर्य यह है कि जिस परमात्माकी कृपासे हम यज्ञ करनेमें समर्थ हो सके, इसीसे मन्थ मिला, हम उसे सधन्यवाद प्रार्थनाके साथ स्मरण क्यों न करें, जैसे—

सर्वोत्पादक परमात्मा जो सबसे श्रेष्ठ है, उसकी कृपासे हमारे लिए वायु मधुसमान हो, नदियाँ मधुसमान होकर बहें और ओषधियाँ मधुसमान स्वादिष्ट हों। इस प्रकार पवित्र परमात्मदेवकी हम उपासना करें, ताकि हमारे लिए रात्रि और उषाकाल मधुसमान हों, अधिक क्या कहें? पृथिवीके जितने रज हैं वे सब हमारे लिए मधुसमान हों और गौएँ हमारे लिए मीठा दूध दें, यह आपसे प्रार्थना है। इस प्रकार परमात्मासे प्रार्थना करता हुआ 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' इस मन्त्रका जप करे और जो ऋचायें ईश्वरको कर्ता तथा मङ्गलप्रद कथन करनेवाली हैं, उन सबका इस समय पाठ करे। अन्तमें 'भूर्भुवः स्वः' यह पढकर मन्थके सम्पूर्ण द्रव्यका भक्षण कर पात्रको धोकर रख दे। फिर हवनाग्निके अभिमुख बैठकर यह प्रार्थना करे कि हे परमात्मन्, मैं सब दिशाओं और सब मनुष्योंमें फूले हुए कमलके समान होऊँ। फिर उसी अग्निके सन्मुख ब्रह्मवेत्ताओंके वंशका स्मरण करे॥ ६॥

अब मन्थ द्रव्यका प्रभाव वर्णन करते हुए ब्रह्मवेत्ताओंकी वंशपरंपराको कहते हैं, यथा—

तꣳ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय-

यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषि-
ञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७ ॥

भावार्थ—आरुणि उद्दालकने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यके प्रति कथन किया कि यदि उक्त मन्थद्रव्यको शुष्क लकड़ीके ऊपर डाल दिया जाय तो उसमें शाखाएँ फूटकर पत्ते निकल आवेंगे ॥ ७ ॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्या-
यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषि-
ञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस मन्थका वाजसनेय याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्यको उपदेश करके कहा था—यदि कोई इसे सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें भी शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे ॥ ८ ॥

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्ते-
वासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चे-
ज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ९ ॥

भावार्थ—मधुक पैङ्गने अपने शिष्य चूलभागवित्तिको उपदेश करके कहा–इस मन्थको यदि कोई सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे ॥ ९ ॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्ते-
वासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चे-
ज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ १० ॥

भावार्थ—चूल भागवित्तिने अपने शिष्य जानकि आयस्थूणको 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न होकर पत्ते निकल आवेंगे' इस प्रकार उपदेश देकर इस मन्थका माहात्म्य बताया था ॥ १० ॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबाला-

यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ११ ॥

भावार्थ—जानकि आयस्थूणने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालको इस मन्थके विषयमें 'यदि कोई इसे सूखी लकड़ी पर छोड़ दे तो उसमें डाली फूट आवेंगी और पत्ते निकल आवेंगे' इस प्रकार इसका उपदेश दिया था ॥ ११ ॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥ १२ ॥

भावार्थ—सत्यकाम जाबालने अपने शिष्योंको उपदेश देते हुए इस मन्थकी महिमाके विषयमें कहा था कि कोई मनुष्य यदि इसे सूखे काष्ठ पर छोड़ देगा तो उसमें डालियाँ निकल आवेंगी और वे पत्तोंसे भर जायेंगी। इस मन्थका उपदेश जो पुत्र या शिष्य न हो उसके प्रति न करे ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—'तं हैतमुद्दालकः' यहाँसे आरम्भ करके 'सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्यः.........प्ररोहेयुः पलाशानि' यहाँ तक उद्दालकसे लेकर एक एक आचार्यके क्रमसे प्राप्त हुए इस मन्थका सत्यकाम जाबालने बहुतसे शिष्योंको उपदेश दिया था, उन्होंने कहा कि यदि भक्षणके लिए संस्कार किये गये इस मन्थको किसी शुष्क स्थाणु-नीरस काष्ठ पर भी गिरा दिया जाय तो उस ठूँठमें शाखाएँ वृक्षके अवयव—उत्पन्न हो जायँगे और पत्ते भी निकल आवेंगे, जैसे कि हरे वृक्षमें होते हैं। ऐसी बात है तो फिर इस कर्मसे यदि कामनाकी सिद्धि हो जाय तो यह कौन बड़ा काम है? तात्पर्य यह है कि यह कर्म निश्चित फल देनेवाला है। यह सब जो यहाँ कथन किया है, कर्मकी स्तुतिके लिए है।

यहाँ इस विद्याके अधिकारी दो ही माने गये हैं। क्योंकि विद्या प्राप्तिके लिए १—शिष्य, २—वेद पढ़ा हुआ, ३—धारणा शक्ति सम्पन्न, ४—धन देनेवाला, ५—प्रिय पुत्र और विद्यासे विद्यान्तर सिखानेवाला, ये छः तीर्थ हैं, यानी विद्यादानाधिकारी हैं। उनमेंसे इस प्राणदर्शनयुक्त मन्थविज्ञानकी प्राप्तिकी अनुज्ञा (आज्ञा) पुत्र और शिष्य दो ही तीर्थोंके लिए है ॥ ६·१२ ॥

पहले सामान्यतः 'सर्वौषधपिष्ट द्रव्यरूप मन्थपदार्थ है' यह कहा गया था, अब विशेषतः मन्थद्रव्यके कर्मोंका वर्णन करते हैं, अर्थात् अब यहाँ मन्थकर्मकी सामग्रीका विवरण कहा जाता है, यथा—

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्यां उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥ १३ ॥

भावार्थ—यह मन्थकर्म चतुरौदुम्बर है, यानी इसमें गूलरकी लकड़ीके बने चार पदार्थ होते हैं, जैसे—स्रुवा गूलरकी लकड़ीका, चमस भी गूलरका, गूलरकी ही समिधा, और गूलरकी ही दो उपमन्थनी होती हैं। इसमें धान, यव, तिल, उर्द, साँवा, काँगनी, गेहूँ, मसूर, बाल और कुलथी इन दस ग्रामीण अन्नोंका उपयोग होता है। इन्हें पीसकर दधि, मधु और घी में मिलाकर घृतसे हवन करे ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—यह कहा गया है कि ग्राम्य धान्योंमें से दस तो अवश्य ग्रहण करने चाहिये, जो कि उपर्युक्त हैं। इसके अतिरिक्त जो यज्ञसंबन्धी नहीं हैं, उनको छोड़कर यथाशक्ति सभी ओषधियाँ और फल लेने चाहियें। यानी दस प्रकारका अन्न पीसकर घृतमें संस्कार करके मन्थ द्रव्य बनाया जाता है. उसमें सभी यज्ञौषधियाँ भी मिलाई जाती हैं।

वेदान्त शास्त्रमें ज्ञानका प्राधान्य है और कर्म भी मान्य है। जो अपनेको वेदान्ती मानकर कर्मका परित्याग करता है वह कुछ नहीं जानता। वेदान्तीके लिए पहले कर्मयोगी होना आवश्यक है, पश्चात् वह ज्ञानयोगी हो सकता है। जैसे क्षेत्र जितना ही परिष्कृत होगा, धान्य भी उसमें वैसा ही उत्तम उत्पन्न होगा। ऐसे ही कर्मके साबुनसे हृदय-पट जितना ही निर्मल होगा उतना ही अच्छा उस पर ज्ञानका रंग चढ़ेगा। विद्वान् महात्मा कर्म तो करते हैं पर वह निष्काम होता है, इतर संसारी लोग सकाम कर्मोंके करनेमें लगे हैं। उपनिषद् वेदान्तशास्त्रकी प्रतिपादक हैं उनमें ज्ञानकाण्ड प्रधान है। किन्तु साथ ही ज्ञानोपयोगी मात्र कर्मोंका भी उनमें वर्णन हैं। ऐसे ही यहाँ इस कर्मकी चर्चा की गई है, यहाँ कर्मका स्वतन्त्र कथन करनेमें तात्पर्य नहीं है ॥ १३ ॥

——❀❀❀——
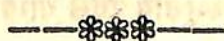
चतुर्थ ब्राह्मण

धनकी इच्छा करनेवाले प्राणोपासकके लिए श्रीमन्थ नामक कर्मका उपदेश देकर अब विशिष्ट (खास योग्यतावाले) पुत्रकी चाहना करनेवालेके प्रति पुत्रमन्थ नामक कर्म कथन करनेके लिए इस ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले पुत्रकी उत्पत्तिके कारण रेत और वीर्यकी स्तुति करते हैं, जैसे—

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामो-षधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

भावार्थ—सब भूतोंका रस पृथिवी है, पृथिवीका जल, जलोंका ओषधियाँ, ओषधियोंका पुष्प, पुष्पोंका फल, फलोंका रस मनुष्यशरीर और मनुष्यशरीरका रस वीर्य है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—संसारमें जितने भी चर तथा अचर भूत हैं या और जो भी कुछ हैं सबका सारभूत पृथिवी है। यह सब भूतोंका मधु है ऐसा पहले कहा जा चुका है। जलमें ओत प्रोत होनेके कारण पृथिवीका रस जल है। जलोंका रस ओषधियाँ हैं, क्योंकि वे जलसे वृद्धिको प्राप्त होती हैं, ओषधियोंमें रस भरा रहता है। आगेका अर्थ स्पष्ट है ॥ १ ॥

इस प्रकार जब कि यह रेत सब भूतोंका सार है तो फिर इसकी स्थितियोग्य स्थान कौनसा है? यह कहते हैं, यथा—

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पया-नीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳसृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मास्त्रि-यमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुद-पादयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥ २ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—स प्रजापतिर्विराडात्मा हेत्तामालोचनां चक्रे कृतवान्, कथम्। हन्तास्मै सर्वसारभूताय रेतसे योग्यां प्रतिष्ठां कल्पयानीति विचार्य स

प्रजापतिः स्त्रियं पत्नीशब्देनोक्तां शतरूपाख्यां ससृजे। तां सृष्ट्वा प्रजापतिरधः प्रदेशे योन्याख्य उपास्त मैथुनाख्यमुपासनं कृतवान् यस्मात्तस्माद्द्यतनोऽपि स्त्रियमधः प्रदेशेऽवाच्यकर्मणोपासीत।

नन्वेतत्किमर्थं विधीयतेऽस्य स्वभावत एव प्राप्तत्वादित्यतोऽत्र वाजपेयदृष्टि-करणार्थमिति तत्साधर्म्यमाह—स इति।

पशुकर्मणि प्रवृत्तः कास्यात्मनः स्वीयमेवैतं प्राञ्चं प्रागच्छमानं सोमाभिष-वोपलस्थानीयं प्रजननेन्द्रियं समुदपारयत् उत्पूरितवान् स्त्रीव्यञ्जनाऽभिमुखं कृतवान्। तेन पाषाणवत्कठिनेनैनां स्त्रियमभ्यसृजदभि समन्ततो मुहुर्मुहुः संसर्गं कृतवान् ॥२॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस ब्राह्मणमें कुछ मन्त्र ऐसे आये हैं जिनका हिन्दी अनुवाद नहीं करेंगे। इन मन्त्रोंमें स्त्री पुरुषोंकी वे कुछ गुप्त क्रियायें लिखी गई हैं जिनका स्पष्ट वर्णन करना शायद बहुतसे पाठकोंको उचित न प्रतीत हो। साथ ही अपने संन्यासीके स्वरूपके अनुरूप न होनेके कारण भी हमने ऐसा नहीं किया। ऐसा ठीक किया या नहीं, यह तो हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं। हाँ सुपरिपक्-बुद्धि पुरुषोंके लिए संस्कृतमें व्याख्यान कर दिया है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जिसकी सर्वसाधारणमें व्याख्या करनी सभ्यताके विरुद्ध है, ऐसे विषयका इन उपनिषद् जैसे ब्रह्मविद्याके ग्रन्थोंमें वर्णन क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि उपनिषद्विज्ञान परिपूर्ण है, उसमें सभी बातें आनी चाहियें, दूसरी बात यह प्रतीत होती है कि प्राचीनकालमें ऐसी चर्चासे किसी प्रकारके संस्कारोंके मलिन होनेकी सम्भावना नहीं थी, उस समय विद्याभिलाषियोंमें संयम बहुत था। फिर यह भी बात है कि किसी विशेष विषयकी चर्चा करनेका अथवा उसपर गवेषणापूर्वक विचार करनेका अधिकार विशेष पुरुषोंको ही होता है। आयुर्वेदमें चिकित्सार्थ शरीरके प्रत्येक अङ्ग उपाङ्गपर स्पष्ट विचार किया गया है। यहाँ भी सृष्टिक्रमादिबोधनार्थ अथवा इस रूपमें सृष्टिरचना करनेवालेके प्रशंसार्थ ऐसा वर्णन करना उचित ही है। कुछ बातें रहस्यपूर्ण होती हैं, उन्हें सर्वसाधारण के समक्ष गोप्य ही रखना ठीक होता है। इसी बातका अनुसरण करके हमने इस ब्राह्मणकी व्याख्या संस्कृतमें की है, जिसे कुछ विज्ञ लोग समझ लेंगे और बहुतसे नहीं भी समझेंगे तो कोई हर्ज न होगा।

प्रत्येक मन्त्रका संक्षिप्त भावार्थ बता दिया जायगा, जैसे इसी मन्त्रका भाव है कि प्रजापतिने यानी परमात्माने सन्तति उत्पन्न करनेके लिए स्त्रीकी रचना की॥२॥

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्याऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥ ३ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] तस्याः स्त्रिय उपस्थ एव वेदिः, तत्स्थानि लोमानि बर्हिः, योनिस्थचर्माऽऽनडुहं चर्म। तत्स्थौ पुरुषस्य दक्षिणोत्तरौ मुष्कौ वृषणावधिषवणे दक्षिणोत्तरे सोमाभिषवफलके। स्त्रीव्यञ्जनस्य मध्यप्रदेशः समिद्धो दीप्तोऽग्निः।

अस्मिन् वाजपेयदृष्टिकरणे किं स्यादित्यत आह—

स प्रसिद्धो यावत्परिमाणो लोको वाजपेयेन यजमानस्य भवति तावानस्यैवमवाच्यकर्मोपासितुर्लोको भवति। किञ्च य एवं यथोक्तं वाजपेयसाम्यमस्य कर्मणो विद्वानधोपहासमवाच्यं कर्म चरत्यनुतिष्ठति स स्त्रीणां सुकृतं शुभकर्म वृङ्क्त आवर्जयति स्वीकरोति। अथ पुनर्योऽस्य वाजपेयसम्पन्नत्वं रेतसः सारतमत्वं चाविद्वानधोपहासं चरत्यस्याविदुषः सुकृतं स्त्रिय उपभुञ्जते ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—स्त्री एक प्रकारकी वेदी है, जिसमें वीर्यरूप आहुतिसे शुभ सन्तान उत्पन्न होती है। जो इस प्रकार सन्तानोत्पत्तिका उद्देश्य समझता है वह वाजपेययज्ञके फलका भागी होता है। और ऐसा ही पुरुष स्त्रीको स्वाधीन रख सकता है ॥ ३ ॥

जो विद्वान् यानी ज्ञाता नहीं हैं उनको यह कर्म निन्दित है। इसमें अनेक आचार्यों की सम्मति दिखाते हैं, यथा—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] उद्दालक आरुणिर्ह तदेतद्वाच्यं कर्म वाजपेयसम्पन्नं विद्वानाह स्म तथा नाको मौद्गल्यः कुमारहारितश्चाऽऽह स्म बह्वो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्या अयनं येषां ते ब्राह्मणायना ब्राह्मणजातिमात्रोपजीविनो ब्राह्मणाभासा निरिन्द्रिया विश्लिष्टेन्द्रिया विसुकृतो विगतपुण्याः सन्तोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति परलोकनष्टाः सन्तो नरकं गच्छन्ति। के ते, ये पशुकर्माण इदं वाजपेयसम्पन्नत्वमविद्वांसोऽविजानन्तोऽधोपहासं चरन्तीति।

श्रीमन्थकर्म कृत्वा पत्न्या ऋतुकालं ब्रह्मचर्मेण प्रतीक्षमाणस्य सुप्तस्य जाग्रतो वा रागबाहुल्याद्वा स्वलं वा यदिदं रेतः स्कन्दति निःसरति ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—आरुणि उद्दालक, नाक मौद्गल्य तथा कुमार हारितका कथन है कि बहुतसे मनुष्य जो नाममात्रके बाह्मण हैं वे सन्तानोत्पत्तिके रहस्यको न जानकर पशुमार्ग समान अधोपहासका आचरण करते हैं। वे इस लोकसे नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें वीर्यको वृथा नष्ट करनेके कारण उनकी अल्पायु होती है ॥ ४ ॥

इस मन्त्रमें वीर्यको व्यर्थ नष्ट करनेवालेके लिए प्रायश्चित्त कथन करते हैं, यथा—

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः। इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] तदा तत्स्कन्नं रेतो हस्तेनाभिमृशेत्स्पृशेदनुपश्चान्मंत्रयेच्च। तन्मंत्रमाह—मे ममाद्यप्राप्तिकाले यद्रेतः पृथिवीं प्रत्यस्कान्त्सीत्स्कन्नमासीद्यदोषधीः प्रति च पूर्वमप्यसरदगमद्यच्चापः स्वयोनिं प्रतिगतमभूत्तदिदं रेतः संप्रत्यहमाददे गृह्णामि। इति मन्त्रेणानामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादाय गृहीत्वा भ्रुवौ स्तनौ वाऽन्तरेण भ्रुवोः स्तनयोर्वा मध्ये विमृज्याल्लेपयेदित्यन्वयः। तन्मन्त्रमाह—

रेतोरूपेण बहिर्निर्गतमिन्द्रियं पुनर्मां प्रत्येतु समागच्छतु। तेजस्त्वग्गता कान्तिः, सा पि रेतोनिर्गमनान्निर्गता पुनर्मामैत्वित्यनुषङ्गः। भगः सौभाग्यं ज्ञानं

वा पुनरायातु। अग्निर्धिष्ण्यं स्थानं येषां देवानां तेऽग्निधिष्ण्या देवास्तद्रेतो यथास्थानं कल्पन्तां कल्पयन्तु। इतिशब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतकः ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जो अवकीर्णी है यानी जो वीर्यको व्यर्थ नष्ट करनेवाला है वह पश्चात्ताप करे कि मुझसे जो उक्त पाप हुआ है उसकी शुद्धिका उपाय यही है कि मैं फिर तेज तथा ऐश्वर्यका सम्पादन करूँ, जिससे कि फिर पूर्ववत् तेजस्वी होऊँ, और 'मरणं विन्दुपातेन' सदा इसका ध्यान रखूँ ॥ ५ ॥

इस मन्त्रमें संतानार्थी द्वारा प्रार्थनाका कथन करते हैं, यथा—

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] यदि कदाचित् प्रमादत उदके रेतः सिक्त्वा स्वस्याऽऽत्मानं छायां पश्येत्तदा तदुदकमभिमन्त्रयेत। तन्मन्त्रमाह—इन्द्रियं रेतो मय्यस्त्वित्यध्याहारः, किं लक्षणमिन्द्रियम्, तेजो विज्ञानं यशः कीर्तिर्द्रविणं वित्तं सुकृतं सत्कर्मेति। एतानि विशेषणानि तु तादृग्गुणपुत्रोत्पादनहेतुत्वात्।

अथ यस्यां पुत्रो जनयितव्यस्तां स्तौति—

स्त्रीणां मध्ये हैषा पत्नी श्रीर्गुणाढ्या यद्यस्मान्मलोद्वासा उद्भूतमलवद्वस्त्रा तस्मात्तां मलोद्वाससं यशस्विनीं कीर्तिमतीं वक्ष्यमाणत्रिरात्रव्रतं कृत्वा चतुर्थेऽह्नि स्नातामभिक्रम्याभिगम्येदमद्याऽऽवाभ्यां कार्यं यद्विशिष्टपुत्रोत्पादनमित्यभिमन्त्रयेत कथयेत ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—फिर जल अथवा दर्पणमें अपना मुख देखकर प्रार्थना करे कि प्रभो, अपनी कृपासे आप मुझे तेजस्वी तथा बलवान् बनावें। मुझे इन्द्रिय-शक्ति, शुभकर्म और धन दें। मेरी स्त्री को श्री एवं शुद्ध वस्त्र रखने यानी पहननेका स्वभाव दें, अर्थात् मुझे धन धान्य एवं स्वास्थ्य प्रदान करें पर साथ ही मेरी स्त्रीका फूहड़पन छुड़ा दें ॥ ६ ॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्या-

तिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] अभिलाषपूर्तिमस्वीकुर्वतीं भार्यां कामं यथाभिलषित-भोग्यादिभिरवक्रीणीयाद्वशीकुर्यादिति । एवमपि सा चेदस्मै पशुकर्म कर्तुमवकाशं नैव दद्यात्तदैनां यष्ट्या दण्डेन पाणिना हस्तेन वोपहत्य कामं यथेष्टमतिक्रामेदभिगच्छेत् ।

एवं बलात्कारासम्भवे पुनरुपायान्तरमाह—शप्स्यामि त्वां दुर्भगां करिष्यामीति प्रख्याप्येन्द्रियेण पञ्चमेन्द्रियेण यशसा यशोहेतुना कृत्वा ते तव यशो यशोहेतु-पुत्रोत्पत्तिकरं रेतोऽहमाददे गृह्णामीति मन्त्रेण शपेत् । सा चैवं शप्ता सत्ययशा एवा-पुत्रैव भवति ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—यदि स्त्री उक्त शोभाको धारण न करे, यानी पुरुषके अनुकूल न वर्ते और मलिन रहे तो उसको शिक्षा दे । इतने पर भी न माने तो यथायोग्य शिक्षा और आग्रहसे श्री तथा शुद्ध वस्त्रोंवाली बनावे । इस पर भी स्त्री न माने तो उसको धमकी या अभिशाप दे । पहले स्त्रीको सभी प्रकारकी साम-ग्रियोंसे परिपूर्ण करके खूब प्रेमका बर्ताव करे । इतने पर भी न माने तो शिक्षा और दण्डसे काम ले । जो पहले प्रेम और भोग्य सामग्रीसे स्त्रीको सन्तुष्ट नहीं करके उसे ताड़न करता है उसे नरकमें भी जगह नहीं मिलती और जो स्त्री सब कुछ अनु-कूलता करने पर भी आज्ञाकारिणी न हो वह भी नरकमें मारी मारी फिरती है ॥७॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] एवं शापभयात्सा चेदस्मा अवाच्यं कर्म कर्तुमवकाशं दद्यात्तदा यशसेन्द्रियेणोक्तलक्षणेन ते तव यश आदधाम्यारोपयामीत्यनेन मन्त्रेण शापे निवर्तिते सति यशस्विनावेवोभावपि भवत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जब स्त्री पुरुषकी आज्ञाकारिणी हो जाय तब पुरुष उसके प्रति यह कथन करे कि मैं तेरा यश वर्धन करनेके लिए उपस्थित हुआ हूँ, सन्तानोत्पत्ति द्वारा हम दोनों यश लाभ करें ॥ ८ ॥

अब जो स्त्री पतिसे द्वेष रखती है उसे इस विषयमें प्रसन्न होनेका उपाय कहा जाता है, यथा—

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] स पूर्वोक्तमन्थकर्मण्यधिकृतः कामीयं मा मां कामयेताभिलषेतेति स्वभार्यां यामिच्छेत्तस्यां योनावर्थं प्रजननेन्द्रियं निष्ठाय निक्षिप्य स्त्रीमुखेन सह स्वमुखं संधाय मेलयित्वा तस्या उपस्थं पाणिनाऽभिमृश्य स्पृष्ट्वा जपेन्मन्त्रम् । तमेवाह—

हे रेतः ! त्वं मदीयात्सर्वस्मादङ्गात्सम्भवसि समुत्पद्यसे विशेषतश्च हृदयान्नाडीद्वारेणाधिजायसे प्रकटीभवसि । एवंविधः स त्वमङ्गानां कषायो रसोऽसि । अतो दिग्धविद्धामिव विषलिप्तशरविद्धां मृगीमिवेमाममूं मद्भार्यां मयि विषये मादय मदयुक्तां कुरु मद्वशां कुर्वित्यर्थः ॥ ९ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इसके अनन्तर 'अङ्गादङ्गात्संभवसि' पुरुष उक्त मन्त्रको पढे । अर्थात् हमारे अङ्ग अङ्ग तथा हृदयकी नाड़ी नाड़ीसे वह रस उत्पन्न होता है । इसलिए इसको सन्तानोत्पत्तिके उपयोगमें ही लाना चाहिये, व्यर्थ नष्ट करना उचित नहीं है । इसलिए सबको चाहिये कि शुभ सङ्कल्पसे उत्तम सन्तान उत्पन्न करें ॥ ९ ॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १० ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] यौवनादिभ्रशभयाद्यां स्वभार्यामिच्छेद्गर्भं न दधीत न धारयेदिति तस्यामर्थमित्यादि पूर्ववत् । अभिप्राण्यापान्यात्पशुकर्मकाले प्रथमं स्वीयपुंस्त्वद्वारा तदीयस्त्रीत्वे वायुविसर्जनरूपमभिप्राणनं कृत्वा तेनैव द्वारेण तदादानलक्षणमपाननं च कुर्यात् । तन्मन्त्रमाह—इन्द्रियेण रेतसा ते रेत आदद इत्यनेनैव मन्त्रेणैवं कृते सत्यरेता एव सा भवति ॥ १० ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—सन्तानार्थ एकाग्रता और समभावसे पति पत्नीको गर्भप्राप्ति करनी चाहिये ॥ १० ॥

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] अथ गर्भं दधीतेति यामिच्छेत्तस्यामर्थमित्यादि पूर्ववदपान्याभिप्राण्यात्स्वकीयपञ्चमेन्द्रियेण तदीयपञ्चमेन्द्रियाद्रेतः स्वीकृत्य तत्पुत्रोत्पत्तिसमर्थं कृतमिति मत्वा स्वकीयरेतसा सह तस्मिन्निक्षिपेदित्येतादृशमपानपूर्वकमभिप्राणनं कर्मेन्द्रियेण रेतसा रेत आदधामीत्यनेन मन्त्रेण एवं कृते सति सा गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

अब पतिव्रतधर्मकी दृढताके लिए जारकर्मकी निन्दा करते हैं, यथा—

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद् ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ १२ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] अथ यस्य गृहिणो जायायै भार्याया जार उपपतिः स्यात्तं चेज्जारं स्वाभाविकः पतिर्द्विष्यात्तदाऽऽमपात्रेऽपक्वमृन्मये भाजन उल्लेखनादि पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमं दक्षिणाग्रं पश्चिमाग्रं वा यथा स्यात्तथा शरमयं बर्हिस्तीर्त्वाऽऽस्तीर्य तस्मिन्नग्नावेताः प्रसिद्धाः शरभृष्टीः बाणेषीकाः प्रतिलोमा विपरीताग्राः सर्पिषाऽक्ता घृताक्ता जुहुयात्। तन्मन्त्रमाह—मम स्वभूते योषाग्नौ यौवनादिना समिद्धेऽहौषी रेतो हुतवानस्यतोऽपराधिनस्ते तव प्राणापाना-

वाऽदद इतिमन्त्रमुच्चार्य फडित्युक्त्वा होमं कुर्यादन्ते चासावित्यात्मनः शत्रोर्वा नाम गृह्णीयात्। तथा मम समिद्धेऽहौषी रिति शत्रोरपराधं ज्ञापयित्वा पुत्राश्च पशवश्च पुत्रपशवस्तान्पुत्रपशूंश्च।हमादद इति पूर्ववत् द्वितीयाहुतिं हुत्वाऽन्तेऽसाविति नाम गृह्णीयात्। तथा मम समिद्धेऽहौषीरित्यत इष्टासुकृते श्रौतस्मार्ते कर्मणी त्वदीयेऽहमादद इति तृतीयाहुतिं हुत्वाऽसावित्युच्चारयेत्। तथा मम समिद्धेऽहौषीरित्यत आशा प्रार्थना पराकाशः प्रतिज्ञा तस्या निष्पादितस्य कर्मणः प्रतीक्षा तावाशापराकाशौ ते तवाऽऽदद इति चतुर्थाहुतिं हुत्वाऽसावित्युच्चारयेदिति।

यथोक्ताभिचारकर्म द्वारा शापदानफलमाह—एवंविधमन्थकर्म विद्वान् प्राणदर्श्येव यं ब्राह्मणं शपति, स वा एष ब्राह्मणो निरिन्द्रियो निर्गतेन्द्रियो विसुकृद्विगत-पुण्यकर्मा सन्नस्माल्लोकात्प्रैति गच्छति। तस्मादुक्तवद्यमाणहेतोरेवंवित्परदारगमने यथोक्तवद्यमाणानिष्टविच्छ्रोत्रियस्य दारेण सह नोपहासमिच्छेन्नर्माऽपि न कुर्यात् किमुताधोपहासम्। हि यस्मादुतैवंविदप्युक्तकर्मादिविच्छ्रोत्रियोऽपि परः शत्रुर्भवति तस्मादिदं पापकर्म न कार्यमित्यर्थः॥ १२॥

वि॰ वि॰ भाष्य—किसी स्त्री को उपपतिसंसर्ग हुआ हो तो उस जार-संसर्गजन्य दोष की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त में हवन का विधान इस प्रकार है कि अग्न्याधान करके कुशा के स्थान में उलटे सरकण्डे बिछाकर हवन करे। उस समय यह कथन करे कि किसी को भी ऐसा निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये, जो इस प्रकारका कर्म करेगा वह विकलेन्द्रिय हो जायगा. तथा उसके सब पुण्य नष्ट हो जाँयगे। इसलिए परदारगमन करना पापकर्म है। यह कथन उपलक्षण है, यानी स्त्री और पुरुष इन दोनोंके लिए समान है, जैसे पुरुषको परदाराभिगमन पाप है, उसी प्रकार स्त्रीको भी परपुरुषको कुदृष्टिसे देखना अधर्म है॥ १२॥

अब अपनी भार्या के साथ ऋतुकालाभिगामी होने का कथन करते हैं, यथा—

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत् त्र्यहं कंसेन पिबेद-हतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात् त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत्॥ १३॥

भावार्थ—[संस्कृत में] अथ यदा यस्य मन्थविधिज्ञस्य जायामार्तवमृतु-भावो विन्देत्प्राप्नुयात्तदा तस्य भार्या तदारभ्य दिवसत्रयं कंसे कांस्यपात्रे न पिबे-न्नाश्नीयादहतवासा अनुपहतवासाश्च स्यात्स्नानोत्तरकाल इति बोध्यम्। एनां

व्रतस्थां वृषलः शूद्रो नोपहन्यान्न स्पृशेद्वृषली तद्भार्या च नोपहन्यात्। एवं त्रिरात्रान्ते चतुर्थेऽहनि प्रातःकाल आप्लुत्य स्नात्वा पूर्वोक्ताहतवस्त्रादिविशिष्टां व्रीहीनवघातये-च्चरुश्रपणार्थम् ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो स्त्री ऋतुमती हो वह तीन दिन तक कांसे के बर्तन में न पानी पीवे न खावे। उसको कोई मलिन पुरुष या मलिन स्त्री स्पर्श न करे। फिर स्नान करनेके बाद सुन्दर वस्त्र पहन धानोंको कूटे। तात्पर्य यह है कि ऋतुमती स्त्रीको यदि कोई मलिन स्त्री स्पर्श करेगी तो सम्भव है उसके शरीरमें दुर्गन्धित परमाणु प्रविष्ट होकर उसे हानि पहुँचा देंगे। इसलिए उचित है कि उस समय किसी मलिन द्रव्य अथवा वस्त्रादिकोंको उपयोगमें न लावे। साथ ही ऋतुमतीकी भावना भी पवित्र रहनी चाहिये, यानी मनमें क्रोध द्वेषादिक दोष न होंने चाहियें ॥ १३ ॥

उत्तम संतान उत्पन्न होनेके लिए स्त्री पुरुषके आहारका वर्णन करते हैं, यथा—

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्व-मायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाता-मीश्वरौ जनयितवै ॥ १४ ॥

भावार्थ--[संस्कृतमें] मे मम पुत्रः शुक्लो बलदेववद्गौरः शुद्धो वा जायेत, एकं वेदमनुब्रुवीत पठेत्सर्वं शतवर्षप्रमितमायुरियादवाप्नुयादिति य इच्छेत्स क्षीरौदनं क्षीरेणौदनं स्वभार्ययैव पाचयित्वा सर्पिष्मन्तं घृताप्लुतं तमोदनं कृत्वा तौ दम्पती अश्नीयातां ततश्च तौ यथोक्तपुत्रं जनयितवै जनयितुमीश्वरौ समर्थौ ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—जो यह चाहते हैं कि हमारे यहाँ गौर वर्ण, एक वेद के जाननेवाला, पूर्ण सौ वर्ष आयुभोग करनेवाला पुत्र उत्पन्न हो तो उन दम्पती—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि वे दूधमें चावल पकाकर उनमें घी डालकर खावें। इस प्रकारके आहारसे वे उपर्युक्त योग्यतावाला पुत्र प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे ॥ १४ ॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] कपिलो वर्णतः पिङ्गलः पिङ्गलाक्षः। दध्यौदनं पाचयित्वा दध्ना चरुं श्रपयित्वा ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—जिनकी यह अभिलाषा हो कि हमारे कपिल वर्ण, भूरे नेत्रोंवाला, दो वेदों का ज्ञाता तथा परमायु भोगनेवाला पुत्र हो तो वे दम्यती चावल पकाकर उसमें दही और घृत डालकर भोजन करें। ऐसा करके वे वैसा पुत्र लाभ कर सकेंगे जैसा इस मन्त्र में लिखा है ॥ १५ ॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] उदौदनमुदक ओदनं पाचयित्वेति क्षीरादिव्यावृत्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो यह चाहते हों कि हमारे घरमे श्यामवर्ण, लाल आखोंवाला, तीन वेदोंको जाननेवाला तथा परमायुभोगी पुत्र उत्पन्न हो तो वे स्त्री पुरुष चावल पकाकर उसमें घी डालकर खायें। तब वे ऐसी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं जैसी चाहते हों ॥ १६ ॥

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १७ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] दुहिता कन्या पण्डिता स्त्र्युचितगृहकर्मणि कुशला, शास्त्रेऽनधिकारात्, इति केचित्। अन्येतु स्त्रीणामपि शास्त्राध्ययने पुरुषाणामिव पूर्णाधिकारः अध्ययने योग्यता च। भाष्यकृद्भिः "दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्" इति कथितम् तत्तु क्षत्रधर्मप्रवृत्तानां स्त्रीणां विषये, नतु साधारणा उद्दिश्योक्तम्। विस्तरभयान्नाधिकमुच्यते ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—जो यह चाहते हैं कि हमारी कन्या पण्डिता तथा परमायुष्मती हो, वे तिलोंसे मिले चावल पकाकर घीमें मिलाकर खायें तो वे स्त्री पुरुष ऐसी लड़की प्राप्त कर सकेंगे ॥ १७ ॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्व-मायुरियादिति माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीया-तामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥ १८ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—विविधं गीतो विजिगीथः प्रख्यातः समिति विद्वत्सभां प्रति गच्छतीति समितिंगमः शुश्रूषितां श्रोतुमीप्सितां वाचं वाणीं भाषिता जायेत। मांसमिश्रिमोदनं मांसौदनम्। तस्य नियममाह—औक्षेण वाऽऽर्षभेण वेति। उक्षा पुंङ्गवस्तदीयं मांसमौक्षणम्। ततोऽप्यधिकतया ऋषभस्तदीयं मांस-मार्षभम्। एतच्च भिन्नदेशकालादिविषयमत्र निषिद्धत्वात्तत्स्थाने मृगादिमांसं क्रीत्वा ग्राह्यम् ॥ १८ ॥

वि० वि० भाष्य—जो यह कामना रखते हैं कि हमारा पुत्र पण्डित हो, विद्वानोंकी सभामें खूब बोलनेमें पटु हो, प्रियवक्ता हो सब वेदोंका ज्ञाता हो, और पूर्ण आयुको प्राप्त होनेवाला हो, तो वे स्त्री पुरुष उक्षा या ऋषभका मांस मिला हुआ सघृत चावल खायें। तब उनकी इस इच्छाकी पूर्ति हो जाती है।

इस मन्त्रकी व्याख्या करनेमें विद्वानोंका बड़ा मतभेद है, इस मन्त्रमें यह वाक्य है कि "मांसौदनं.........औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा।"

इस मन्त्रमें शब्दमर्यादया मांस भक्षणका उल्लेख स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, इससे मांसभक्षियोंका मत पुष्ट होता है। किन्तु जो यह कहते हैं कि वेदमें कहीं मांस भक्षण करना नहीं लिखा, वे इस मन्त्रार्थके विषयमें यह बतलाते हैं, यथा—

इस मन्त्रमें मांसका अर्थ पशुमांस नहीं है। क्योंकि जब प्रारम्भमें अन्न, दुग्ध और घृत भक्षण का उपक्रम है, तब उपसंहारमें भी वही होना चाहिये। अन्य उपक्रमोपसंहारकी एकवाक्यता नहीं होगी। फिर यह भी बात है कि जब सत्रहवें मन्त्रमें पण्डिता कन्या उत्पन्न करनेके लिए केवल तेल ओदनरूप भोजनका कथन किया गया है, तो फिर क्या कारण है कि पण्डित पुत्रकी उत्पत्ति करनेके लिए मांस खाने का विधान किया जाय? और यह भी बात है कि जब 'उक्षा' एक ओषधिका नाम है तो उसका अर्थ बैल पशु क्यों माना जाय? इसी तरह 'ऋषभ' भी ओषधिका ही नाम है। और मांस शब्दके अर्थ मांसच्छदा,

मांसरोहिणी तथा मांसी आदि ओषधियाँ है। तब पवित्र वेदमें मांस शब्दसे आमिष क्यों लिया जाय? इत्यादि अनेक तर्कोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि मांसका अर्थ ओषधि है, न कि गोस्त। कुछ शङ्करभाष्यानुसारियोंने इस मांस शब्दका खटकता सा अर्थ किया है, जैसे आनन्दगिरिजीने—'देश-विशेषापेक्षया कालविशेषापेक्षया वा मांसनियमः" यह लिखा है। तथा बृहदारण्यकके वृत्तिकार पुरुषोत्तमानन्दने यहाँ व्यवस्था दी है कि "एतच्च भिन्नदेश-कालादिविषयमत्र निषिद्धत्वात्।" अर्थात् ये यहाँ मांस खाना तो मानते हैं, पर वह इस देशमें बैल या साँड़का न हो, किसी अन्य पशुका हो।

प्रकृत भक्ष्याभक्ष्यके विषयमें बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर इतनी यहाँ जगह नहीं है। वस्तुतः इस विषयमें लोगोंने बहुत ही खींचातानी कर दी है। कुछ लोग ऐसे हैं जो मांस शब्दको सुनना तक पसन्द नहीं करते और कुछ ऐसे हैं जो जीवहत्याको धर्मकार्य समझते हैं। पर हम तो अन्तमें यही कहेंगे कि किसी भी निरपराध जीवको कष्ट पहुँचानेसे बढ़कर मनुष्यके लिए और कोई बड़ा पाप नहीं है ॥ १८ ॥

इस प्रकार फिर उन कूटे हुए चावलोंका भात आदि बनाना चाहिये, इसपर कहते हैं, यथा—

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥ १९ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—अथ चतुर्थदिवसे प्रातरेव सन्ध्याद्यनुष्ठानपूर्वकं भार्यापिण्डिततण्डुलानादाय स्थालीपाकावृता स्थालीपाकविधिनाऽऽज्यं चेष्टित्वा संस्कृत्य, एतच्चर्वादि संस्काराणामप्युपलक्षणम्। ततः स्थालीपाकमुपहत्योपहत्य स्वल्पं स्वल्पं गृहीत्वा प्रधानाहुतीर्जुहोति।

तन्मन्त्रानाह—'अग्नये स्वाहा' 'अनुमतये स्वाहा' 'देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा' इति। एतत्प्रधानाहुतित्रयं हुत्वा स्विष्टकृदाहुतिं च पश्चात्स्थालीस्थं

चरुशेषं पात्र उद्धृत्य सर्पिषाऽक्तं कृत्वा पतिः प्रथमं प्राश्नाति प्राश्यच तदेवोच्छिष्टमितरस्याः पत्न्याः पत्न्यै प्रयच्छति। ततो हस्तौ प्रक्षाल्य शुद्धाचमनं कृत्वोदपात्रं पूरयित्वा तेनोदकेनैनां भार्यां त्रिस्त्रिर्वारमभ्युक्षति।

तन्मन्त्रमाह—भो विश्वावसो गन्धर्वं त्वमतो मद्भार्यातः सकाशादुत्तिष्ठान्यां कामपि प्रपूर्व्यां पीवरीं तरुणीं सह पत्या क्रीडमानामिच्छाहं पुनः स्वीयामिमां जायां समुपैमीति। मन्त्रपाठस्तु सकृदेवेत्यर्थः॥ १९॥

वि० वि० भाष्य—प्रातः समयमें स्थालीपाककी विधिसे घृतका संस्कार करके चरुसहित घृतद्वारा 'अग्नये स्वाहा' 'अनुमतये स्वाहा' 'देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा' इन वाक्योंसे हवन करे। ये आहुतियाँ देकर फिर स्विष्टकृत आहुति दे। इसके अनन्तर स्थालीमें जो चरु शेष रहे उसको प्रथम पति खावे और पश्चात् पत्नीको दे। फिर हाथ धोकर एवं शुद्ध जलसे आचमन करके पानीसे पात्र भर अपनी स्त्रीके ऊपर तीनवार जल छिड़ककर प्रार्थना करे कि हे प्रभो! आप हम दोनोंको प्रसन्न रखें॥ १९॥

अब उक्त दम्पत्तीका प्राण वागादिकी तरह सम्बन्ध कथन करते हैं, यथा—

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति॥ २०॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—अथैवं गन्धर्वं प्रस्थाप्य यथाकामं क्षीरोदनादिभोजनानन्तरमेतां भार्यामभिपद्यते मन्त्रेणाऽऽलिङ्गयेत्। तन्मन्त्रमाह—अहं पतिरमः प्राणोऽस्मि त्वं सा वागसि। कथमावयोरुक्तरूपत्वमित्याशङ्कायां वाचः प्राणाधीनत्वं प्रसिद्धमित्यभिप्रेत्य सा त्वमस्यमोऽहमिति पुनर्वचनम्। तथाऽहं सामास्मि त्वं च ऋगसि। ऋक्पत्न्योर्गानावाच्यकर्मविषये सामपुरुषयोराधारत्वसामान्यात्। द्यौरहं जनकत्वात् पृथिवी त्वं मातृत्वात्। तावावां संरभावहै संरम्भमुद्यमं करवावहै, एहि त्वमागच्छ। कोऽसौ संरम्भः सह मिलित्वा रेतो दधावहै, रेतोधारणमावाभ्यां कार्यमयमेव संरम्भः। स किमर्थं पुंसे पुंस्त्वविशिष्टाय पुत्राय वित्तये लाभायेति॥ २०॥

वि० वि० भाष्य—इसके अनन्तर पति पत्नीसे कहे कि मैं प्राण हूँ और तू वाणी है। यानी जिस तरहसे वाणी प्राणके अधीन है उसी तरह तू मेरे अधीन है। फिर कहे—मैं साम हूँ, तू ऋचा है, यानी जिस प्रकार साम ऋचाके अधीन होता है उसी प्रकार मैं तेरे अधीन हूँ। तत्पश्चात् यह कहे कि मैं द्यौ हूँ और तू पृथिवी है, यानी जिस रीतिसे द्यौ उग्र वृष्टिसे पृथिवीको तृप्त करता है उसी प्रकार मैं भोग्य आदि पदार्थोंसे तुझको तृप्त करूँगा। हम दोनों संतानसे युक्त हों। ऐसा संकल्प उत्तम पुत्रोत्पत्तिका कारण होता है ॥ २० ॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २१ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—अथाऽऽलिङ्गनानन्तरमस्याः पत्न्याऊरू विहापयति विश्लेषयति। तन्मन्त्रमाह—हे द्यावापृथिवी! ऊरुरूपे युवां विजिहीथां विश्लिष्टे भवेतमिति मन्त्रेणावकाशे कृते सति तस्यां योनावर्थं प्रजननेन्द्रियं निष्ठाय निक्षिप्य मुखेन मुखं सन्धायानन्तरमेनां भार्यामनुलोमां मूर्धानमारभ्य पादान्तं त्रिस्त्रिवारं पाणिनाऽनुमार्ष्टि मार्जनं कुर्यात्।

तन्मन्त्रानाह—विष्णुर्व्यापनशीलो भगवांस्तव योनिं कल्पयतु पुत्रोत्पत्तिसमर्थां करोतु। त्वष्टा सविता तव मे सुतस्य वा रूपाण्यवयवान् पिंशतु विभागशो दर्शनयोग्यान् करोतु। प्रजापतिर्विराडात्मा मदात्मना स्थित्वा त्वयि रेत आसिञ्चतु प्रक्षिपतु। धाता पुनः सूत्रात्मा ते तव गर्भं त्वदात्मना स्थित्वा दधातु धारयतु पुष्णातु। दशार्हदेवता सिनीवाली तस्या विशेषणं पृथुष्टुके पृथुविस्तीर्णा स्तुतिर्यस्या सा पृथुष्टुका त्वदात्मना वर्तमाना तस्याः सम्बुद्धिर्हे पृथुष्टुके! सिनीवालि गर्भं धेहि धारय। अश्विनौ देवौ तव गर्भं मदात्मना स्थित्वाऽऽधत्तां गर्भाधानं कुरुताम् ॥ २१ ॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी । वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥ २२ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—ज्योतिर्मयी अरणी प्रागासतुर्याभ्यामरणीभ्यां पुरा-मृतरूपं गर्भमश्विनौ देवभिषजौ निर्मन्थतां मथितवन्तौ। तं तथाभूतं गर्भं ते तव जठरे हवामहे दधामहे दशमे मासि सूतये प्रसवार्थमित्यर्थः। एवमाधीयमानं गर्भं दृष्टान्तेन दर्शयति—यथा पृथिवी अग्निगर्भा यथा वा द्यौर्द्युलोक इन्द्रेण सूर्येण गर्भिणी। यथा वा दिशां वायुर्गर्भ एवं गर्भं ते तव दधामि असावहमिति स्वात्मनो नाम गृह्णाति भार्याया वाऽन्त इत्यर्थः ॥ २२ ॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरां सहेति ॥ २३ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—प्रसवकाले सोष्यन्तीं प्रसवं प्राप्नुवन्तीं भार्यां भर्ता मन्त्राभ्यामद्भिः कृत्वाऽभ्युक्षति। तदाह—यथाऽयं वायुः पुष्करिणीं तडागं सर्वतः समिञ्जयति स्वरूपोपघातमकृत्वा चालयति एवा एवमेव ते गर्भ एजतु चलतु जरायुणा गर्भवेष्टनचर्मणा मांसपेशीलक्षणेन सहावैतु निर्गच्छतु। इन्द्रस्य प्राणस्य गर्भस्य वाऽयं योन्यात्मको व्रजो मार्गः सार्गलः सर्गकाले गर्भाधानकाले वाऽर्गलया निरोधेन सहवर्तमानः कृतः सपरिश्रयः परिश्रयेण परिवेष्टनेन जरायुणा सहितः। तं मार्गं प्राप्य हे इन्द्र ! प्राणप्रसूतिमारुतात्मंस्त्वं गर्भेण सह निर्जहि निर्गच्छ निःसरणानन्तरं निर्गम्यमाना मांसपेशी सावरा तां च निर्गमयेत्यर्थः ॥ २३ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले पति गर्भाधान करे, पश्चात् पति पत्नीसे कहे कि हे प्रिये, परमेश्वर तुझे गर्भ धारणकी सामर्थ्य दे। जिस प्रकार ज्योतिर्मयी अरणी मथन करनेसे तेजस्वी अग्निको उत्पन्न करती है इसी प्रकार तेरा पुत्र तेजस्वी हो। जैसे पृथिवी अग्निसे गर्भवती होती है, और जिस तरह द्यौ सूर्यसे गर्भधारण करती

है, तथा जिस प्रकार दिशाओंका वायु गर्भ है इसी प्रकार मुझसे तूभी गर्भवती हो। इसके बाद प्रसवकालमें पुरुष स्त्री पर जल छिड़ककर प्रभुसे प्रार्थना करे कि हे प्रभो ! जिस प्रकार वायु तालाबके पानीको चारों ओरसे चलाता है उसी प्रकार इसके प्रसवके समय गर्भ निर्विघ्न, निरक्षत, निरायास जरायुके साथ बाहर आवे ॥ २३ ॥

अब प्रसवकालिक हवनका विधान किया जाता है, यथा—

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसंद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसाजुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥ २४ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] पुत्रे जाते सति पिता तमङ्क उत्सङ्क आधाय संस्थाप्याग्निमुपसमाधाय कंसे कांस्यपात्रे पृषदाज्यं दधिमिश्रितं घृतं संनीयावस्थाप्यपृषदाज्यस्यापघातं पृषदाज्यमुपहत्योपहत्य स्वल्पं स्वल्पं गृहीत्वा जुहोति। तन्मन्त्रानाह—अस्मिन् स्वे गृहेऽहमेव पुत्ररूपेणैधमानो वर्द्धमानो मनुष्याणां सहस्रं पुष्यासमनेकपोषको भूयासम्। अस्य मत्पुत्रस्योपसन्द्यां सन्ततौ प्रजया पशुभिश्च सह श्रीर्मा च्छैत्सीन्मा विच्छिन्नाभूत्स्वाहेति होमः। मयि पितरि ये प्राणाः सन्ति तान्प्राणांस्त्वयि पुत्रे मनसा जुहोमि समर्पयामि स्वाहेति प्रधानं कर्म कृत्वा प्रकृतेन कर्मणा कृतेन यदत्यरीरिचमतिरिक्तं कृतवानस्मि। यद्वा इह कर्मणि किञ्चिन्न्यूनमकरमकरवं तत्सर्वं विद्वानग्निः स्विष्टं करोति इति स्विष्टकृत् भूत्वा, स्विष्टमनधिकं सुहुतमन्यूनं च नोऽस्माकं करोतु स्वाहेति ॥ २४ ॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्य ऐसी प्रार्थना करे कि इस घरमें पुत्रके साथ वृद्धिको प्राप्त होकर मैं हजारों मनुष्योंका पोषक बनूँ। इस मेरे पुत्रकी सन्ततिरूप प्रजा तथा पशुरूप श्री कभी भी विच्छेदको प्राप्त न हो। ये हैं प्रार्थनायें, जिनके करनेके अनन्तर अग्निमें आहुति देनी चाहिये। फिर अन्तमें यह कहे कि मैंने जो कर्म किया है, इसमें जो कमी रह गई हो उसको प्रभु पूर्ण करें। फिर इसके बाद स्विष्टकृत् आहुति दे ॥ २४ ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतꣳ संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥ २५ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] अथ स्विष्टकृद्धोमानन्तरमस्य शिशोर्दक्षिणं कर्णं पिता स्वमुखे निधाय त्रयीलक्षणा वाक्त्वपि प्रविशत्वित्यभिप्रायवान् वाग्वागिति त्रिवारं जपति। अथानन्तरं दधि मधु घृतं सन्नीयैकीकृत्यानन्तर्हितेन वस्त्वन्तराव्यवहितेन जातरूपेण हिरण्येन प्राशयति भूस्त्वयि दधामीत्यादि चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रत्येकम् ॥ २५ ॥

वि० वि० भाष्य—इस स्विष्टकृत् कर्मके अनन्तर पिता बालकके दाहिने कानमें यह कथन करे कि "कर्म उपासना तथा ज्ञानरूप वेदोंकी वाणी तुझमें प्रविष्ट हो" इस वाक्यको तीन वार पढकर दही, मधु तथा घृत मिलाकर सुवर्णकी सलाईसे बालकको चटावे। चटाता हुआ यह वाक्य बोले कि 'भूस्ते दधामि' [मैं तुझमें प्राण धारण करता हूँ], 'भुवस्ते दधामि' [मैं तुझमें अपान धारण करता हूँ], 'स्वस्ते दधामि' [मैं तुझमें व्यानका धारण करता हूँ] और 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि' [मैं तुझमें सब प्राणोंका धारण करता हूँ] ॥ २५ ॥

अब पिता द्वारा बालकका नाम धारण करना कहा जाता है, यथा—

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें] अथानन्तरमस्य शिशोर्नाम करोति वेदोऽसीति, वेदोऽनुभवः सर्वस्य निजं रूपं परमात्मलक्षणमसीति तदेतन्नामास्य शिशोर्गुह्यं गोप्यं भवति ॥ २६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे पुत्र! 'त्वं वेदोऽसि' तू वेद है—आत्मस्वरूप परमात्मा है। यह बालकका गुप्त नाम होता है। जो कोई 'त्वं वेदोऽसि' इस वाक्यका यह अर्थ करते हैं कि 'तू वेद है यानी तेरा उद्देश्य वेद पढना और वैदिकधर्मकी रक्षा करना है' वे भेदवादी हैं। भेद तो सिद्ध ही है, शास्त्रको अज्ञातज्ञापकता होती है। भेद तो लोकव्यवहारतः ज्ञात ही है, शास्त्र ऐसी बात बोधन करता है जो अज्ञात हो। अतः भेदवादानुसार अर्थमें अप्रामाण्य है ॥ २६ ॥

स्तनपानविषयक प्रार्थना कहते हैं, यथा—

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रा । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—अथानन्तरमेनं स्वाङ्कस्थं पुत्रं तन्मात्रे प्रदाय तस्याः स्तनं पिता पुत्रस्य मुखे प्रयच्छति । तन्मन्त्रमाह—हे सरस्वति ! यस्ते स्तनः शशयः शयः कर्मफलं शेतेऽस्मिन्वर्तेति व्युत्पत्तेस्तेन सह वर्तत इति शशयः । यद्वा शं सुखं तस्य हेतुभूतं शयः स्थितिः स्थानं स्तनोत्थानदेशरूपं यस्य स्तनस्य स शशयः । अस्मिन्पक्षे नाक्षरव्यत्यासः । मयः सुखं भूर्भावयतीयि मयोभूः । यद्वा मयोभूः सर्वं प्राणिनां स्थितिहेत्वन्नरूपेण जातो यो रत्नधा रत्नानां धनानां दाता । यद्वा रत्नस्य रमणीयस्यान्नस्य पयशश्च धाता । वसु कर्मफलं तद्विन्दतीति वसुविद्यः । सुष्ठु ददातीति सुदत्रः कल्याणदः । तेन स्तनेन विश्वा विश्वानि वार्याणि वरणीयानि देवादि भूतानि त्वं पुष्यसि तं स्तनं मदीयपुत्रस्य धातवे पानायेह मदीयभार्यास्तने प्रविष्टा सत्यकरकरोः कृतवत्यसि प्रयच्छेति यावत् ॥ २७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सरस्वति, जो यह स्तन सुखप्रद है एवं सुखरूप है, जिससे मनुष्यादि रत्न पुष्ट होते हैं, जो धनका दाता है तथा कल्याणकारी है, वह आपकी कृपासे मेरे पुत्रके लिए हो ॥ २७ ॥

अन्तमें पति स्त्रीको आशीर्वाद देता है, यह कहते हैं, यथा—

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते, इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥ २८ ॥

भावार्थ—[संस्कृतमें]—अथानन्तरमस्य पुत्रस्य मातरमभिमन्त्रयते । तन्मन्त्रमाह—इला भोग्यासि । मित्रावरुणाभ्यां सम्भूतो मैत्रावरुणो वसिष्ठस्तस्य भार्या

मैत्रावरुणी, हे मैत्रावरुणि ! अरुन्धति ! वीरे पुरुषे मयि निमित्तभूते सति भवती वीरं पुत्रमजीजनज्जनितवती सा त्वं वीरवती जीवद्बहुपुत्रा भव। या भवत्यस्मान् वीरवतः पुत्रसम्पन्नानकरदकरोत्कृतवतीति। एवं मन्त्रवद्गर्भाधानादौ कृते सति किं स्यादित्यत आह—तं वा एवमुक्तविधिनोत्पन्नं पुत्रमाहुः। किमसौ पितरमतीत्याभूर्वर्तत इत्यतिपिता वत विस्मयोऽभूः। तथा पितामहमती त्याभूर्वर्तत इत्यतिपितामहो बताभूः। कैरित्यत आह—श्रिया लक्ष्म्या यशसा कीर्त्या ब्रह्मवर्चसेन ब्रह्मतेजसा च परमां काष्ठां बताहो प्रापदिति स्तुत्यो भवतीत्यर्थः। न केवलं पुत्र एवापि तु यस्यैवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायते स पिताऽप्येवं स्तुत्यो भवतीति शेषः ॥ २८ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे प्रिये, तूने इस वीर पुत्रको उत्पन्न किया है, इसलिए तू वीरतासे जीवित रहकर अनेक वीर पुत्रोंको उत्पन्न कर और यह पुत्र, पिता पितामहसे भी श्री, यश तथा ब्रह्मतेजमें बढ़कर हो। जिस विद्वान्के घर योग्य पुत्र होता है, उस पिताको धन्य है। वह स्तुति करने योग्य यानी प्रशंसास्पद है जिसने उक्त संस्कारोंसे पुत्ररत्न उत्पन्न किया है।

इस छठे अध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणमें विवाहसे लेकर पुत्रोत्पत्ति पर्यन्त कर्मका वर्णन किया गया है। जिस मनुष्यशरीरसे सब कुछ साध्य होता है, उसकी उत्पत्ति का प्रकार न दिखाया जाता तो भारी त्रुटि रह जाती। इस ब्राह्मणमें स्त्रीपुरुष-सम्बन्ध तथा उनकी पुत्रोत्पादनकी क्रियाविधि स्पष्ट दिखाई गई है। केवल पति पत्नीके उपयोगी और साधारण मुमुक्षुओंके अनुपयोगी इस ब्राह्मणका यहाँ हिन्दी अनुवाद नहीं किया, संस्कृतमें 'मिताक्षरा वृत्ति' व्याख्या कर दी है, जिसे संस्कृतज्ञ कर्मकाण्डी समझ सकेंगे। साथ ही 'विद्याविनोद' भाष्यमें प्रत्येक मन्त्रकी संगति दी गई है, जिसमें कहीं भाव दिखाया है, कहीं प्रकरणमात्र लगा दिया है।

सबको शरीर प्रिय है, अतः सब कोई इसे ही सर्वस्व न मान बैठें इसीसे इसकी उत्पत्ति दिखा दी गई है। यह इस लिए कि इसकी सब अनित्यता समझमें आजायं ॥ २८ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

अब उक्त विद्याके ज्ञाताओंकी वंशपरंपराका वर्णन करते हैं, यथा—

अथ वꣳशः । पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १ ॥

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रो वैदभृतीपुत्राद्वैदभृती-

पुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥२॥

याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्ययोगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥ ३ ॥

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्थविज्ञानको निम्नलिखित संप्रदायपरंपराके क्रमसे एक ऋषिने अपर ऋषिसे प्राप्त किया है। यथा—

१—पौतिमाषीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे,
२—कात्यायनीपुत्रने गौतमीपुत्रसे,
३—गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे,
४—भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे,
५—पाराशरीपुत्रने औपस्वस्तीपुत्रसे,
६—औपस्वस्तीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे,
७—पाराशरीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे,
८—कात्यायनीपुत्रने कौशिकीपुत्रसे,
९—कौशिकीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे,
तथा वैयाघ्रपदीपुत्रसे,

१०—वैयाघ्रपदीपुत्रने काण्वीपुत्रसे, और कापीपुत्रसे,
११—कापीपुत्रने आत्रेयीपुत्रसे,
१२—आत्रेयीपुत्रने गौतमीपुत्रसे,
१३—गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे,
१४—भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे,
१५—पाराशरीपुत्रने वात्सीपुत्रसे,
१६—वात्सीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे,
१७—पाराशरीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे,
१८—वार्कारुणीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे,
१९—वार्कारुणीपुत्रने आर्तभागीपुत्रसे,
२०—आर्तभागीपुत्रने शौङ्गीपुत्रसे,
२१—शौङ्गीपुत्रने साङ्कृतिपुत्रसे,
२२—साङ्कृतिपुत्रने आलम्बायनीपुत्रसे,
२३—आलम्बायनीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे,
२४—आलम्बीपुत्रने जायन्तीपुत्रसे,
२५—जायन्तीपुत्रने माण्डूकायनीपुत्रसे,
२६—माण्डूकायनीपुत्रने माण्डूकीपुत्रसे,
२७—माण्डूकीपुत्रने शाण्डिलीपुत्रसे,
२८—शाण्डिलीपुत्रने राथीतरीपुत्रसे,
२९—राथीतरीपुत्रने भालुकीपुत्रसे,
३०—भालुकीपुत्रने दो क्रौञ्चिकीपुत्रोंसे,
३१—दोनों क्रौञ्चिकीपुत्रोंने वैदभृतीपुत्रसे,
३२—वैदभृतीपुत्रने कार्शकेयीपुत्रसे,
३३—कार्शकेयीपुत्रने प्राचीनयोगीपुत्रसे,
३४—प्राचीनयोगीपुत्रने साञ्जीवीपुत्रसे,
३५—साञ्जीवीपुत्रने आसुरीवासीप्राश्नीपुत्रसे,
३६—प्राश्नीपुत्रने आसुरायणसे,
३७—आसुरायणने आसुरीसे,
३८—आसुरीने याज्ञवल्क्यसे,
३९—याज्ञवल्क्यने उद्दालकसे,
४०—उद्दालकने अरुणसे,
४१—अरुणने उपनिवेशिसे,
४२—उपनिवेशिने कुश्रिसे,
४३—कुश्रिने वाजश्रवासे,
४४—वाजश्रवाने जिह्वावान् वाध्योगसे,
४५-जिह्वावान् बाध्योगने असित वार्षगणसे,
४६—असित वार्षगणने हरित कश्यपसे,
४७—हरित कश्यपने शिल्प कश्यपसे,
४८—शिल्प कश्यपने कश्यप नैध्रुविसे,
४९—कश्यप नैध्रुविने वाक्‌से,
५०—वाक्‌ने अम्भिणीसे,
५१—अम्भिणीने आदित्यसे यह विद्या प्राप्त की।

इस लिए ये आदित्य द्वारा प्राप्त हुई शुक्ल यजुःश्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गई हैं।

यह वंशपरंपरा साञ्जीवीपुत्र तक समान है, यानी साञ्जीवीपुत्र पर्यन्त यह एक ही वंश है। उक्त विज्ञानको प्राप्त करनेवाली दूसरी परंपरा सांजीवीपुत्रसे इस प्रकार चलती है—

१—साञ्जीवीपुत्रने माण्डूकायनिसे,
२—माण्डूकायनिने माण्डव्यसे,
३—माण्डव्यने कौत्ससे,
४—कौत्सने माहित्थिसे,
५—माहित्थिने वामकक्षायणसे,
६—वामकक्षायणने शाण्डिल्यसे,

७—शाण्डिल्यने वात्स्यसे,
८—वात्स्यने कुश्रिसे,
९—कुश्रिने यज्ञवचा राजस्तम्बायनसे,
१०—यज्ञवचा राजस्तम्बायनने तुरकावषेयसे,
११—तुरकावषेयने प्रजापतिसे और

प्रजापतिने ब्रह्मसे [ब्रह्मासे] यह विद्या प्राप्त की। ब्रह्म स्वयम्भु है, उस ब्रह्मको नमस्कार है ॥ १—४ ॥

वि० वि० भाष्य—उक्त मन्त्रोंमें समस्त प्रवचनका वंश कहा है। यहाँ स्त्रीके प्रति किये जानेवाले कर्मकी प्रधानता होनेके कारण गुणवान् पुत्र होता है; यह प्रसङ्ग है। अतः स्त्रीविशेषणसे ही पुत्रका गोत्र बतलाते हुए आचार्यपरंपराका कथन किया गया है ॥ १-४ ॥

स्वयम्भु ब्रह्मको नमस्कार है।
उसके अनुवर्ती गुरुओंको भी नमस्कार है।

षष्ठ अध्याय और पञ्चम ब्राह्मण समाप्त।

बृहदारण्यकोपनिषद् समाप्त।